वैष्णवों से वार्ता

बलराम

नीलकंठ प्रकाशन
नई दिल्ली 30

वार्ताओ से पहले

एक आत्मालाप

वार्तालाप के बारे में

मानव संसाधन विकास मंत्रालय के केंद्रीय हिंदी निदेशालय ने जब खाकसार को हिंदीतरभाषी हिंदी लेखक शिविर, राजकोट (गुजरात) का मार्गदर्शक साहित्यकार चुना तो वहां जाने का अतिरिक्त लाभ सौराष्ट्र यात्रा का दिखाई दिया। हालांकि एक बार समांतर लेखक सम्मेलन में भुज तक जा चुका था, लेकिन तब सौराष्ट्र की विधिवत यात्रा नहीं हो सकी थी। एक हफ्ते के शिविर के उपरांत हमने एक सप्ताह पारिवारिक यात्रा के लिए तय कर लिया था, लेकिन शिविर के संयोजक जनार्दन पंड्या और प्रबधक रतिभाई कक्कड़ ने हमे शिविरार्थियो के साथ सौराष्ट्र की एक 'फ्लाइंग यात्रा' पहले ही करवा दी और शायद ठीक ही करवा दी, अन्यथा अजय श्रीवास्तव के साथ हुई पारिवारिक यात्रा में गिरनार की हजारो-हजार सीढियां तो हम लोग चढ़ गए, मगर शारीरिक बदहाली और समयाभाव के कारण जूनागढ़ के कई दर्शनीय स्थल नहीं देख सके। जो स्थल छूटे, उनमे नरसिह मेहता का मंदिर भी था। शिविरार्थियों के साथ हुई सौराष्ट्र यात्रा में तो हमसे जूनागढ़ ही छूटा जा रहा था, किंतु आभार शिविर के दूसरे साहित्यिक मार्गदर्शक हरिमोहन (हिंदी विभागाध्यक्ष, गढ़वाल विश्वविद्यालय) का, जिन्होंने लगभग जिद करके राजकोट जा रही वैन से रात आठ बजे हमें जूनागढ़ उतार लिया और अगले दिन वहां के सभी दर्शनीय स्थल दिखा दिए। बस, गिरनार की चढाई से वे घबरा गए और ठीक ही घबरा गए, नहीं तो पर्वत से उतरकर परिवार को राजकोट रेलवे स्टेशन पर रिसीव करने लायक हम नहीं रहते, जैसा कि बाद मे परिवार के साथ गिरनार की चढाई के बाद जूनागढ़ के अनेक दर्शनीय स्थल देखने-दिखाने लायक हम नहीं ही रह गए थे। इस तरह डॉ. हरिमोहन और मेरे पारिवारिक जन चाहे जूनागढ़ की यात्रा का एकतरफा आनंद ही ले सके, लेकिन मेरे तो दोनों ही हाथों में लड्डू रहे और यात्रा कोई भी हो, मनुष्य को देती ही देती

है मानसिक खुराक से लेकर आध्यात्मिक सुख और भावात्मक संतोष तक गिरनार की चढ़ाई से पचास की ओर बढ़ती काया को जहां अपनी सामर्थ्य का नया एहसास हुआ, वहीं लेखक-मन में सौराष्ट्र यात्रा को आधार बनाकर उपन्यास लिखने का स्वप्न सरसराया, गोविंद मिश्र के उपन्यास 'धीर समीरे' जैसा, और भेंटवार्ताओं की किताब का नाम भी वहीं पर सूझ गया : 'वैष्णवों से वार्ता'। यह नाम सूझा पंद्रहवीं सदी के गुजराती कवि नरसिंह मेहता के मंदिर के प्रांगण में। और तब सहसा याद आए थे अरविंद आशधीर, जिन्होंने बिना किसी परिचय के मुझे इस योजना में शामिल किया था। जोड़-तोड़ और ले-दे के इस युग में ऐसे अधिकारी अब कहां मिलते हैं? कई मित्रों के पदारूढ़ होने के बावजूद कभी हिंदी निदेशालय ने याद नहीं किया। सो, आशधीर के आमंत्रण से सुखद आश्चर्य हुआ था। इस आमंत्रण ने हमें राजकोट और पोरबंदर जैसे महात्मा गांधी के जन्म और शिक्षा स्थल तो दिखाए ही, द्वारका और सोमनाथ जैसे पौराणिक-ऐतिहासिक स्थल भी दिखा दिए, जहां कृष्ण के जीवन का उत्तरार्द्ध बीता और अंत में जहां उनको बहेलिये का बाण लगा और जहां अर्जुन ने उनकी अंत्येष्टि की और ... और हम तो दीव के खूबसूरत समुद्र तट पर विचरण भी कर आए। चेन्नई, पांडिचेरी, रामेश्वरम्, कन्याकुमारी, पुरी और गोवा के समुद्र तटों के बाद द्वारका, पोरबंदर सोमनाथ और दीव के समुद्र तट। गोवा के बाद शायद दीव का समुद्र तट ही इतना सुंदर और इतना मोहक है या कहते हैं कि केरल का कोवलम इससे भी सुंदर है? बहरहाल, अपनी सौराष्ट्र यात्रा में जूनागढ़ के अनेक दर्शनीय स्थलों को देखने के साथ हम गिरनार यात्रा कर पर्वतारोहण का आनंद भी ले आए। इस आयोजन को शिविर निदेशक एस.पी. शर्मा (हिंदी विभागाध्यक्ष, सौराष्ट्र विश्वविद्यालय) लगातार वैचारिक ऊर्जा प्रदान करते रहे। एक हफ्ते तक लगता रहा कि जैसे राजकोट में एक पूरा लघुभारत आ जुटा है। शिविर में आए हिंदीतर प्रदेशों के हिंदी लेखकों से बातचीत करते हुए भारत की विविधता में एकता के दर्शन भी हमें लगातार होते रहे।

"वैष्णव कौन है?" किसी ने नरसिंह मेहता से प्रश्नों के क्रम में किसी दिन पूछ लिया तो उन्होंने अपना वह प्रसिद्ध पद गा दिया था : "वैष्णव जन तो तेने कहिए जे पीड़ पराई जाणे रे। पर-दुखे उपकार करे तो मन अभिमान न आणे रे..." गुजराती के नरसिंह मेहता की ये पंक्तियां अब हिंदी की अपनी धरोहर जैसी लगती हैं, जैसे राजस्थान की मीरा के पद हिंदी और गुजराती की साझी संपत्ति लगते हैं और कई अर्थों में वे हैं भी। भारतीय भाषाओं का यह सहज आदान-प्रदान ही हमें सच्ची और सही भारतीयता का भाव सौंपता है, जिसके प्रमाण स्वरूप नरसिंह मेहता का

वैष्णव जन वाला पद निसकोच रखा जा सकता है भारत के स्वाधीनता सघर्ष के दौरान महात्मा गांधी ने अपनी मातृभाषा के कवि के इस पद को अपनाकर भारत के जन-जन का कंठहार बना दिया था और अपनी दोहरी सौराष्ट्र यात्रा मे हमने पाया कि हिंदी और गुजराती में कही भी कोई अलगाव नहीं है, जैसे पंजाब मे हिंदी और पंजाबी के बीच, जम्मू-कश्मीर में हिंदी, डोगरी और उर्दू के बीच कोई अलगाव नहीं दिखता। महाराष्ट्र, गोवा, राजस्थान, उड़ीसा, बंगाल, असम, आध्र, कर्नाटक, केरल और तमिलनाडु की अपनी यात्राओ में भी मुझे कोई अलगाव कहीं नहीं दिखा। सब जगह प्राय. लोग हिंदी समझ और बोल लेते हैं। इसलिए जब अहिंदीभाषी हिंदी लेखक कहे जाने का विरोध लेखकों ने किया तो मुझे ठीक लगा और उन्हें हिंदीतरभाषी हिंदी लेखक कहना ज्यादा सही लगा ओर यह भी लगा कि नरसिंह मेहता द्वारा प्रयुक्त 'वैष्णव' शब्द हम सभी संस्कृतिकर्मियो पर चस्पां कर सकते है, विदेशी संस्कृतिकर्मियों पर भी, क्योंकि इसका प्रयोग अपने पद में नरसिंह मेहता ने किसी सीमित सांप्रदायिक अर्थ मे नहीं किया था। उनकी नजर से शैव और शाक्त संप्रदाय ओझल रहे होंगे, हम यह नहीं कहते हिदू-मुसलमान का द्वंद्व भी उनके समक्ष उपस्थित रहा हो सकता है, पर उन्होने अच्छे मनुष्य का सामान्यीकरण 'वैष्णव जन' के रूप में किया और कुछ गलत नहीं किया, जिसे बाद में महात्मा गांधी ने बेहिचक स्वीकार कर लिया, महात्मा गाधी के साथ लगभग पूरे देश ने। सो, समय-समय पर संस्कृतिकर्मियों से हुई अपनी वार्ताओं को अगर 'वैष्णवों से वार्ता' नाम हमने दे दिया तो कुछ गलत नहीं किया जैसी कि कुछ मित्रो को आशंका है।

उन्हे तो यह भी आशंका है कि इसे कहीं 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' से न जोड दिया जाए। हिंदी के इतिहास में दर्ज उस किताब की खोज-खबर और चर्चा अगर इस बहाने से भी होती रहे तो इसमें भी बुरा क्या है? वैसे भी इस किताब में मेरा क्या है, मेरा तो सिर्फ सूत्र है, जिसमें कुछ वैष्णवों ने बंध जाने की कृपा की है। उनकी कृपा ही इस किताब का आधार है, बाकी किसी और बात से मेरा सरोकार नहीं है। मेरा सरोकार तो बस वैष्णव जनों के समक्ष उपस्थित होकर उनसे आपकी वार्ता करवा देने तक सीमित है, उनसे भी, जो अब इस संसार मे उपस्थित नहीं भी है। पराई पीर को सुनने-समझने और उसे वाणी देने का काम ही तो करते हैं सस्कृतिकर्मी। उस अभिव्यक्ति में उनके अपने 'निज' की पीर भी शामिल हो सकती है, भले ही वैसी अभिव्यक्ति को बहुत ऊंचा दर्जा हासिल न हो इस तर्क से लेकिन हम वैसे लेखकों के सृजन को कमतर नहीं कह सकते। फिर तो हमें दलित साहित्य की अधिकांश कृतियों को निचले दर्जे की कृतियां कहना

पडेगा जो गलत होगा गहरे मे उतरकर देखे तो गोदान त्यागपत्र शेखर या अक्करमाशी' आदि सब में मनुष्य-मन की पीड़ा का ही अंकन हुआ है, अंतर है तो सिर्फ लेखकों के वर्ग का और सोचने-समझने के स्तर का। अपने-अपने तरीके से दोनों ही तरह के लोग संघर्ष कर रहे होते हैं, कभी अपनों से, कभी परायों से और कभी-कभी अपने आपसे भी। बड़ा मन था कि इस संघर्ष को अलग-अलग वर्गों से उभरे लोगों के माध्यम से आपके सामने रखूं, पर योजना बनाकर वैसा काम करने का कोई अवसर कभी हाथ आया ही नहीं और जो अवसर हाथ आए वे भी अवसरवाद के शिकार हो गए। कुछ ही लोगों से अंतरंग वार्तालाप के अवसर सुलभ हुए, मगर वैसी वार्ताओं को बहुजन तक हूबहू पहुंचा पाने के साधन अब न्यून से न्यूनतम होते जा रहे हैं। ऐसे लोग भी अब कम से कमतर हो रहे है जिन्होंने वह स्तर प्राप्त किया हो, जिनसे वार्तालाप का कोई अर्थ हो। वार्तालाप पढ़कर लगना चाहिए कि हमने कुछ सार्थक पढ़ा और कुछ ऐसा जाना, जो इसके पहले जानते नहीं थे। जानते थे तो समझते नहीं थे और समझते थे तो इस तरह नहीं समझते थे, जिस तरह यह वार्तालाप पढकर समझे हैं।

वार्तालाप पाठकों को यदि सिर्फ जानकार बनाए तो यह उसका एक गुण भले ही हो, लेकिन कोई बहुत बडा गुण नहीं होगा, बड़ा गुण यह होगा कि वह पाठक को समझदार बनाए। कोई वार्तालाप यह काम कर सके, तभी हम कह सकते हैं कि उसने कृति का दर्जा पा लिया है, एक ऐसी कृति, जो कृतिकार की कुछ बंद खिडकियां तो खोले ही, पाठक की भी कुछ बंद खिड़कियां वार्तालाप से खुल जाएं और फिर खुली ही रहें, जिनसे पाठक को नित-निरंतर ताजा हवा के झोके मिलते रहें। यह काम सार्थक रचनाएं भी मुश्किल से ही कर पाती हैं, किसी वार्तालाप के लिए तो यह काम और भी मुश्किल है, लेकिन मुश्किलें न हों तो फिर किसी काम की अहमियत ही क्या है। हिंदी में ढेर सारी भेंटवार्ताएं होती और छपती रहती हैं, बल्कि अब तो मुझे यह भी लगने लगा है कि अनेक लेखक और पत्रकार भेंटवार्ताओं के बल पर ही 'अपना समय' काट रहे है, जिनमें संजोकर रखने और एकाधिक बार पढ़ने के लिए आकर्षित कर सकने लायक वार्ताएं तो इक्का-दुक्का ही होती हैं, अधिकांशतः पल दो पल की मेहमान, ज्यों जीवन-समुद्र मे गिरनेवाली अनंत बूंदें, जिनमें से कुछ को ही मोती बन पाने का सौभाग्य प्राप्त होता है। वैसी नामवर सीपें भी कम ही होती हैं, जिनके मुंह से मोती ही मोती झरकर 'नामवर के विमर्श' (सुधीश पचौरी) बनते हों या 'बातों-बातों में' मनोहरश्याम जोशी कोई 'नागार्जुन रहस्य' खोल लेते हों या दोस्त हशमत (कृष्णा सोबती) के हमराज हो उठते हों। हिंदी वार्ताओं के रोजनामचे में ऐसा होते भी कम ही

देखा सुना गया कि औरो के बहाने से राजेन्द्र यादव की तरह लोगो ने अपना कद कुछ और ऊंचा कर लिया हो या कमलेश्वर की तरह 'परिक्रमा' करके भेटवार्ताओं के इतिहास-पुरुष के रूप में नाम दर्ज करा लिया हो। विनोद दुआ या शेखर सुमन की तरह लोगों से दो-दो हाथ करते भी वार्ताकार प्राय नजर नही आते, शायद इसीलिए इतिहास की किताबों से वे नजरंदाज हो जाते हैं।

नामवर सिंह या राजेन्द्र यादव अच्छी कविता-कहानी के प्रतिमान बताए लेकिन वैसी रचना खुद न दे पाएं तो उन्हे दृष्टि-दोष का शिकार या अक्षम नही कह सकते। रचना की ऊंचाइयों को जानना-समझना एक दुर्लभ गुण है और उन ऊचाइयो का स्पर्श करना एक दूसरा बड़ा गुण है। पहले गुण का स्वामी उच्च कोटि का आलोचक और दूसरे गुण का स्वामी उच्च कोटि का सर्जक ठहरता है। हजारीप्रसाद द्विवेदी में दोनों ही गुण थे। इसीलिए वे नामवर सिंह के गुरू तो थे ही मनोहरश्याम जोशी के भी गुरू थे। इस कोटि में कुंवर नारायण, रमेशचद शाह, विजयमोहन सिंह, प्रभाकर श्रोत्रिय, कृष्ण कुमार और गिरधर राठी भी शुमार हो सकते हैं। यों नामवर सिंह या राजेन्द्र यादव हो पाना भी आसान नहीं है ओर रामविलास शर्मा... उनका तो कोई सानी ही नहीं, लेकिन उन्हे दूसरा हजारीप्रसाद द्विवेदी नही कह सकते, न दूसरा रामचंद्र शुक्ल। वे तो बस, अपने सानी आप थे।

'धर्मयुग' छोड़कर पत्रकार सतीश वर्मा ने 'बोरीबंदर' का प्रकाशन शुरू किया था। खाकसार को सहायक संपादक बनाना चाहते थे। बुलाया तो पहली बार मुंबई गया, जहां महावीर अधिकारी ने 'करंट' के लिए सहायक संपादक का पद ऑफर कर दिया। 'करंट' ज्वाइन करूं या 'बोरीबंदर', मैं दुविधा में फंस गया। धर्मवीर भारती से सलाह लेने उनके दफ्तर गया, पर समय के नियम में बधे भारतीजी ने दर्शन के लिए भेजी गई मेरी चिट का कोई नोटिस ही नहीं लिया तो झुझलाकर सीधे रेलवे स्टेशन आया और कानपुर की तरफ जाती जो भी गाडी दिखी,उसी में बैठ गया और जब तक प्रकृतिस्थ होऊं, ट्रेन जलगांव पहुंच गई थी। जाने क्या सोचकर वहीं पर उतर गया और शंकर पुणतांबेकर के घर पहुंचकर सारा वृत्तात उन्हें सुना दिया। उन्होंने कानपुर वापस लौट जाने की सलाह दी क्योंकि जितनी पे ऑफर हुई थी, उससे मुंबई में गुजर-बसर मुश्किल थी हालांकि बाद में उससे भी कम पे पर 'सारिका' ज्वाइन कर ली, क्योंकि उस समय 'सारिका' में छपना हर लेखक का सपना हुआ करता था; मुझे तो वहा 'सर्विस' का अवसर मिल रहा था। यह तो बहुत बाद में पता चला कि बड़ी जगह पर एक बार को छोटा पद स्वीकार कर लेने के नुकसान क्या-क्या है, बल्कि मे तो कहूंगा कि नुकसान ही नुकसान हैं। छोटी जगह का बड़ा पद कालातर में बडी

जगह का बडा पद भी हो जा सकता है, पर बड़ी जगह का छोटा पद एक बार स्वीकार कर लेने के बाद सज्जन आदमी का पद अक्सर छोटा ही रह जाता है और दुर्जनलाल शिखर पर जा बैठते हैं। विडंबना यह भी कि सज्जन आदमी छोटे पद को त्याग कर प्रायः कहीं और जा भी नहीं पाते। इधर ग्लोबलाइजेशन ने निष्ठा, न्याय, नियम और नैतिकता की प्रतिष्ठा को 'चोटीवालो' के हाथों मटियामेट होने की प्रक्रिया को और तेज कर दिया है, जिससे सज्जनों और कर्मनिष्ठो का कोई महत्व ही नहीं रहा जा रहा। दिनोंदिन उनकी रीढ़ पर प्रहार बढ रहे हैं और प्रायः सब जगह चाटुकारों का बोलबाला हो रहा है। दुर्जनलालों के अट्टहास परिवेश को भय और प्रदूषण से भर रहे हैं। कलम और वाणी की स्वाधीनता तथा विवेक को गिरवी रखकर उन्होंने पत्रकारिता और प्रायः सभी संचार माध्यमो को कुबेरों के हवाले कर दिया है। आठवें-नवें दशक तक लेकिन ऐसा नहीं था। यह तो भूमंडलीकरण का प्रसाद है, गुलामी का मीठा-जहरीला स्वाद, जो धीरे-धीरे सारे स्वाद-आस्वाद खत्म कर रहा है। आगे का सफर देश और दुनिया को और भी भयावह एवं असह्य गुलामी सौंपने जा रहा है। सावधान!

राजेन्द्र माथुर 'नवभारत टाइम्स' में तब तक नहीं आए, जब तक कि उन्हे प्रधान संपादक का पद ही ऑफर नही हो गया। विद्यानिवास मिश्र भी प्रधान सपादक का पद लेकर ही आए थे। सुरेंद्रप्रताप सिंह या विष्णु खरे कुछ नीचे के पदो पर आए तो फिर प्रधान संपादक का पद उनके लिए 'दिल्ली दूर है' बना रह गया। रघुवीर सहाय और सर्वेश्वरदयाल सक्सेना प्रतिभा और योग्यता में बराबरी पर थे, लेकिन एक बार छोटा पद स्वीकार कर लेने के बाद सर्वेश्वरदयाल सक्सेना मरते मर गए, मगर संपादक का पद उनके लिए भी हसीन सपना ही बना रहा। श्रीकांत वर्मा, मलयज, प्रयाग शुक्ल, मंगलेश डबराल और राजकिशोर जैसी अनेक प्रतिभाए एक बार हल्के पद पर बैठीं तो फिर वे दुनिया के लिए चाहे जितनी बडी हो गई, मगर अपने दफ्तरों मे उनका पद वैसा ही रह गया, विधागत कद चाहे कितना ही बड़ा क्यों न हो गया हो। कहने का मतलब यह कि प्रतिभाशाली लोगो को अपनी पद-स्थापना में हड़बड़ी नहीं करनी चाहिए, वरना पूरा जीवन गड़बड़ाया ही रह जाता है, जैसे विवाह, वैसे ही नौकरी, जीवनभर के मामले है, जिनमें एक बार फंसा मनुष्य फिर आसानी से छूट नहीं पाता। छूटने के लिए कितना ही फडफड़ाए, किंतु तब तक पंख कट चुके होते हैं या फिर बहुत दिनों तक बिना उडे रह जाने के कारण उनमें उड़ सकने का साहस और बल नहीं रह जाता। यदि कोई पंछी उड़ भी जाए तो युवकोचित जोश और बल वह कहां से लाएगा? यो देखें तो इक्कीसवीं सदी को वैसे लोगों की जरूरत ही कहां है? सपादक का पद

अपनी सारी गरिमा और प्रतिष्ठा खोकर अब मैनेजीरियल पोस्ट भर रह गया है और उसकी योग्यता के मानदंड भी एकदम बदल गए हैं। अब मालिक जिसे भी चाहें, सपादक बना सकते है और वह हर तरह की वाजिब, गैरवाजिब 'लादी' ढोता रह सकता है। उपसपादको की हैसियत भी क्लर्कों-टाइपिस्टों से अधिक नहीं रही जा रही। उनके लिए अब रचनात्मक लेखन और पठन-पाठन तो दूर भाषा और साहित्य का समुचित ज्ञान तक अनावश्यक और व्यर्थ माना जा रहा है। अखबार आज टाटा-बाटा के कारोबार जैसे शुद्ध व्यवसाय हो गए हैं, जहां देश और दुनिया के बारे में सोचने, समझने और लिखने के लिए जगह न्यून से न्यूनतम हो रही है और पत्रकार, पत्रकार नहीं, विशुद्ध नौकर-चाकर होते चले जा रहे हैं। खाकसार जैसे कुछ लोग जरूर कशमकश में है, मगर करें क्या, यह नहीं समझ पा रहे। खुदा खैर करे।

हो गया न विषयांतर! फणीश्वरनाथ रेणु से भी ऐसा बार-बार होता था, पर विषयातर से प्रसंग भले ही अवांतर छिड़ जाते हों, लेकिन उनमें अक्सर पते की बाते भी हो जाया करती है। बहरहाल, बता यह रहा था कि सतीश वर्मा ने 'बोरीबंदर' के लिए रणजी रिकार्डधारी आनंद शुक्ला का इंटरव्यू कर देने का अनुरोध किया था और मैं उनका अनुरोध टाल नहीं पाया था, लेकिन मेरे ऐसे असाहित्यिक काम मित्रों को रास नहीं आते, किंतु 'भेंटवार्ता' जब एक विधा हो तो पत्रकारिता करते हुए ऐसे कामों से कब तक, कैसे और कितना बच सकते हैं?

कृष्णा सोबती ने शुरू से ही वार्तालाप को सशक्त विधा के तौर पर अपना कर हिंदी को 'हम हशमत' जैसा ग्रंथ दिया तो 'बातों-बातों में' मनोहरश्याम जोशी ने इस विधा को निजी भंगिमा सौप दी, जिसकी शुरुआत भले ही 1905 में श्रीचंद्रधर शर्मा गुलेरी ने गांधर्व महाविद्यालय, लाहौर के संस्थापक तथा अध्यक्ष पंडित विष्णु दिगबर पलुस्कर से हिंदी की पहली भेंटवार्ता करके की हो और पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश', बनारसीदास चतुर्वेदी, सत्येंद्र, बेनीमाधव, जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी चिरजीलाल, दिनकर, शिवदानसिंह चौहान, प्रभाकर माचवे, विष्णु प्रभाकर, रघुवीर सहाय, श्रीकांत वर्मा, कैलाश कल्पित, मलयज, अशोक वाजपेयी, वीरेंद्र, कमल गुप्त, कर्णसिंह चौहान, विजयबहादुर सिंह, अजय तिवारी, पुरुषोत्तम अग्रवाल मदन सोनी, उदयन वाजपेयी, सुरेश शर्मा, रूपसिंह चंदेल, संजीव श्रीवास्तव आदि ने विधा को पुष्ट किया हो तथा रणवीर रांग्रा अकादमिक वार्ताओं के लिए प्रसिद्ध हुए हों और राजनीतिज्ञों से वार्तालाप को कन्हैयालाल नंदन ने एक नई भगिमा देकर ऊ थांट जैसों तक से मनोहर वार्ताए की हो। प्रकाश मनु, राजकुमार गौतम तथा धीरेंन्द्र अस्थाना ने भी कुछ रचनात्मक वार्तालाप किए है। एक समय

ऊषा महाजन ने प्रसिद्ध पत्रकारो से भेटवार्ताए की थी जो बाद मे समय साक्षी के रूप में छपी। कमला प्रसाद की भेंटवार्ताएं 'वार्तालाप' नाम से आईं तो महेश दर्पण की 'कथन-उपकथन' नाम से। और अब तो 'मेरे साक्षात्कार' नाम से एक पुस्तक माला ही आ गई है, जिसमें अनेक लोगों से एक-एक व्यक्ति के कई-कई साक्षात्कार छपे हैं। इस रूप में देखें तो हिंदी गद्य की इस विधा ने पर्याप्त तरक्की कर डाली है। अब इसे पाठ्यक्रमों में शिक्षा बोर्डों और विषय सूचियों मे अकादमियों तथा प्रकाशकों द्वारा प्रतिष्ठित विधा का दर्जा देकर शामिल कर ही लिया जाना चाहिए, जिसकी शुरुआत 'किताबघर' ने कर ही दी है।

वैसे देखा जाए तो कविता की बजाय गद्य में कहीं ज्यादा विधाएं पनप और प्रतिष्ठित हो रही हैं। एक तरफ नागर जनों में हिंदी गद्य सिकुड़ रहा है तो दूसरी तरफ साहित्य रूपों में साहित्यिकों और पाठकों के बीच पनप भी रहा है। इधर अनेक यादगार सस्मरण और आत्मालाप छपे हैं और जो रुझान है, उससे तो लगता है कि साहित्य में विधाओं के परंपरागत ढांचे अब चरमराएंगे। इतिहास मे मिथक और मिथक में कल्पना का घालमेल होगा और देशी-विदेशी बुलफाइटिंग पाठकों को ऐसा रोमांच सौंपेगी, जो मुर्गों-तीतरों की परंपरागत फाइटिंग में सभव नहीं लगता, ग्लोबलाइजेशन का जमाना ठहरा! लेकिन वह संभव भी है, इसे प्रियंवद जैसे कथाकारों ने 'बोधिवृक्ष' जैसी कहानियों के जरिए प्रमाणित किया है भीष्म साहनी की 'वांग्चू', कामतानाथ की 'रिश्ते-नाते', शिवमूर्ति की 'भरतनाट्यम तथा संजीव की 'मानपत्र' जैसी कहानियां भी यह काम करती रही हैं, शायद आगे भी करें, पर फिलहाल सुरेश उनियाल की 'खोह' में उदय प्रकाश के 'सांड़' का धमाल देखिए और दूसरों के कमाल का इंतजार करते हुए 'नमोः अंधकारम्' पढिए और जितना बढ़ सकते हैं, आगे बढ़िए।

नागार्जुन, राजेन्द्र यादव, गिरिराज किशोर, हिमांशु जोशी, गंगाप्रसाद विमल, उत्पलेदु, विजयमोहन सिंह और रामकुमार शर्मा से हुई वार्ताओं ने मुझे रचनात्मक संतोष दिया है। ऐसे और भी कुछ लोगों से वार्तालाप करने की इच्छा है, संभव हो तो पूरे चौरासी लोगों से, ताकि अंततः 'चौरासी वैष्णवन की दूसरी वार्ता' संभव हो सके। मेरी कोशिश है कि कृष्णा सोबती और मनोहरश्याम जोशी की वार्ताओं की तरह मेरी वार्ताओं की भी अपनी खासियत हो, जो कुछ जोडे, कुछ तोड़े और निबंध से थोड़ा-सा तेज, कविता से कुछ भाव और कहानी से थोड़ी-सी सवेदना लेकर पाठक को बहुविध समृद्ध करे। यों भी भेंटवार्ता एक परजीवी विधा है, आलोचना की तरह, पर मेरी कोशिश है कि आलोचक की तरह वार्ताकार की छवि भी दमदार हो, वह भी नामवर हो सके। और हो सके

हैसियतदार। खुद्दार हो, कृष्णा सोबती की तरह और सहृदय हो, मलयज की तरह। गणेशजी के अवतार मनोहरश्याम जोशी की तरह लिक्खाड़ हो और जुक्तिजू हो कन्हैयालाल नंदन की तरह, जो ऊ थांट जैसों तक से कोई न कोई जुगत भिड़ाकर वार्तालाप का जुगाड़ कर ले। और पकड़ में आया व्यक्ति वार्ताकार के प्रश्न-प्रवाह में बहते हुए खुशी-खुशी पूरी तरह खुद को खोल कर सब कुछ बता दे, साहस और ईमानदारी के साथ। वार्ताकार की उत्तम कोटि ऐसी ही होती है, लेकिन हिंदी पत्रकारिता के पास फिलहाल कोई फेल्लाची नहीं है। खाकसार के खाके में वार्ता विधा के जो उत्कृष्ट रूप हैं, यहां पर उनका सिर्फ आरंभ हो पाया है, शिखर तो बहुत दूर हैं, किंतु इतनी दूर भी नहीं कि उन्हें छुआ ही न जा सके। उन्हें कौन छुएगा, कोई पत्रकार या कोई रचनाकार, कौन कह सकता है? भेंटवार्ता दरअसल आती पत्रकारिता के खाते में ही है, ज्यादा से ज्यादा आप इसे सांस्कृतिक पत्रकारिता कह सकते हैं। कृष्णा सोबती तक इस चक्कर में खुद को अपत्रकार-रिपोर्टर कहलवाने पर उतर आई, क्योंकि भेंटवार्ता है तो अंततः 'कथन-उपकथन' का पुनर्कथन ही, जिसे वे पुनर्सृजन के स्तर तक ले गई और उसे अपनी निजता सौंपी। कुछ-कुछ ऐसा ही प्रयास मनोहरश्याम जोशी और श्रीकात वर्मा ने किया। प्रकाश मनु का मेहनत से किया गया काम भी उल्लेखनीय है, खासकर विष्णु खरे से उनकी वार्ता। कमल गुप्त, राजकुमार गौतम, अखिलेश, विनोद दास, विनय दास और ललित कार्तिकेय ने भी संजीदगी से काम किया है। ऐसा सृजन ही हाशिए पर खड़ी इस विधा को स्वीकृति योग्य विधा के मुकाम तक ले आया।

साधुवाद के पात्र हैं श्रीकिशन गुप्ता, जो 'वैष्णवों से वार्ता' को इतनी तत्परता से प्रकाश में ले आए। वे मेरी लगभग सभी कहानियों के ही प्रकाशकर्ता नहीं बने, आदिवासियों पर केंद्रित संदर्भ ग्रंथ 'इंद्रावती' के आवृत्तिकर्ता भी हैं और कुछ अन्य आवश्यक योजनाओं के प्रस्तावक भी। कहने की जरूरत नहीं कि गुप्ताजी मेरे प्रकाशक कम, मित्र ज्यादा सिद्ध हुए, बल्कि कहना तो यह चाहिए कि हमारे और उनके बीच लेखक-प्रकाशक जैसे संबंध प्रायः बने ही नहीं। बीसियो बरस से 'हम लोग' मित्र हैं, सिर्फ मित्र। जब भी जरूरत पड़ी तो मैंने उन्हें अपने करीब पाया, हर-हमेश। ऐसी सहृदयता कुछ ही प्रकाशकों में देखने को मिली।

इन वार्ताओं के संदर्भ में कुछ ऐसी ही भूमिका रही कन्हैयालाल नंदन की। ऐसे अधिकांश कामों के लिए उन्होंने ही प्रेरित किया। बाद में सर्वश्री ज्ञानरंजन प्रभाकर श्रोत्रिय, प्रयाग शुक्ल, गिरधर राठी, सुभाष सेतिया, शैलेंद्र सागर, विभूतिनारायण राय, आग्नेय, उदय प्रकाश, तुलसी रमण, सूर्यनारायण सक्सेना

वसुधा गुप्ता, प्रदीप तिवारी, राजेंद्र भट्ट, दीक्षा बिष्ट, अरविंद, बी.आर. सैनी, महेश अग्रवाल, हर्षदेव, हीरावल्लभ शर्मा, विजयनारायण तिवारी, लक्ष्मीप्रसाद पंत और अरुणकुमार शर्मा का प्रेरक-बल भी इस किताब को यह रूप देने में सहायक हुआ। इसके लिए इन सबका आभार।

अंत में शिवेंद्रनाथ मैत्रेय पर दो शब्द, जिनके अथक श्रम के बिना ये वार्ताएं यह रूप शायद ही प्राप्त कर पातीं। हुआ यह था कि विजयमोहन सिंह से हुई हमारी वार्ता के नोट्स नागेंद्र सिंह ने लिये और उसे फेयर कर मुझे भेजने का जिम्मा ले लिया, लेकिन अरुणाचल जाकर वे शायद भूल गए कि मुझसे कोई वादा कर गए हैं। वे भूल गए तो अपने जाल-जंजाल में फंसा मैं भी भूला रहा। उनका पता मुझे याद न रहा कि खत लिखकर याद दिला देता कि 'मेरा कुछ सामान तुम्हारे पास पड़ा है, उसे लौटा दो'। क्या करता। खामोशी ओढ़े रहा। तीन-चार बरस बाद अचानक एक दिन डाक में मोटा-सा लिफाफा मिला, जिसमे निकले हाथ से लिखे हुए कुछ पृष्ठ। विजयमोहन सिंह का इंटरव्यू था वह। कुछ पन्ने पढ़ते ही सिर चकरा गया। ड्रास्टिक एडिटिंग की जरूरत थी। उस पोथे को हाथ लगाने की हिम्मत न हुई, कई महीने। और फिर हिम्मत की तो एक अच्छी वार्ता उभरती नजर आई। तीन-चार दिन में एडिटिंग पूरी हुई। और फिर बाकी का कठिन काम शिवेंद्रनाथ मैत्रेय ने किया। वे हिम्मत न करते तो यह वार्ता पडी ही रहती। यह पड़ी रहती तो शायद पूरी किताब ही पड़ी होती अभी तक मेरी फाइलों में कहीं दबी हुई, लेकिन शिवेंद्र न सिर्फ खुद इसमें फंसे, बल्कि मुझे भी फसा लिया और कई महीने इस किताब के सिवा कोई और काम करने नही दिया। राइटिंग, एडिटिंग, एडिंग, कटिंग, उफ्फ! कितनी-कितनी बार हुई यह क्रिया-प्रक्रिया। राजेन्द्र यादव तक ने अनेक बार कटिंग-पिटिंग की, पर शिवेंद्र ने उफ नहीं की। उन्होंने जैनेंद्र और आचार्य क्षेमचन्द 'सुमन' के लिखाड़िये का काम किया है। वे लोग एक बार में जो बोलते या लिखते, वही फाइनल हो जाता था, किंतु यहां औरों के बोले हुए को हूबहू कागज पर लाने का कठिन और जिम्मेदारीपूर्ण काम हमारे सामने था, जिसको अधिकतम संभव रूप में निभाने मे शिवेंद्र ने पूरा साथ दिया। इसलिए न सिर्फ विजयमोहन सिंह की वार्ता के, बल्कि इस पूरी किताब के इस रूप में आ पाने का श्रेय मुझसे कहीं ज्यादा शिवेंद्र को है शिवेंद्रनाथ मैत्रेय को।

● 53 सी, ऊना एन्क्लेव, मयूर विहार फेज-1,
दिल्ली-110091 ✆ 2259774

बलराम

वार्ता

मुझे लेखक बनाया 'भारत भारती' ने / भगवतीचरण वर्मा
कुलीनता का प्रमाण दे नहीं पाते युवा / हरिवंशराय बच्चन
धन बरसता है उपन्यास लिखने से / बाबा नागार्जुन
बहुत महत्वाकांक्षाएं न पालें रचनाकार / विष्णु प्रभाकर
सर्जना को मार देता है रुटीन का बंधन / राजेन्द्र यादव
भारतेंदु के नमक का हक अदा किया / कमल गुप्त
कृति पर अंतिम होता है काल का निर्णय / हिमांशु जोशी
कहानी में क्यों नहीं है समय का संत्रास / विजयमोहन सिंह
विदेशियों ने उजाड़ डाला हमारा विज्ञान / गिरिराज किशोर
एक त्रासदी की शुरुआत भी है ग्लोबलाइजेशन / गंगाप्रसाद विमल
मनुष्य के स्थाई प्रजातंत्र हैं साहित्य और कलाएं / अशोक वाजपेयी

●

और पश्चिम को भा गया 'चरनदास चोर' / हबीब तनवीर
संभव नहीं है यहां कोई राजनीतिक फिल्म / उत्पलेंदु चक्रवर्ती
विज्ञान साहित्य के बिना नहीं चलेगा काम / तालिब ओमरान
खामियाजा भुगत रहा है उत्तर प्रदेश / आनंद शुक्ला
बच्चों के प्रथम शिक्षक होते हैं मां-बाप / रामकुमार शर्मा
चीन में नेहरू जैसे ही लोकप्रिय हैं अटल / महादेव खेतान
युवा चाहे तो स्थापित कर सकते हैं कीर्तिमान / श्रीकृष्ण
एक बहुत बड़ी ट्रेजडी है 'टोबा टेकसिंह' / शुजात हाशमी
तब मेरे ही घर रुकते थे राम विलास / जवाहर चौधरी

●

संयम जरूरी होता है बड़ी रचना के लिए / मन्नू भंडारी
पुराने लेखक नयों को भी पढ़ रहे हैं अब / महीप सिंह
लेखक शब्दों पर विश्वास करना सीखें / केदारनाथ सिंह
तब में हिंदी होती ही नहीं थी /

'चित्रलेखा' के चतुर चितेरे

भगवतीचरण वर्मा

मुझे लेखक बनाया 'भारत भारती' ने

साहित्य में त्रयी प्रायः चर्चा का विषय रही हैं, वह चाहे मोहन राकेश, कमलेश्वर और राजेन्द्र यादव की त्रयी रही हो या नागार्जुन, त्रिलोचन और शमशेर की। एक जमाने में लखनऊ की त्रयी की बडी धूम थी – यशपाल, भगवतीचरण वर्मा और अमृतलाल नागर। यशपाल से मेरी मुलाकात नहीं हो पाई थी। उनसे पत्राचार जरूर शुरू हुआ था, किंतु कुछ दिन बाद ही वे गुजर गए। कुछ बातें-मुलाकातें अमृतलाल नागर से हुईं तो भगवतीचरण वर्मा से भी एक बार वार्तालाप हुआ। 1975 में पहली बार लखनऊ गया और भगवती बाबू के घर जा पहुंचा। हालांकि मेरे शहर कानपुर से लखनऊ सिर्फ सत्तर किलोमीटर दूर है, लेकिन उन दिनो मेरे लिए इतनी दूर जा पाना भी बहुत बड़ी बात थी। पहुंचकर टेलीफोन किया। फोन खुद वर्माजी ने उठाया और भेंटवार्ता का मेरा इरादा जानकर चार बजे तक मिलने की बात कही।

वर्माजी ने कहानी, कविता, उपन्यास और नाटक, हर विधा में लिखा और खूब लिखा, लेकिन साहित्य अकादमी पुरस्कार उन्हें उनके उपन्यास 'भूले-बिसरे चित्र' पर मिला। उपन्यास 'चित्रलेखा' भी खूब चर्चित हुआ और उस पर इसी नाम से दो फिल्में बनीं। भगवती बाबू ने अपने आवास का नाम भी 'चित्रलेखा' ही रखा हुआ था। 'टेढे-मेढे रास्ते', 'सबहिं नचावत राम गोसाईं', 'सीधी-सच्ची बातें', 'सामर्थ्य और सीमा', 'प्रश्न और मरीचिका' आदि उनके अन्य चर्चित उपन्यास हैं। पद्नभूषण से सम्मानित हुए और राज्य सभा के सदस्य भी रहे। पत्र-पत्रिकाओं का संपादन किया, आकाशवाणी के कई केंद्रों में कार्यरत रहे तथा फिल्मों के लिए भी काफी समय तक लिखा। और फिर 1957 से मृत्यु पर्यंत (5 अक्टूबर, 1981) स्वतंत्र लेखन करते रहे।

जहां से मैंने उन्हें फोन किया था, वहां से महानगर काफी दूर था। फोन

पर चार बजे का मतलब मैंने यह समझा कि शायद वे चार बजे तक ही मिलेंगे घडी देखी तो सवा एक बज रहा था। सो, वहां से निकलकर महानगर के लिए रिक्शा किया और चल पड़ा। मुझे मालूम नहीं था कि वहां से महानगर कितनी दूर है और मुझे किधर जाना है, महानगर में किस तरफ होगा वर्माजी का घर, लेकिन जाना तो था ही, सो महानगर पहुंच गया। एक पनवाड़ी से पूछा, "चित्रलेखा, किधर है।" उसे 'चित्रलेखा' के बारे में पता था। उसने इशारे से मुझे बता दिया तो बिना किसी दिक्कत के पहुंच गया। बंगले का फाटक खोलकर बरामदे में पहुंचा और आवाज दी। वृद्ध-से एक सज्जन ने झांककर पूछा तो मैंने अपना नाम बता दिया। उन्होंने मुझसे कुर्सी पर बैठने को कहा और खुद भी बैठ गए। क्या कहूं, क्या करूं, मेरी समझ में कुछ नहीं आया तो चुप लगा गया। थोड़ी देर बाद उन्होने कहा, "मैंने तो चार बजे का समय दिया था, खाना खाकर आराम करने जा रहा था तुम तो दो बजे ही आ गए। खाना खाकर आराम करने की मेरी आदत है। खैर, पूछिए, क्या पूछना चाहते हैं?" उनकी बात सुनकर मुझे अचंभा हुआ। वे वृद्ध सज्जन कोई और नहीं, खुद भगवतीचरण वर्मा थे। इसके बाद एक-एक कर मैं अपने सवाल उनके सामने रखता गया और वे इत्मीनान से जवाब देते गए।

आपका जन्म किस तरह के परिवार में कब और कहां हुआ?

30 अगस्त, 1903 में मेरा जन्म उन्नाव जनपद के सफीपुर कस्बे में एक खाते-पीते कायस्थ घराने में हुआ था। मेरे पितामह तीन गांवों के जमीदार थे। कानपुर के पटकापुर मुहल्ले में भी एक मकान था। पितामह ने दो विवाह किए थे और उनकी सब संतानों में बट-बटाकर मेरे पिता एक मामूली हैसियत के आदमी रह गए थे। उन्होंने वकालत पास की और स्नेहियों के सुझाव से उन्नाव जिले की सफीपुर तहसील में वकालत करने लगे। वहीं मेरा जन्म हुआ। मेरे जन्म के सात-आठ महीने बाद वे कानपुर लौट आए और वकालत करने लगे। मेरे ताऊजी इंस्पेक्टर थे।

आपका बचपन किस तरह बीता?

1908 में देश में प्लेग की महामारी फैल गई थी। हजारों घर उस महामारी मे उजड़ गए थे। मेरे घर पर भी गाज गिरी। महामारी मेरे पिताजी को खा गई। तब मेरी आयु पांच बरस की थी। मुझसे छोटे तीन भाई और एक बहन थी। इस मुसीबत में मेरा परिवार ताऊजी के घर रहने लगा। उन्होंने मेरे स्वर्गीय पिता के हिस्से की जमींदारी का एक गांव बेचकर रुपया बैंक में जमा करा दिया। बैंक मे जमा उस धन से बाइस रुपया ब्याज मिलता था। मेरी मां इन बाइस रुपयों से ही परिवार का भरण-पोषण करती थीं। अपनी उस छोटी उमर में ही मुझे

दुनियादारी सीखनी पडी और कामकाजी होना पडा अनाज पानी मिर्च मसाला नून-तेल-लकड़ी आदि बाजार से खरीदकर मैं ही लाता था।

आपकी पढ़ाई-लिखाई कितनी, कहां-कहां और किस तरह हुई?

कानपुर और इलाहाबाद से मैंने बी.ए., एल.एल.बी. किया। प्रारंभ में मैं पढने में बहुत तेज था। चौथे दर्जे में मुझे डबल प्रमोशन मिला। आगे चलकर घर-गृहस्थी के अलावा ताऊजी के काम भी करने पड़ते और एकाग्रचित होकर मुझे पढ़ने का मौका न मिलता। सातवें दर्जे में सब विषयों में अच्छे नंबर पाकर भी मैं हिंदी में फेल हुआ था। और आगे जाकर इंटर में फेल हुआ। इंटर में फेल होने का कारण यह रहा कि पढ़ने में ध्यान न देता, दिन-रात कविता लिखने और पढने मे जुटा रहता। फिर भी, मैं पढता गया। पढ़ाई के दौरान आर्थिक संकट बहुत आए। कभी-कभी फटे कपडे पहनकर स्कूल जाना पडता। कभी कापी नहीं होती तो कभी किताब। कभी-कभी घर में चिराग जलाने के लिए मिट्टी का तेल तक नहीं होता था, पर मैं कठिनाइयों से कभी घबराया नहीं।

लिखने की प्रेरणा आपको कब और कैसे मिली?

यह उन दिनों की बात है, जब मैं थियोसोफिकल स्कूल में सातवें दर्जे मे पढता था। हर विषय में अच्छे नंबर पाकर भी मैं हिंदी में फेल हो गया। तब मुझे विकसितजी हिंदी पढ़ाते थे। उन्होंने अपने पास बुलाकर बड़े प्यार से कहा था, 'यह कितने दुःख की बात है कि तुम हिंदी में अनुत्तीर्ण हुए हो। तुम्हें मन लगाकर हिंदी पढ़नी चाहिए। 'सरस्वती' पढ़ा करो। इसके अलावा मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत भारती' तथा अन्य अच्छी-अच्छी किताबें पढो।" उनकी बात मुझे लग गई। कई दिनों तक सोचता रहा कि क्या करूं। अगस्त का महीना था। मूसलाधार बारिश हो रही थी और मैं घर के तिखंडे पर बैठा 'भारत भारती' पढ़ रहा था। पढ ही नहीं, मस्ती में गा भी रहा था और इसी मस्ती में 'भारत भारती' की कुछ पक्तियों के साथ तुक मिलाकर कुछ अपनी पंक्तियां भी गढ़ गया। जब होश आया तो लगा कि अब तो मैं खुद भी कवि हो गया हूं। झट से कागज-कलम लेकर तुकबंदी कर डाली। यही मेरी पहली कविता थी, जिसका एक भी शब्द मुझे अब याद नहीं। यह कविता मैंने अपनी पंद्रह साल की उम्र मे सन् 1918 में लिखी थी। उसको लेकर जब अपने अध्यापक विकसितजी के पास पहुंचा तो वे बहुत खुश हुए। उन्होंने उसमे संशोधन किया और मात्राओं की गणना सिखाई। उसके बाद मैं कविताएं लिखने लगा। कहानियां और उपन्यास तो बहुत बाद में लिखे। बचपन से ही मुझे कलाओं से प्रेम था। संगीत और कविता-पाठ में मेरी विशेष रुचि थी।

बाद मे 'प्रताप' अखबार से भी प्रेरणा और प्रोत्साहन मिला।

बचपन में आप कैसे खेल खेलते थे?

बचपन में मैं प्रायः काम में व्यस्त रहता था। थोड़ा बड़ा होने पर हॉकी, फुटबाल और टेनिस खेलने लगा। दौड़ प्रतियोगिताओं में सबसे आगे रहता था। मेरा सबसे प्रिय खेल हॉकी था। हॉकी टीम के श्रेष्ठ खिलाड़ियों मे से मैं एक था। घर के कामों में इतना व्यस्त रहना पड़ता कि कभी-कभी खेलने के लिए स्कूल ही गोल कर जाता, पर यह ज्यादा नहीं होता। अपनी पढाई का बराबर खयाल रहता था।

जीवन में आपको प्रभावित किसने किया?

देखिए बलरामजी, प्रेरणा तो मुझे बहुत से लोगों ने दी, पर आज तक किसी भी व्यक्ति ने प्रभावित नहीं किया। क्या मेरे जीवन पर, क्या मेरे लेखन पर क्या मेरे चिंतन पर, किसी का भी प्रभाव आपको नहीं मिलेगा।

घर या स्कूल में कभी पिटाई भी हुई?

घर में कभीकभार मुझे डांट भले ही पड़ी, पिटाई कभी नहीं हुई। स्कूल मे जरूर एक बार अंधाधुध पीटा गया। स्कूल की वह पिटाई मुझे आज तक याद है। उस दिन शायद मैं किसी उलझन में था। एक अध्यापक ने सवाल लगवाया। थोड़ी देर बाद उसने अचानक मुझे खड़ा कर दिया। तब शायद मैं बोर्ड पर नहीं कहीं कुछ और देख रहा था। उसने मुझसे पूछा, "भगवती, तुम यह सवाल समझ गए?" सवाल मैं सचमुच समझ गया था। मैंने हामी भर दी। जब उसने कडकती हुई आवाज में सवाल हल करने को कहा तो मैं सहम गया। उसकी रोबीली आवाज ने दिल और दिमाग का संतुलन बिगाड़ दिया। सब कुछ जानते हुए भी मै गड़बड़ा गया था। परिणाम यह हुआ कि पंखे की रस्सी खुलवाकर उसने पीटना शुरू कर दिया। दे रस्सी, दे रस्सी, रस्सी पर रस्सी, सड़ासड़। वह पीटता चला गया। इतना पीटा कि देह पर नीले निशान उभर आए। घर लौटकर आया तो बुखार से देह जल रही थी। स्वस्थ होकर जब मैं स्कूल गया तो मुझे एक दर्जा नीचे उतार दिया गया था।

कभी-कभी आपके जीवन में संघर्ष के दिन भी आए होंगे और तब आप टूटने लगे होंगे। जूझने की शक्ति कहां से मिलती थी?

जीवन में मुझे कभी नहीं लगा कि मैं टूट रहा हूं। इसे यों भी कह सकते हैं कि कभी टूटने की नौबत ही नहीं आई। मैं कभी टूटा नहीं।

आगे बढने के लिए युवको को कोई सीख देना चाहेगे?

मै नियति मे विश्वास करता हू। सफलता-असफलता सब नियति से सचालित होते हैं। गुण और अवगुण जन्म से ही प्रवृत्तियों के रूप में मिलते है। उन पर परिस्थितियों का प्रभाव पड़ता है और आदमी आगे या पीछे हो जाता है और परिस्थितियों पर मनुष्य का वश नहीं होता। विकास स्वाभाविक रूप से होता है किसी तरह की सीख या उपदेश से उसे बदलना संभव नहीं।

लिखना शुरू करनेवालों को कोई सुझाव देना चाहेंगे?

लेखन एक परिपक्व मस्तिष्क की चीज है और अपने अनुभव के आधार पर मैं बच्चों या विद्यार्थियों के लेखन का समर्थन नही करता। इससे अध्ययन में बाधा पडती है। कैरियर चौपट होता है। पढ़-लिखकर जब परिपक्वता आ जाए, अनुभवो का भण्डार हो जाए, तब लेखन का कोई अर्थ होता है। बचपन के लेखन को प्रवृत्ति के विकास से अधिक महत्व नहीं देना चाहिए। लेखन को मैं बेहद व्यक्तिगत काम समझता हूं। इसमें सुझाव जैसी बात घटिया बात ही हो सकती है। अच्छे साहित्य का सृजन अंततः व्यक्ति खुद करता है और सुझावों से कोई बड़ा या छोटा नहीं हो सकता। और मेरा तो यहां तक मानना है कि सुझाव या दबाव से कोई लेखक बन ही नहीं सकता। हां, कुछ प्रेरणा अवश्य मिल सकती है, लेकिन तभी, जबकि लेखन की शक्ति व्यक्ति में पहले से ही मौजूद हो। लेखकीय प्रतिभा को पल्लवित और पुष्पित तो किया जा सकता है, पर उसका बीजारोपण संभव नहीं।

जो लेखक नौकरी करते हैं, प्रायः बड़ी और महत्वपूर्ण कृतियां नहीं रच पाते। अपने अनुभव के आधार पर इस संदर्भ में कोई सुझाव देंगे?

देखिए बलरामजी, मैं पहले ही कह चुका हूं कि मैं नियतिवादी हूं और मानता हूं कि जिसे बड़ी रचनाएं लिखनी हैं, लिखकर रहेगा और जिसे औसत रचनाकार होना है, उसे कोई कुछ भी कर ले, महान रचनाकार नहीं बना सकता। हा नौकरी रचनाकार के लिए किसी हद तक बाधक हो सकती है, मगर अधिकाश लेखक मध्य और निम्न मध्य वर्ग से आने के कारण नौकरी के लिए विवश होते हैं लेकिन पचास के बाद की उम्र मे लेखक को हर हाल में नौकरी से अवकाश ग्रहण कर लेना चाहिए। बिना नौकरी छोड़े बड़ी रचना का सृजन असंभव तो नही लेकिन मुश्किल जरूर होता है। प्रेमचंद को भी नौकरी छोड़नी पड़ी, तभी वे 'गोदान' जैसे उपन्यास का सृजन कर पाए।

कहा जाता है कि बड़े सृजन की सही उम्र बीस से चालीस साल के बीच की होती है। महान कृतियों के सर्जकों ने उन्हें अपनी इसी उम्र में

रचा ऐसे मे पचास की उम्र मे नौकरी छोड़कर लेखक शायद घास ही काटकर पाठकों को परोसेगा?

नहीं, बड़ी रचना के लिए लेखक की कोई उम्र निर्धारित नहीं की जा सकती। प्रेमचंद का 'गोदान' हो या हजारीप्रसाद द्विवेदी के उपन्यास, विष्णु प्रभाकर का 'आवारा मसीहा' हो या बच्चन का आत्मवृत्त 'क्या भूलूं, क्या याद करूं', ये या ऐसी अनेक रचनाएं लेखकों ने बड़ी उम्र में लिखीं। बड़ी और अच्छी रचनाएं कच्ची उम्र में नहीं लिखी जा सकतीं। जो किसी आवेश में लिख जाती हैं, वे कच्ची उम्र के पाठकों को ही भाती हैं, परिपक्व उम्र के लोग उन्हें पढ़कर सिर ही धुनते है। जिसे बड़ी रचना लिखनी ही है, वह पच्चीस, तीस, पैंतीस या चालीस साल की उम्र का इंतजार करता बैठा नहीं रह सकता, वह उसे किसी भी उम्र में रच सकता है। गुलेरी ने 'उसने कहा था' लिख ही दी थी आखिर पैंतीस-चालीस के बीच की उम्र में। तीस साल की उम्र में भी कोई परिपक्व हो जा सकता है और कोई पचास साल की उम्र में भी परिपक्व नहीं हो पाता। पचास का सुझाव सिर्फ इसलिए कि तब तक मध्य वर्ग का लेखक कामचलाऊ आर्थिक आधार बना सकता है और फिर बिना नौकरी के सिर्फ अपनी कलम की बदौलत गुजारा करने लायक हो जा सकता है।

कहकर भगवती बाबू ने मुझे निरुत्तर कर दिया। खाना खाने के बाद उन्हे विश्राम करना था, मैंने आकर उनके आराम में खलल डाल दिया, यह भाव मुझ पर लगातार तारी रहा और मैंने जल्दी से जल्दी अपनी वार्ता पूरी करने की कोशिश की। अंततः वह क्षण आ पहुंचा, जब मुझे लगा कि अब चलना चाहिए। मैंने कागज-पत्तर समेटे और उठ खड़ा हुआ।

"बैठो अभी, कुछ खा-पी लो। फिर जाना।" कहकर भगवती बाबू ने आवाज लगाई तो एक प्लेट में मिठाई आ गई। मिठाई खाकर पानी पीने के बाद असमय उन्हें कष्ट देने के लिए माफी मांगी। उठकर खड़ा हुआ और 'चित्रलेखा' की दहलीज से बाहर निकल आया, भगवती बाबू की 'चित्रलेखा' के बारे में सोचते और अपनी 'चित्रलेखा' की कल्पना करते हुए, क्योंकि तब तक मेरी 'चित्रलेखा' प्रत्यक्ष नहीं हुई थी, वह सिर्फ सपनों में थी, सपनों में और ख्वाबों में। □

'क्या भूलूं, क्या याद करूं' के सहज सर्जक

हरिवंशराय बच्चन

कुलीनता का प्रमाण दे नहीं पाते युवा

इलाहाबाद (उत्तर प्रदेश) के एक कायस्थ परिवार में 27 नवंबर, 1907 में जन्मे हरिवंशराय बच्चन की पहली ख्याति 'मधुशाला' के कवि की है तो दूसरी 'क्या भूलूं, क्या याद करूं' के अप्रतिम गद्यकार की, लेकिन वे अपनी सबसे बड़ी कृति ज्येष्ठ पुत्र अमिताभ बच्चन को मानते रहे। बच्चनजी के बड़े मियां सिद्ध भी हुए बहुत बड़े मियां, इतने बड़े कि बालीवुड में उनके मुकाबले का कोई दूसरा बीसवीं सदी में पैदा नहीं हुआ। पद्य-गद्य और अनुवाद में रची गई बच्चनजी की साठ कृतियों में से 'दो चट्टानें' के लिए उन्हें साहित्य अकादमी पुरस्कार मिला। सोवियत लैंड नेहरू अवार्ड से भी सम्मानित हुए। राज्यसभा के लिए मनोनीत हुए और भारत सरकार के 'पद्मभूषण' अलंकरण से विभूषित किए गए। बच्चनजी की 'मधुशाला' तभी पढ़ ली थी, जब हाईस्कूल का छात्र था। फिर पढ़ी उनकी आत्मकथा 'क्या भूलूं क्या याद करूं'। उनकी किताबों ने मुझ पर खासा असर डाला, पर कविता का आदमी न होने के कारण बच्चनजी के काव्य का पाठक तो जरूर रहा, लेकिन उनके करीब पहुंचने की कोई स्थिति न बन सकी।

'सारिका' में नियुक्ति के बाद कानपुर से दिल्ली आया तो 1983 में उनसे मिलने का सुयोग बन गया और सहज जिज्ञासा के तहत उनके जीवन और लेखन पर एक रोचक बातचीत हो गई। सुना था कि वे नए से नए लेखक से मिलना पसंद करते हैं, बशर्ते फोन करके या चिट्ठी लिखकर उनसे समय ले लिया गया हो। मिलने के लिए फोन किया तो बच्चनजी ने अगले दिन तीन बजे का समय दे दिया, गुलमोहर पार्क स्थित अपने घर 'सोपान' में। मैं नियत समय पर पहुंच गया, पर अचानक उनके ज्येष्ठ पुत्र अमिताभ बच्चन के मुंबई से आ जाने के कारण मुझे लगभग आधे घंटे तक इंतजार करना पड़ा। पहले तेजीजी आईं और फिर बच्चनजी। बातचीत से पहले तेजीजी ने पूरा आदर-सत्कार किया और

जब हम बच्चनजी के साथ बैठे तो वे अपने लेखन के प्रारंभिक दिनों में खो गए और अपने साथ मुझे भी न जाने कहां-कहां की यात्रा करा दी।

आपकी पहली रचना कब, कैसे और कहां छपी? तब आपकी उम्र क्या थी? पहली रचना छपने पर कैसा लगा?

मेरी पहली रचना जबलपुर से छपनेवाली पत्रिका 'प्रेमा' में छपी, जिसके सपादक रामानुजलाल श्रीवास्तव थे। उन दिनों मैं प्रयाग महिला विद्यापीठ मे अग्रेजी पढ़ाता था। मेरी पहली रचना के छपने की भी एक कहानी है। मैं बडा सकोची आदमी था। लिखता था और लिखे हुए को छिपाकर रखता था। किसी को यह भी नहीं बताता था कि मैं लिखता भी हूं। ऐसी स्थिति में छपने के लिए कहीं भेजने का तो सवाल ही नहीं उठता था। एक डर यह भी था कि छपने के लिए यदि किसी को भेजी और रचना अस्वीकृत होकर लौट आई तो बडी निराशा होगी और हो सकता है कि उसके बाद मैं फिर कभी भी न लिखने का निर्णय कर बैठू। मुझे लगता है कि किसी भी लेखक का प्रारंभिक लेखन बहुत ही सच्चा होता है। भावनाएं और कल्पनाएं एकदम निजी होती हैं, उस पर कला का आवरण इतना घना नहीं होता। वे एकदम नग्न भावनाएं होती हैं और ऐसी निजी नग्न भावनाओं को कोई कैसे निधड़क होकर व्यक्त कर सकता है। इसी संकोच के कारण मैं लिखता और छिपाकर बक्से में रख देता। उन दिनों मेरे एक मित्र होते थे प्रफुल्लचंद्र ओझा 'मुक्त'। मेरे घर प्रायः आया करते। वे एक साहित्यिक पिता की संतान थे। उनके पिता चंद्रशेखर शास्त्री का इतना मान-सम्मान था कि अपने पहले कविता-संग्रह 'अनामिका' की भूमिका निरालाजी ने उन्हीं से लिखाई थी। प्रफुल्ल ने चोरी से मेरी कविताएं देखीं और पढ़ीं और फिर उनकी कापी भी कर ली। मुझे बिना बताए ही कुछ कविताएं उन्होंने विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं को भेज दीं। सो, 'प्रेमा' के लिए भी अपनी रचनाएं मैंने नहीं भेजीं। प्रफुल्ल ने ही भेजी। इस तरह चोरी से भेजी गई पहली रचना छप गई तो मैं प्रफुल्ल से नाराज नहीं हुआ, बल्कि खुश ही हुआ।

और फिर आपकी रचनाएं धड़ल्ले से छपने लगी होंगी?

हां, एकदम सही कहा आपने। 'सरस्वती' में 1932 तक मेरी रचनाएं छपने लगी थीं। 'सरस्वती' में मेरी पहली रचना पंडित नरेंद्र शर्मा की रचना के साथ छपी थी। 'सरस्वती' के 'विविधा' स्तंभ में उन दिनों नए लेखकों की रचनाएं छपा करती थीं। 1933 में 'सरस्वती' ने 'मधुशाला' की दस रुबाइयां छापी थीं, जिनका काशी में पाठ करते ही मैं प्रसिद्ध हो गया। फिर तो 'माधुरी' 'सुधा' 'विशाल भारत

तथा' वीणा आदि प्रसिद्ध पत्र पत्रिकाओ मे मेरी रचनाए धडल्ले से छपने लगी वेसे 'प्रेमा' में पहली कविता छपने से पूर्व एक अंग्रेजी किताब 'रिडिल ऑफ द यूनिवर्स' पर आधारित एक लेख मुझसे लिखवाकर 'विज्ञान' (इलाहाबाद) पत्रिका के संपादक सत्य प्रकाश ने छापा था, पर मौलिक रचना 'प्रेमा' में ही छपी। वह कविता थी, जिसका शीर्षक तक अब मुझे याद नहीं है।

उन दिनों किन नए-पुराने लेखकों से आपका संपर्क-संबंध बना?

जब मेरी पहली कविता छपी, तब निरालाजी कलकत्ते में रहते थे। पंतजी का रहन-सहन और आचरण ऐसा था कि उनसे निकटता संभव ही नहीं थी। बाद मे पंडित नरेंद्र शर्मा, शमशेर बहादुरसिंह तथा क़ेदारनाथ अग्रवाल आदि से मेरा परिचय हुआ। उस समय महादेवी वर्मा प्रतिष्ठित हो चुकी थीं। मैं उनका प्रशसक था। मेरा पहला कविता संग्रह 1932 में छपा, लेकिन जब 'मधुशाला' छपी, तभी पोढेपन का एहसास जाग सका।

नए लेखकों को कोई सलाह देना चाहेंगे?

नए लेखकों की रचनाएं पढता हूं तो लगता है कि ये लोग अपनी भाषा परपरा से परिचित नहीं हैं। लगता है कि जैसे ये कल की भाषा लिख रहे हैं। इस भाषा की रगों में पुराने कवियों का रक्त नहीं है, यह एकदम ताजा रक्त है, जबकि परपरा से लेखन में डिग्निटी आती है और लगता है कि युवा लेखकों में यही नहीं है। वे अपनी कुलीनता का प्रमाण दे नहीं पाते। मैं तो कहता हूं कि दो सौ पेज पढिए तब एक पेज लिखिए। स्वाध्याय से आदमी अपने क्षुद्र अनुभव-संसार को व्यापकता देता है, गहराई देता है, जबकि क्षुद्र और सतही अनुभव से कविता क्षीण होती है। एक अरबी कहावत है कि जिसे एक लाख शेर याद हों, वही ग़ज़ल लिखे। इससे अनुभव संपदा बढ़ जाती है और अभिव्यक्ति क्षमता का विस्तार होता है। सूर तुलसी और कबीर ने न जाने कितना दर्द सहा होगा, तब कविता की होगी, वरना क्या उनकी पक्तियां इतने दिन बाद भी हम याद रख पाते? मीरा के पद क्या हर कोई लिख सकता है? मौलिकता कोई आकाश से टपकी चीज थोड़े ही है। सूर ने गीता और महाभारत से अपने को जोड़ा तो तुलसी ने वाल्मीकि रामायण से। जोड़ने के बाद खुद को इंप्रूव किया, नए लेखक यही नहीं कर पाते। आज की कविता अखबारी हो गई है, जिसे दुबारा पढ़ने का मन नहीं होता। इसके लिए उन्हें खुद को लोक जीवन की धड़कनों से जोडना होगा और ऐसी भाषा का प्रयोग करना होगा, जो संस्कृत और फारसी के प्रभाव से युक्त, लेकिन उनके दबाव से मुक्त हो, जैसे कि मीरा की यह पंक्ति – 'अब तो बात फैल गई, जाने सब कोई

इसमें 'तो' का प्रयोग बात के प्रभाव को कितना बढ़ा देना है।

अपनी रचना-प्रक्रिया के बारे में कुछ बताएंगे? रचनाओं को इतनी और ऐसी ऊंचाइयां किस तरह दे पाए?

किसी कवि अथवा कथाकार की रचना का आधा-अधूरा विश्लेषण तो सभव है, लेकिन उसकी रचना-प्रक्रिया में जो प्रक्रिया है, उसका विश्लेषण असंभव है। यह वैज्ञानिकों के लिए जरूर संभव है, लेकिन रचनाकारों की रचना-प्रक्रिया के बारे में सही-सही बता पाना ब्रह्माजी के लिए भी शायद संभव न हो, क्योंकि रचनाकार का यथार्थ वस्तुगत यथार्थ नहीं होता और यथार्थ का जो उपयोग वैज्ञानिक करते हैं, रचनाकार उसका वैसा उपयोग नहीं करते। रचनाकार का यथार्थ उसकी मनस्थिति का यथार्थ होता है, वह उसकी दृष्टि और विचारधारा का भी यथार्थ होता है और आप जानते ही हैं कि वह चाहे दृष्टि हो या विचारधारा, जड नहीं, परिवर्तनशील होती है, परिवर्तनशील और प्रगतिशील भी। जिन रचनाकारो की दृष्टि और विचारधारा प्रगतिशील नहीं होती, वे ग्रो नहीं कर पाते, साहित्यिक शिखरों का स्पर्श वे नहीं कर पाते। किस लेखक ने किन ऊंचाइयों का स्पर्श किया है, यह तो किसी हद तक सहृदय पाठक और सुधी आलोचक बता सकते हैं, किंतु उन ऊंचाइयों का स्पर्श लेखक ने किस तरह किया, यह बात लेखक नहीं बता सकता। जो बताता है, वह शायद हाथी के बाल के बराबर भी न हो और लेखक समझे कि उसने हाथी का सांगोपांग वर्णन कर दिया है। रचना-प्रक्रिया रचनाकार की ब्रह्म-दृष्टि के सामने खड़ा वह महाकाय हाथी है, जिसका सांगोपाग वर्णन कर सकना संभव ही नहीं है।

अपने काव्य 'दो चट्टानें' में आपने भारतीय संस्कृति से हनुमान और ग्रीक संस्कृति से सिसिफस के जो चरित्र उठाए हैं, उनके माध्यम से क्या सिद्ध करना चाहते हैं - भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठता या कुछ और ...

हनुमान पर्वतखंड रूपी चट्टान उठाकर लाते हैं और सिसिफस भी चट्टान को उठाए फिरता है। मैंने 'दो चट्टानें' में दो भिन्न संस्कृतियों से दो भिन्न प्रतीक चुनकर अपनी बात कहने की कोशिश की है। इस प्रसंग में हनुमान और सिसिफस दोनो ही पीड़ा भोगते हैं। किन्हीं मूल्यों में आस्था रखनेवाले लोगों को पीडा का मूल्य देना ही होता है, लेकिन पीड़ा का यह मूल्य चुकाकर हनुमान सजीवनी लाते हैं और दूसरों को जीवन प्रदान करते हैं, जबकि सिसिफस के चट्टान उठाए फिरने की जो पीड़ा है, उससे किसी को कुछ मिलता नहीं है, न जीवन न मरण। इसलिए हनुमान की पीडा और श्रम तो मूल्यवान है लेकिन

सिसिफस की पीड़ा और श्रम मूल्यहीन है, परतु इन प्रतीको से मैं ग्रीक सस्कृति और भारतीय संस्कृति की तुलना करके किसी को कुछ सिद्ध करना नहीं चाहता। दोनों तरह के चरित्र ग्रीक परिवेश में हो सकते हैं और भारतीय परिवेश में भी। इस काव्य का कोई आशय मूल्यवान श्रम और पीड़ा की पक्षधरता में आप खोजना ही चाहें तो खोजें, इसके लिए आप स्वतंत्र हैं। दूसरे लोग कुछ और खोज या पा सकते हैं, वे उसके लिए स्वतंत्र हैं, लेकिन उन क्षणों के बारे में स्पष्ट रूप से कुछ कह सकना मेरे लिए संभव नहीं है।

आपकी कविताएं पाठकों से सीधा संवाद करती हैं। उन्हें किसी प्रवक्ता या आलोचक की दरकार कभी नहीं रही। फिर अपनी किताबों के परवर्ती संस्करणों में भूमिकाएं जोड़ने की क्या जरूरत आ पड़ी?

आपकी यह बात सही है कि मेरी कविताएं पाठकों से सीधे बात करती है। उन्हें किसी बिचौलिये की दरकार कभी नही रही। कविता में यह क्षमता हो, तभी वह अच्छी कविता होगी, लेकिन कालांतर में पाठकों की रुचि मेरी कविताओं के साथ मुझमें भी बढ़ने लगी। वे मुझे पत्र लिखने लगे,जिनका व्यक्तिगत रूप से मैं उत्तर देता रहा।.शायद उन पत्रों ने ही प्रेरित किया कि कुछ प्रश्नों के उत्तर बतौर भूमिका लिख दूं और शायद इसीलिए भूमिकाएं जोड़ दीं। उनका कोई और प्रयोजन नहीं है, पाठकों की कुछ जिज्ञासाएं शांत करने के सिवा।

आपमें बढ़ती पाठकों की इसी रुचि ने तो कहीं 'क्या भूलूं क्या याद करू' लिखने के लिए प्रेरित नहीं किया?

पूरी तरह तो नहीं, लेकिन किसी हद तक तुम्हारा अनुमान सही है। बहुत से पाठक मेरी बहुत-सी काव्य-पंक्तियों को मेरे जीवन से जोड़कर देखते और पत्र लिखते। कभी वे ठीक होते और कभी गलत। तभी मुझे लगा कि उन्हें ठीक-ठीक बताया जाए। कुछ बातें थीं, जो कविता में नहीं आ सकी थीं, उन्हें लिखने का मन भी था। सो, दोनों बातों ने मिलकर आत्मकथा लिखने की मनस्थिति बना दी और एक बार जब मनस्थिति बन गई तो फिर लिखता चला गया। उसे भी पाठकों का अपार आदर मिला, मेरी कविताओं की तरह। इसका कारण शायद यही रहा होगा कि मेरी आत्मकथा भी पाठकों से सीधे मुखातिब थी।

यानी आपने आत्मकथा विशुद्ध रूप से अपने पाठकों के लिए लिखी है, जबकि जिस मानतेन की आत्मकथा को आपने आदर्श माना है, वह तो सिर्फ अपने संबंधियों और मित्रों के व्यक्तिगत उपयोग के लिए लिखी गई थी। उसके लिखे जाने का एकमात्र लक्ष्य घरेलू अथवा निजी था।

फिर मानतेन कैसे आपका आदर्श हो सका?

मेरी आत्मकथा का भी एक लक्ष्य तो निश्चय ही निजी और घरेलू है जिसकी वजह से मुझे कायस्थों की उत्पत्ति संबंधी अनेक जातिगत बातें खोज-बीनकर लिखनी पड़ीं, जबकि जाति-उपजाति की व्यर्थता से मैं बहुत पहले ही परिचित हो गया था और विद्यार्थी जीवन में अपने नाम के साथ कुछ समय वर्मा लगाने के बाद मैंने उसे छोड दिया था, वरना वृंदावनलाल वर्मा, धीरेंद्र वर्मा, भगवतीचरण वर्मा, रामकुमार वर्मा और महादेवी वर्मा के साथ हरिवंशराय वर्मा का नाम भी लोग जोड़ने लगते, लेकिन अपनी आत्मकथा मैंने अपने सुधी पाठकों के लिए भी लिखी है अपनी त्रुटियों, कमियों, भूलों और पछतावों को व्यक्त करने के लिए, जो मेरे अतस में उमड़-घुमड़कर मुझे अशांत करते रहे, जिन्हें अपने पाठकों को बताए बिना मुझे शांति नहीं मिल पाई। इसलिए भी मुझे आत्मकथा लिखनी पड़ी। मेरी पीडा पाठकों तक पहुंचकर मुझे मुक्त कर गई। जहां तक मानतेन का सवाल है तो उसकी आत्मकथा भी संबोधित पाठकों को ही है। हां, मित्रों और संबंधियो से आदमी झूठ नहीं बोलता और साहित्य में सच की प्रतिष्ठा ही उसे ऊंचा उठाती है। शायद इसी प्रतिष्ठा के लिए मानतेन ने ऐसा कहा होगा। सच की उसी प्रतिष्ठा के लिए मानतेन का आत्मचरित मेरा प्रेरक बना, मेरा आदर्श हुआ। अपने आत्मचरित में मैने भी मानतेन की तरह ही जो कहा है, सच कहा है, सच के सिवा कुछ नहीं कहा है। और पाठकों ने उसे जिस आदर से ग्रहण किया, सब कुछ आपके सामने है। उस पर मै क्या कहूं?

कहकर बच्चनजी मेरी ओर देखने लगे। उनकी आखों की तरलता और सरलता ऐसी थी कि मुझे भी लगा कि अब इनसे और क्या कहूं। कुछ थकान शायद उन पर तारी होने लगी थी कि तभी तेजीजी आईं तो मै उठ खड़ा हुआ। उनसे नमस्ते कर चलने को हुआ तो उन्होंने रुकने का इशारा किया और बच्चनजी को अंदर ले गईं। थोड़ी देर बाद लौटीं और मुझे गेट तक छोड़ने आईं। यह काम पहले शायद बच्चनजी करते रहे होंगे, जिसे अब तेजीजी अंजाम दे रही थीं। मैंने सोचा और एक बार फिर उन्हें नमस्ते कर सड़क पर आ गया। सडक, जो मुझे मेरे शरण्य, नेताजी नगर तक ले गई, सोपान से शरण्य तक, क्योंकि तब तक मेरा कोई 'सोपान' बन नहीं पाया था। □

हिंदी साहित्य के फकीर योद्धा

नागार्जुन

धन बरसता है उपन्यास लिखने से

वर्ष : 1989, महीना : जनवरी, तारीख . एक, दिन : रविवार, समय : सुबह के साढे आठ बजे। स्थान : लेखकों का टोला कहा जानेवाला दिल्ली का गांव सादतपुर, जहां उन दिनों रह रहे थे : विष्णुचंद्र शर्मा, रमाकांत, डॉ. माहेश्वर, हरिपाल त्यागी, सुरेश सलिल, महेश दर्पण, वीरेंद्र जैन, रूपसिंह चंदेल, धीरेंद्र अस्थाना, रामकुमार कृषक तथा मेरे जैसे और भी कई लेखक-पत्रकार। बिस्तर से उठकर नव वर्ष मे सबसे पहले जो चेहरा दिखा, वह था बाबा नागार्जुन का हंसता हुआ चेहरा। मुझसे पहले बच्चों पर नववर्ष के आशीष बरसाता बाबा का चेहरा। यहां नागार्जुन सबके बाबा थे, सिर्फ बाबा। यहां उन्हें नागार्जुन कोई नहीं कहता। जैसे गांव-घर में बाबा होते है, ठीक वैसे ही बाबा नागार्जुन दिल्ली के गांव सादतपुर में डोलते थे, सब की खैर मनाते, सबकी चिंता-फिकर करते, सबका हालचाल पूछते और सबको आशीष देते हुए। सादतपुर के अनेक घर बाबा के घर थे और वे उन सभी घरो के बाबा थे, सभी जगह आदर और श्रद्धा के पात्र। कभी वीरेंद्र के घर घुस जाते, कभी धीरेंद्र के, कभी महेश के तो कभी रामकुमार कृषक के और कभी मेरे, कभी रमाकांत या डॉ माहेश्वर के घर, हरिपाल त्यागी, रूपसिंह चंदेल या सुरेश सलिल, बाबा को किसी के भी घर जाने में कोई गुरेज नहीं था। और जिस भी घर में घुस जाते, आसपास के घरों से लोगों को वहीं बुलाकर छोटी-सी महफिल जमा लेते। महफिल जमी नहीं कि फिर शुरू हो जाती थीं दुनिया-जहान की बाते। बातें ही बाते। ढेर सारी बातें।

दांत किटकिटाती जनवरी की उस पहली ही सुबह बाबा हमारे घर आ गए तो फिर कई और लोगों को भी बुला लिया गया। एक अर्से बाद बाबा जबलपुर और नागपुर होते हुए सादतपुर लौटे थे। जबलपुर में ज्ञानरंजन के पास ठहरे थे और हरिशंकर परसाई के स्वास्थ्य का समाचार दे रहे थे कि वे अधिक देर बैठ

नहीं पाते लेकिन पूरी तरह चैतन्य हैं स्वस्थ हैं अखबार पढ सुन लेते हैं और अपना लेखन भी जारी रखे हुए हैं। नागपुर में कलाकार भाऊ समर्थ के सानंद होने का समाचार भी बाबा ने दिया था और आज जब यह सब कुछ याद कर रहा हू तो न बाबा है, न हरिशंकर परसाई, न ही भाऊ समर्थ। अब तो रमाकांत और डॉ. माहेश्वर भी हमारे बीच नहीं हैं।

नागपुर में ही बाबा ने विजयबहादुर सिंह के श्रीमुख से सुना था कि 'नवभारत टाइम्स' में उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान द्वारा उनके लिए घोषित पुरस्कार को प्रदान करने में किए जा रहे टालमटोल पर 'स्टोरी' छपी है। कुछ खोजी पत्रकार-साहित्यकार ही सरकार को नागार्जुन के सरकार विरोधी होने की खबर देते हुए उन्हें घोषित पुरस्कार न देने की सिफारिश कर रहे हैं। खोजी साहित्यकार-पत्रकारों का जिक्र आने पर बाबा अचानक अतीत में चले गए और अपने जीवन की कुछ अविस्मरणीय घटनाएं सुना गए थे। चेहरे पर मोहिनी मुस्कान बिखेरते हुए बाबा ने बताया था कि भले ही आज खोजी पत्रकारिता का जमाना हो, लेकिन 1958 के आसपास मेरी मुलाकात कुछ 'खोजी पाठकों' से भी हुई थी और तब मैं विकट स्थिति में फंस गया था। मेरा उपन्यास 'दुखमोचन' छपकर आया ही आया था और मैं पटना में था। पंचायत चुनावों में कम्युनिस्ट पार्टी का टिकट लेकर चुने गए मुखिया और सरपंचों के सम्मलेन में आए कुछ लोगों ने मुझे पहचान लिया और करीब आकर पूछा, "आप ... नागार्जुन हैं।"

मैने कहा, "हां, कहिए।" सुनकर उनमें से एक बोला, "नागार्जुन होकर ऐसी रद्दी किताब लिख मारी।" कहते हुए उसने 'दुखमोचन' की प्रति मेरे सामने कर दी और थोड़ी देर चुप रहकर बोला, "आपकी लेखनी के प्रति हमारे मन मे बड़ी श्रद्धा है। आपकी हर किताब हम ढूंढ़-ढूंढ़कर पढ़ते हैं। छपते ही 'दुखमोचन' हमने खरीदी और पढ़ी। आप तो आग उगलनेवाले लेखक रहे हैं, लेकिन यह किताब तो एकदम ठंडी है। हमारा श्रम, समय और धन सब बर्बाद हुआ। लीजिए अपनी रद्दी किताब, और लौटाइए हमारा पैसा।" अपने उस खोजी पाठक के गुस्से से मै विचलित हुआ। चलने लगा तो उसने रास्ता रोक लिया और कहा "जा कहां रहे हैं, आपको हम ऐसे ही नहीं छोड़ देंगे। जवाब देना पड़ेगा कि आपने ऐसी रद्दी किताब क्यों लिखी।" तब मैं उन्हें लेकर चाय की दुकान पर बैठ गया और 'दुखमोचन' लिखे जाने की पूरी कथा सुना दी।

उपेंद्रनाथ अश्क ने 'संकेत' निकाला, जिसके संपादकों में कमलेश्वर और मार्कण्डेय भी थे। कमलेश्वर और सुश्री सेठ ने दबाव डालकर 'संकेत' के लिए मुझसे 'वरुण के बेटे' लिखवा लिया। यह उपन्यास मैंने अश्क के घर रहकर ही

पूरा किया था यह बात वाले लोग जानते थे सो जब दुबारा इलाहाबाद जाना हुआ तो इस बार भारत भूषण अग्रवाल ने घेर लिया और लगे कहने कि आकाशवाणी के लिए एक उपन्यास लिखो, जिसे धारावाहिक रूप से प्रसारित करने का फैसला हम कर चुके हैं। मैंने भारत भूषण से कहा कि मुझे कहां इस पचड़े में फंसा रहे हो। मेरी जैसी रचनाएं हैं, वे प्रसारित करोगे तो तुम्हारी नौकरी खतरे में पड़ जाएगी और आकाशवाणी से प्रसारित होने लायक चीज तो मैं लिखने से रहा। इस पर भारत भूषण ने कहा कि प्रतिबद्ध लेखकों को आकाशवाणी के अधिकारी इसीलिए तो गरियाते हैं कि वैसे तो वे आग उगलते रहेगे, लेकिन जब संचार माध्यमों पर मौका दो तो मुकर जाएंगे। यह प्रगतिशील लेखकों के सामने एक चुनौती है। इसे गंभीरता से लीजिए और एक प्रगतिशील उपन्यास लिख डालिए। आपको अपनी बात लिखने की पूरी आजादी है। इस तरह भारत भूषण ने घेरकर 'दुखमोचन' लिखवा तो लिया, लेकिन उसे लिखते समय मेरे मन पर भारत भूषण की नौकरी जाने का खतरा बराबर बना रहा, इसलिए उपन्यास का स्वर वैसा नहीं हो पाया, जैसा मेरे लिखे हुए उपन्यास का होना चाहिए था। यह उपन्यास इलाहाबाद और लखनऊ आकाशवाणी से धारावाहिक रूप से प्रसारित हुआ था। इस उपन्यास में एक प्रसंग था : 15 अगस्त की रात है। चांदनी रात में तिरंगे की छाया में एक कुत्ता सो रहा है। आकाशवाणी वालो ने यह प्रसंग उड़ा दिया, लेकिन जब किताब आई तो मैंने उसमें यह प्रसंग फिर से जोड़ दिया। यह सब बताकर जब मैंने उन्हें देने के लिए जेब से पैसे निकाले तो उन्होंने लेने से इन्कार कर दिया और कहा, "पैसे मत दीजिए, लेकिन कान पकड़िए कि दोबारा फिर कभी ऐसी गलती नहीं करोगे।" मैंने कान पकड़े और कहा कि "हे खोजी पाठक महाराज, ऐसी गलती अब फिर कभी नहीं करूंगा।" और सचमुच फिर कभी वैसी गलती मैंने नही की।

सफदर हाशमी की हत्या से बाबा को गहरा आघात लगा था। उन्हें लगा कि क्रांतिकारी शक्तियों और दलों को इस परिप्रेक्ष्य में अपनी रणनीति पर पुनर्विचार करना चाहिए। गुंडातंत्र के सघन जालवाले इलाकों में इस तरह निहत्थे कलाकारों को रण में उतार देना क्या आत्मघाती कदम नहीं है? इसका मतलब तो यही हुआ कि 'आ बैल, मुझे मार'। इस तरह से तो सफदर हाशमी जैसी प्रतिभाएं एक-एक कर गुंडातंत्र की बर्बरता का शिकार होती चली जाएंगी। गाजियाबाद से लेकर शाहदरा तक का पूरा इलाका नव-धनाढ्यों और गुंडों का चरागाह बना हुआ है, जहां की पुलिस जनता के किसी काम नहीं आती, वह गुडो और नवकुबेरों का ही हितसाधन करती है। ऐसे स्थानों पर कवि सम्मेलन तक तो

ठीक है मगर नुक्कड नाटको के बारे मे पुनर्विचार करना चाहिए यह विधा तो पश्चिम बंगाल, केरल जैसे राज्यो में ही सफलतापूर्वक अपना काम कर सकती है जहां की पुलिस रंगकर्मियों की रक्षा कर सके। वैसे भी वामपथी शक्तियों के पास प्रतिभाशाली कलाकार कम ही हैं। इस तरह हम एक-एक कलाकार खोते गए तो एक दिन हमारे पास प्रतिभाशाली कलाकार रह ही नहीं जाएंगे। सतवंत और केहरसिंह को फांसी देने के मामले को भी बाबा दूसरी नजर से देखते थे। उनका सोचना था कि उन्हें फांसी की बजाय आजीवन कारावास की सजा देकर अगर कुछ और जिंदगियो की बलि रोकी जा सकती, जो कि फांसी की प्रतिक्रिया-स्वरूप हुई, तो ऐसा किया जाना चाहिए था। फांसी देने से न तो आतंकवाद मर गया न ही अलगाववाद की अब-तब उठने वाली चिंगारियां ही बुझ गई। इस संदर्भ मे जब सांप्रदायिकता की बात चली तो बाबा ने कहा था कि सांप्रदायिकता तो ऐसा विष भरा जगल है, जिस पर निर्ममता से बुलडोजर चलाने की जरूरत है और तब तक चलाने की जरूरत है, जब तक कि समूचा जगल जमींदोज न हो जाए। इसके बाद ही सामुदायिक सौहार्द की फसल लहलहा सकती है। अभी तक कम्युनिस्ट देश ही सांप्रदायिकता से लड़कर उसे जीत पाए हैं। अपने यहां तो राजनीतिक दल और राजनेता ही सांप्रदायिकता को पालते-पोसते हैं, जैसे रोते बच्चे को अफीम देकर मां सुला देती है, वैसे ही हमारे राजनेता धर्मरूपी अफीम से जनता को भुलावे में डाले रखते हैं। अफीम की इस उपज पर पाबंदी लगनी चाहिए।

तिब्बत और लद्दाख में सांप्रदायिकता नही है। लद्दाख में पति की मृत्यु होने पर बौद्ध युवती किसी भी जाति के युवक को अपना पति चुन सकती है। ऐसा ही ऐक्य भाव मुझे तिब्बत जाने पर भी मिला। मैं वहां एक मठ में टिका हुआ था कि एक व्यक्ति की मृत्यु होने पर उसकी पत्नी ने मुझे अपना पति बनाने का प्रस्ताव रख दिया। अब यह और बात है कि उस तिब्बती युवती का ऐसा प्रस्ताव सुनते ही मैं घबरा गया और वहां से भाग खड़ा हुआ। तिब्बत का ही एक और किस्सा सुनाया बाबा ने। रात में एक स्त्री साथ में आ लेटी तो उनकी घिग्घी बंध गई। रात-भर कांपते रहे कि पता नहीं, यह किस उद्देश्य से साथ आ लेटी है। चुड़ैल तो नहीं है कहीं। बेकाबू हृदय से रात गुजर गई तो सुबह उन्होंने देखा कि अरे यह तो उसी घर की स्वामिनी है, जिस घर में वे ठहरे हुए हैं। उन्होंने साथ लेट जाने का मकसद पूछा तो उसने बताया कि तुम्हें उढ़ाने के लिए मेरे पास पर्याप्त कपड़े न थे। तुम सर्दी मे ठिठुरकर मर जाते। सो, तुम्हें अपने शरीर की गर्मी देकर जिंदा रखने के लिए मुझे ऐसा करना पड़ा।

गणतंत्र दिवस की परेड बाबा की नजर में उच्च वर्ग के क्रीम क्लास का

एक मनोरजक तमाशा है उच्च अधिकारी यहा भी खूब खाते पीते और मौज उडाते हैं, जब कि जनता जमुहाइया लेती रहती है। हम आजाद है, पर दिक्कते देखकर लगता है कि हम क्या आजाद हैं। परेड के लिए लाखो बच्चों को तैयार करते हैं। बस्तर, मडला या नागालैंड से आदिवासियों को लाते हैं, पर उन्हें देते क्या हैं? दरअसल भारत को आजादी आसानी से मिल गई। लंबे युद्ध के बाद मिलती तो कुछ और बात होती।

II

30 अगस्त, 1989 की सुबह के 9 बजे बाबा ने दस्तक दी और फिर घर के बरामदे मे बैठक जम गई। उन्हें चिंता सता रही थी कि सादतपुर का इतना नाम है लेकिन यहां ऐसा क्या खास है : विष्णुचंद शर्मा 'सर्वनाम' निकालते हैं और कभी-कभी रामकुमार कृषक 'अलाव' का अंक निकाल देते हैं। इसीलिए मैं लोगो से कहता हूं कि यहां 500 भैंसें हैं और हर पांचवे घर में कंडे पथते हैं, यह साहित्यपुरी नहीं, कंडापुरी है, पर न जाने क्या है कि लोग सादतपुर आना चाहते हैं। उस दिन डॉ० विजयेन्द्र स्नातक बोले कि आप लोग मुझे सादतपुर बुलाते ही नहीं। मन में सोचा इनके आने-जाने के लिए टैक्सी का भाड़ा कहां से आएगा, पर अब जब त्रिलोचन को एक लाख रुपए का मैथिलीशरण गुप्त सम्मान मिला है तो उनके साहित्य पर विचार करने के लिए एक गोष्ठी का आयोजन सादतपुर मे होना चाहिए। अभी तो डॉ० नामवर सिंह ने फंसा दिया है · पाश के जन्मदिन पर गोष्ठी में जालंधर जाना है। वहां से लौटकर तय करते हैं कि क्या किया जाए। मैं प्रस्ताव रखता हूं कि यहां 'दिल्ली संवाद' नाम की संस्था हो और इसी नाम की एक लघुपत्रिका हो। बाबा सहमत हो जाते हैं और सुझाव देते हैं कि उसका एक अंक त्रिलोचन पर केंद्रित किया जाए, जो फरवरी, 1990 में उस समय छपे, जब त्रिलोचन को 'मैथिलीशरण गुप्त सम्मान' से सम्मानित किया जाए। बाबा बताते हैं कि त्रिलोचन की पत्नी उनसे सात साल बड़ी थीं, इसलिए वे उन्हें मदरली ट्रीट करती थीं। उनका निधन हो जाने से बेचारे अकेलापन अनुभव करते हैं। अब उन्हें सागर में नहीं, बल्कि अपने बहू–बेटे के पास रहना चाहिए, ताकि उन्हें अकेलापन न साले।

त्रिलोचन के बारे मे फैले कई प्रवादों पर टिप्पणी करते हुए बाबा बोले, बनारस में जब सुधाकर पांडे के कारखाने (नागरी प्रचारणी सभा) में त्रिलोचन बहुत कम पैसे पर काम कर रहे थे तो भी काम बड़ी तन्मयता और लगन से करते थे। मैंने देखा कि किस तरह सिर झुकाए वे काम में गडे रहते थे, कुछ बोलते

नही थे और जो आदमी बोलता नहीं है उसके बारे मे प्रवाद फैलने की सभावनाए खूब होती हैं और त्रिलोचन तब से लेकर अब तक वैसे के वैसे हैं, बहुत कम बोलने वाले और बहुत गम खाने वाले। अपने यहां कहा जाता है कि गम खाने वाला और कम खानेवाला आदमी सुखी रहता है, लेकिन कम खाकर त्रिलोचन सुखी नहीं, दुःखी होते हैं और मैं जब भी उनके साथ होता हूं, उनके खाने का खयाल रखता हूं, क्योंकि त्रिलोचन खाते भले ही कम न हों, मगर अपने खाने के बारे में किसी से कुछ कहते नहीं हैं। उनकी पत्नी बताती थीं कि इनके खाने के लिए थाली नहीं, थाले की जरूरत होती है, जो कमोबेश परात जैसा हो, जिसमे ढेर सारे चावल आ सकें, दाल और सब्जी कटोरी में नहीं, बड़े कटोरे में होनी चाहिए और रोटियां 25–30 तो होनी ही चाहिए। बड़े-बडे आलुओं को दो या चार टुकड़ों में काट कर पका देना पर्याप्त होता है, क्योंकि जितनी दाल या सब्जी छह लोगों को चाहिए, त्रिलोचन अकेले जीम जाते हैं। एक बार अनुशीलन वालों ने राची में जमावड़ा किया। रेलवे का बड़ा-सा होटल है, उसमें हम लोग ठहराए गए। वहां पहुचने तक त्रिलोचन काफी कम खाकर बहुत ज्यादा भूखे हो चुके थे। वेटर से मैंने कहा कि इस कमरे में (त्रिलोचन जिसमें ठहरे थे) छह लोगों का खाना भेजो। वेटर ने पूछा, "थाल एक ही होगा या छह?" मैंने कहा, "एक ही थाल में छह लोगों का खाना भेजो।" वेटर समझ गया और छह लोगों का पूरा खाना ले आया। छह लोगों का खाना खाकर पेट पर हाथ फेरते हुए त्रिलोचन ने संतुष्टि का भाव प्रदर्शित किया और बोले, "कई दिन के बाद आज ढंग से खाना नसीब हुआ है।"

जब माडल टाउन में थे तो उर्दू कोश पर काम रहे थे। पत्नी एक या दो रुपये जाते समय देती थीं तो त्रिलोचन पैदल ही दूरियां नापा करते थे। जब हमारे यहां आना होता तो रात बारह-एक बजे आते और फिर सुबह जाते। तब मेरी पत्नी उनके लिए एक-दो दर्जन केले, एक-दो किलो गाजर, मूली और प्याज इकट्ठा करती। और बाकी खाना तो होता ही होता। त्रिलोचन खूब मजे में खाते और परम संतुष्टि की मुद्रा में पेट पर हाथ फेरते तो मुझे भी परम संतुष्टि मिलती कि चलो, मित्र को कुछ तो संतोष मिला। अब बुढापे में त्रिलोचन का खुद से और अपने बाल-बच्चों से दूर सागर (मध्य प्रदेश) में रहना मुझे बिलकुल अच्छा नही लगता। सोचता हूं कि किसी दिन यमुना विहार जाऊं और उनके बेटे अमित और बहू से कहूं कि मेरे मित्र को वहां से बुलाकर अपने पास रखो। फरवरी में जब पुरस्कार मिले तो बहू भी समारोह में जाए और एक लाख रुपये का चेक उनके हाथ से छीनकर ले आए। उस एक लाख रुपये के चक्कर में त्रिलोचन दिल्ली

चले आएंगे और फिर यहां से कहीं नहीं जाएंगे। एक बार वे यहां आ गए तो फिर अब मैं उन्हें यहा से कहीं जाने नहीं दूंगा।

त्रिलोचन जब बनारस मे रहते थे तब, और जब दिल्ली में रहते थे तब भी बाबा से उनकी खूब छनती थी। ये दोनों रचनाकार सहयात्री कवि ही नहीं, आपस में गहरे मित्र भी थे। त्रिलोचन को मैथिलीशरण गुप्त सम्मान मिलने पर नागार्जुन को दोहरी खुशी हुई। एक तो सही कवि को सम्मान मिलने पर और दूसरी यह कि त्रिलोचन उनके परम आत्मीय मित्र ठहरे, इतने आत्मीय कि उनके बारे में तमाम सारे सही-गलत किस्से बताकर वे खूब मजा लेते हैं।

त्रिलोचन दिल्ली के माडल टाउन मे रहते थे तो एक दिन घरैतिन ने चक्की पर से आटे का कनस्तर लाने को भेजा। जाने को तो त्रिलोचन चले गए लेकिन फिर तीन दिन तक उनके दर्शन नहीं हुए और लौटने पर घरैतिन को बताया कि बनारस चला गया था। बनारस का ही एक और किस्सा है कि 1942 मे जब देश में भयानक अकाल पड़ा तो सरकार ने पहली बार राशनिंग शुरू की थी। इससे सबसे ज्यादा परेशानी हुई त्रिलोचन को, क्योंकि खाने और पीने मे वे भीम बलवान हैं।

उन दिनों खाने पर बैठते तो पचास-साठ फुल्के मजे में जीम जाया करते थे और तीस-पैतीस फुल्के तो एक बार में वे अब भी खा जाते हैं। सन् 42 की राशनिंग मे जब पूरा भोजन न मिल पाता तो त्रिलोचन तैर कर गंगा पार करते और गूलर पर चढकर दो-चार सौ गूलर रोज डकार जाते। गूलरों की यह हालत देखकर विधाता संकट में पड़ गए। गूलर को इस धरती से विलुप्त होने से बचाने के लिए एक जहरीला कीड़ा उन्होंने पैदा किया, जिसे भी त्रिलोचन जीम गए, मगर उसका जहर फैल जाने से मरते-मरते बचे तो फिर कभी भी गूलर न खाने की कसम खाई। इस तरह इस धरती से गूलर की जाति विलुप्त होने से बच गई, लेकिन खाने में अभी भी त्रिलोचन चतुर सुजान हैं। न खाए तो दस-पंद्रह दिन तक कुछ भी न खाएं और खाने पर उतर आएं तो दस--पंद्रह दिन तक जो भी मिलता रहे, खाते ही रहें। तरल-गरल, ठंडा-गरम, कुछ भी आप पेश करते रहिए, त्रिलोचन खाने से कभी इन्कार नहीं करेंगे। पिएंगे तो फिर पीते ही चले जाएंगे और अंततः होश खो बैठेंगे। अपनी इस तरह की हरकतों के कारण वे मुझे प्राय महाभारतकालीन चरित्र लगते रहे हैं, लेकिन आदमी वे बहुत साफ-स्वच्छ ह्रदय के है। उनके बारे में सच्चे-झूठे किस्से फैलाने में मुझे बहुत मजा आता है। हालांकि प्रचलित किस्सों में से अस्सी प्रतिशत झूठे होते हैं लेकिन त्रिलोचन कभी इन किस्सों का खंडन नहीं करते. बल्कि आप उनके

सामने ही उनके झूठे किस्से सुनाए तो मंद मंद मुस्कराते हुए खुद भी उन किस्सों का आनंद लेते रहेंगे।

III

21 सितंबर, 1989 को सुपरिचित कलाकार हरिपाल त्यागी के साथ बाबा सुबह की चाय पर हमारे साथ थे। आते ही उन्होंने रांगेय राघव की दो भागों में छपी संपूर्ण कहानियों के बारे में पूछा, क्योंकि उन्हें जयपुर जाना था। बाबा जहां जाते, वहां की नई-पुरानी प्रतिभाओं के बारे में पढ़कर जाते और संभव होता तो वहां जाने पर उनसे मिलकर भी आते। पाश के जन्मदिन पर जालंधर में हुए सम्मेलन में गए तो वहां उपन्यासकार जगदीश चंद्र को खोजते रहे। पता चला कि वे अब शायद होशियारपुर में रहते हैं। कुछ वर्ष यहां दिल्ली में भी रहे थे, तब कभीकभार बाबा से मिला करते थे। उन दिनों बाबा उनका उपन्यास 'टुंडा लाट' पढ़ रहे थे। बाबा से उनकी पहली कहानी का जिक्र किया तो बोले कि मुझे याद ही नहीं है कि मेरी पहली कहानी कौन-सी है, कब लिखी थी और वह कहां छपी थी? दरअसल मैं अपने को कहानीकार मानता ही नहीं, मैं तो मूलतः कवि हूं और उपन्यास भी मैंने मजबूरी में लिखे थे।

"मजबूरी में?" मैंने आश्चर्यचकित हो पूछा तो बाबा ने विस्तार से बताया था उपन्यास लिखने का कारण। मैंने उपन्यास क्यों लिखे, इसका कोई एक जवाब नहीं है, लेकिन उपन्यास लेखन की ओर प्रवृत्त किया एक प्रकाशक ने। उसने शरच्चंद्र के कई उपन्यास अनुवाद करने के लिए दिए। अनुवाद करते हुए लगा कि ऐसा कुछ तो मैं भी लिख सकता हूं। फिर अनुवाद के इस काम में माखी पर माखी बिठाने का क्या लाभ? और बस, अनुवाद-सनुवाद करना तो मैंने छोड दिया और लिखना शुरू कर दिया उपन्यास। उपन्यास लिखते हुए आशंका हुई कि कहीं प्रकाशकों के शिकंजे में न फंस जाऊं, सो उसके लिए कुछ सूत्र निश्चित किए। उपन्यास को लंबा खींचने के चक्कर में नहीं पड़ना चाहिए, क्योंकि लंबे उपन्यास प्रकाशक को मोटी कमाई तो करवाते हैं, पर उन्हें पढ़ता कोई नहीं है। इसलिए उपन्यास 200-250 पृष्ठ से अधिक नहीं होना चाहिए। उपन्यास लेखन के लिए ऐसी जगह और ऐसा स्थान चुनना चाहिए कि शुरू किया गया उपन्यास पूरा करके ही टस से मस हों। उपन्यास का कथाक्रम क्या होगा, कहानी कहा से शुरू होकर कहां पर खत्म होगी, यह पूर्व निर्धारित हो तो उपन्यास जल्दी पूरा होता है। उपन्यास में कितने पात्र और कितने अध्याय होंगे, यह भी पहले से ही तय रहे तो अच्छा रहता है। लेखक को पैसा दिलाने के मामले में उपन्यास सबसे आगे

है   लिखने से धन बरसता है किसी लेखक को उपन्यास लिखने से जितनी आय हो सकती है, उतनी किसी अन्य विधा में संभव नहीं और यदि उपन्यास का 'महाभोज' की तरह नाट्य रूपांतर हो जाए, 'तमस' या 'काला जल' या 'राग दरबारी' की तरह उस पर सीरियल बन जाए या 'चित्रलेखा' तथा 'त्यागपत्र' और 'सारा आकाश' की तरह से फिल्मांकन हो जाए तो फिर कहने ही क्या?

IV

24 सितंबर, 1989 को बाबा फिर हमारे घर आकर बैठे तो सपनों से लेकर पंजाब के हिंदी लेखकों की रचनाओं और हिंदी के प्राध्यापकों की भूमिका पर खुलकर बोले। बाबा ने कहा था कि हमारे पूर्वज कहते थे कि खीर बनाकर खाओ तो अच्छे सपने आते हैं, लेकिन मलाई खाकर सोने से और भी हसीन सपने आते हैं। हमारे बगाल की महिलाएं अच्छी किताबें अपने पास रखकर सोती हैं। वे सोचती हैं कि अच्छी चीजें आसपास हों तो नींद अच्छी आती है। कलकत्ता के 300 वर्ष पूरे होने पर बंगाल ने अपना पूजा पर्व कलकत्ता समारोह को समर्पित कर दिया। इसे कहते हैं सांस्कृतिक होना, सही मायने में सांस्कृतिक होना, लेकिन हिंदीभाषी इलाकों के संस्कार पूरी तरह से सामंतवादी हैं। इसीलिए इन इलाकों की जनता उस तरह से सांस्कृतिक नहीं हो पाई है, जिस तरह से उसे आजादी के बाद हो जाना चाहिए था। वामपंथ की ओर झुके हुए कुछ लोग बुर्जुआजी को भले ही कितनी गाली दे लें, लेकिन अंदर से पूरी तरह सामंतवादी होते हैं। इसीलिए युवकों और प्राध्यापकों ने अज्ञेय को पसंद किया, उपेंद्रनाथ अश्क को नहीं, क्योंकि दबी-ढकी रियलिटी को तो हम पचा जाते हैं, लेकिन नग्न यथार्थ हमे चुभता है। अश्क सब कुछ खुलकर कहते हैं, लेकिन उनके उपन्यास 'गिरती दीवारें' के नायक चेतन को उतनी स्वीकृति नहीं मिली, जितनी अज्ञेय के उपन्यास नायक शेखर को। पंजाब प्रांत के रमेश बत्तरा और तरसेम गुजराल ने काफी अच्छा लिखा है, लेकिन उनको उतनी स्वीकृति नहीं मिली, जितनी मिलनी चाहिए थी। लोग उन्हें न तो पढ़ते हैं, न ही गंभीरता से लेते हैं। पंजाब के जो लेखक हिंदी में लिखते-पढ़ते हैं, वे गुरुमुखी के दायरे में घुस नहीं पाते। बनारस लखनऊ, इलाहाबाद, भोपाल और दिल्ली के लेखकों पर सबकी नजरें जमी रहती है जबकि दक्षिण भारत में श्रीराम आयंगार, शंकर पुणतांबेकर तथा दामोदर खडसे जैसे अनेक लेखक अपनी-अपनी मातृभाषाओं की बजाय सीधे-सीधे हिंदी मे लिखते हैं। हम हिंदी वाले उनका मूल्यांकन नहीं करेंगे तो क्या होगा? उन्हे स्वीकृति नहीं मिलेगी तो अतंतः वे लोग निराश होकर हिंदी में लिखना छोड़ देगे। इससे राष्ट्रभाषा हिंदी का नुकसान होगा। दक्षिण भारत के हिंदी लेखकों के

मूल्यांकन का काम हमारे हिंदी के प्राध्यापक कर सकते हैं, लेकिन अब उनकी दृष्टि सीमित हो गई है। वे भी अब कोल्हू के बैल की तरह एक ही घेरे में घूमते रहते हैं। इस क्षेत्र में उनकी भूमिका निर्णायक हो सकती है। वे अत्यंत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं और वह उन्हें निभानी ही चाहिए।

हम अपने लेखकों की कोई खोज-खबर नहीं लेते। पाश की मृत्यु के बाद उनके परिवार की किसी ने कोई खोज-खबर ली? पाश की पत्नी के भाई से कोई मिला? पत्नी तो अमेरिका में रहती है। उसके पास पाश के खत आदि हो सकते हैं, पर हमने क्या किया, कुछ नहीं किया, लेकिन बंगाल में देखिए, 'फ्रंटियर' का 500 पृष्ठ का मोटा विशेषांक निकला। उसमें बुद्धदेव बसु के बेटी के नाम लिखे खत छपे हैं। उन खतो में घर-परिवार, दुनिया-जहान के अलावा साहित्य चर्चा भी हो सकती है। इससे साहित्यकार की गहराई का पता चलता है। हम लोग इन चीजों को गंभीरता से नहीं लेते। सब कुछ ऊपर-ऊपर से देखते हैं। दसियो हजार रुपये की मोटी-मोटी तनखाह लेनेवाले हमारे प्राध्यापकों को ऐसे काम अपने हाथ में लेने चाहिए, लेकिन वे ऐसे काम नहीं करेंगे। करेंगे भी तो कोई प्रोजेक्ट बनाकर पाश की पत्नी से मिलने के बहाने अमेरिका चले जाएंगे और घूम-फिरकर लौट आएंगे। काम को गंभीरता से लेने की बजाय मौज-मस्ती पर ज्यादा ध्यान देंगे। बीबीसी ने कुछ अफ्रीकी लेखकों के इंटरव्यू छापे, जिनमें से कई ने प्रकाशक से कहा है कि रायल्टी में हमें रुपया नहीं चाहिए, हमारी किताब छपवा दो, खेती दिलवा दो, गाय खरीद दो। हमें रुपया मत दो। रुपये का हम क्या करेंगे। और ऐसा किया भी गया, लेकिन हमारा मीडिया ऐसा नहीं करता। उसे इस दिशा में सोचना चाहिए।

V

3 अक्टूबर, 1989 की सुबह बाबा ने आकर देखा कि 'नवभारत टाइम्स' के इकोनामिक पृष्ठों पर मैं क्या छापता हूं और फिर बोले, "तुम्हें एक ऐसी किताब लिखनी चाहिए, जिससे यह पता चले कि मस्तिष्क से उपजे विचार और बाते किस तरह छपकर पत्रिका, किताब या अखबार के रूप में पाठकों तक पहुंचती हैं, क्योंकि अधिकांश हिंदुस्तान जाट माइंडेड है। उसे नहीं पता कि कौन-सा जिन्न है, जो किसी के मन-मस्तिष्क की बात छापकर उसके सामने पहुंचा देता है।" और फिर बाबा ने अनेक और बाते कहीं। बाबा बोले . अपने यहां अर्से से साक्षरता अभियान चल रहा है। लोग निरक्षर बूढ़ों को क ट ह ल पढ़ा-लिखाकर छोड़ देते हैं, ज्यादा से ज्यादा वे लोग दस्तखत करना सीख लेते हैं और सरकार

आकडे दे देती है कि फला प्रदेश मे साक्षरता 80 प्रतिशत तक पहुच गई है और अगले दो--चार साल मे साक्षरता शत--प्रतिशत हो जाएगी, लेकिन वास्तविकता क्या है, यह तो हम--आप अच्छी तरह जानते हैं।

1971 में जब मैं रूस गया तो मैंने वहां देखा कि जूते में पालिश करनेवाला भी दसवीं तक पढ़ा मिला। दसवीं के बाद वहां छात्र-छात्राओं को उनके मनचाहे काम में लगा दिया जाता है। आगे की पढ़ाई करनी है तो नाइट क्लासेज में पढो और अपने यहां क्या है? भेज दिया कालेज-यूनिवर्सिटी। चाहो तो बुढापे तक पढाई के नाम पर मटरगस्ती, गुंडागर्दी और राजनीति करते रहो, कोई रोकने-टोकनेवाला नहीं, जबकि रूस में आठवीं पास करते ही कुछ घंटे के लिए फार्म में या कारखाने में भेज दिया और उसके बदले में 100 रूबल या जितने भी हुए महीने में दे दिये। इस तरह से वे मानव श्रम का उपयोग भी करते हैं और महगाई को भी रोके रखते हैं। अपने यहां किताबों में गाय की तस्वीर बना देते हैं जबकि देश का बहुत-सा हिस्सा है, जैसे नागालैंड में, वे गाय की तस्वीर से चिढते हैं, क्योंकि उनके लिए सुअर ज्यादा उपयोगी है, कहीं मछली बड़े काम की होती है। अकाल पड़ता है तो थोड़ा-सा अन्न और मछली से काम चल जाता है। सो अपना देश बहुभाषी और बहुजातीय है, उसकी विविधता में उसे स्वीकार करने की कला इस देश को अभी सीखनी है, वरना तो जैसे बदायूं और खरगौन मे खून-खराबा हो जाता है, इसी तरह से हम अनंत काल तक रक्त-स्नान करते रहेगे।

VI

24 अक्टूबर, 1992 को बाबा के घर जाकर हम जमे और दशहरा-दीवाली से लेकर बाबरी मस्जिद तक पर पूछा तो बाबा ने कहा कि दीपावली का पर्व जब शुरू हुआ होगा तो विजय की खुशी में दीप जलाए गए होंगे। उसी की अनवरत परपरा में आज भी जश्न मनाया जाता है, जैसे शादी-ब्याह या बच्चे के जन्म पर खुशियां मनाते हैं। आदिकाल से इसके कई माध्यम रहे हैं, जिनमें कुछ खत्म हो गए, कुछ अभी भी मौजूद हैं, कुछ नए माध्यम इधर उभर रहे हैं, जैसे बिजली के झुमके। खुशी के उन्माद में लोग वातावरण को गुंजायमान कर देते हैं। कुछ नही हुआ तो रामायण का अखंड पाठ ही करवा देते हैं, जो कई दिन तक चलता रहता है और लाउडस्पीकर लोगों की नींद हराम कर देता है। खुशी के इस उन्माद मे लोग यह भी ध्यान नहीं रखते कि पड़ोस में कोई बीमार है, बच्चों को परीक्षा देने जाना है। और तो और, शहरों में लोग इतने संवदेनहीन हो गए हैं कि बगल के

घर मे कोइ मरा पडा हो तो भी उनके उल्लास उत्पात पर कोई फर्क नहीं पडता दरअसल यह नवधनाढ्य वर्ग के वैभव का निर्लज्ज प्रदर्शन ही अधिक है। यह उल्लास का उन्मादी रूप है और हमारे समाज के लिए घातक है, यह बात हमे जाननी-समझनी चाहिए और अपने उल्लास में डूबते समय पड़ोसी से पूछ लेना चाहिए कि इससे आपको कोई तकलीफ तो नहीं हो रही है। जनता के जानमाल की सुरक्षा का जिम्मा यद्यपि सरकार और प्रशासनिक अधिकारियों का है, लेकिन अधिकारी भी उल्लास के इस उन्मादी रूप को बढ़ावा देते हैं। मैं नहीं कहता कि सारे अफसर ऐसे ही हैं, पर जो ईमानदार लोग हैं, वे चुप्पी साधकर बैठ जाते हैं। उनकी यह चुप्पी भी हमारे समाज के लिए घातक है। उन्हें कुछ न कुछ तो करना चाहिए, भले ही कुछ बुराई क्यों न मोल लेनी पड़े। पहले गांव में अगर किसी संभावनाशील-प्रतिभाशाली युवक की मृत्यु हो जाती थी तो पूरा का पूरा गांव शोक में डूब जाता था और अगर उस दिन दीवाली हो तो पूरे गांव में एक भी दीप नहीं जलता था। आज अगर किसी को यह बात बताई जाए तो कहा जाएगा कि ये किस पिछड़े समाज की बात कर रहे हैं, पर मैं पूछता हूं कि क्या वह समाज पिछड़ा हुआ था? दीवाली का जो विजय के उल्लासवाला रूप था, वह तो उसी पिछड़े समाज में था, जिसकी एक बहुत पुरानी परंपरा रही है।

बाबा बोलते चले जा रहे थे : इलाहाबाद में सम्राट हर्ष गंगा-यमुना के संगम पर ऐसा ही शरद उत्सव मनाया करते थे, जो महाकुंभ जैसा होता था। हर्ष पर बौद्ध संस्कृति की छाप भी पड़ी थी, परन्तु वह सच्चे अर्थों में सेकुलर (धर्मनिरपेक्ष) भावनाओंवाला अच्छा और भला अत्यंत लोकप्रिय सम्राट था। इलाहाबाद में आज भी संगमवाली जगह से आगे गंगा के दूसरे किनारे पर झूसी नाम का उपनगरीय अंचल है, वहां तक सम्राट हर्ष के महासमारोह का फैलाव पहुंचता था। इन दिनों रेलवे की छोटी लाइन का पुल इलाहाबाद के दारागंज वाले इस तटवर्ती उपनगर को झूसी से पुल के जरिए जोड़ता है। झूसी का पुराना नाम प्रतिष्ठानपुर था। मेरे कहने का मतलब यह कि हमारे देश की संस्कृति प्रारंभ से ही सामासिक संस्कृति रही है। इसे व्यापक जनसमूह की मान्यता प्राप्त रही है। इधर अल्पमत का नवधनाढ्य वर्ग अपनी धौंसपट्टी से व्यापक जन समुदाय को अपने काबू में कर लेने की कोशिश में लगा हुआ है। इसीलिए उल्लास को उन्माद में बदले दे रहा है। मंदिर-मस्जिद विवाद भी इसी उन्माद की राष्ट्रीय अभिव्यक्ति है। इस उन्माद की लपटें अब बहुत ऊंचाई तक पहुंच चुकी हैं। कहा जा रहा है कि रामजन्म भूमि पर मंदिर बनाने में पांच वर्ष का समय लग जाएगा और बहुत संभव है कि मंदिर निर्माण की दूसरी पंचवर्षीय योजना भी तैयार की जा रही हो। इसके लिए मंदिर

निर्माण के कर्त्ता धर्त्ता वास्तुकला के विशेषज्ञो से प्राप्त नमूनो को मूर्त रूप देने के लिए जनता से न जाने कितनी धनराशि वसूलेंगे? मंदिर निर्माण के संदर्भ में हमारे मन में तो एक और विलक्षण कल्पना दौड़ रही है कि रामजी का जन्म किस महल की किस कोठरी में हुआ, इसकी खोज होनी चाहिए। माता कौशल्या जच्चाखाने मे कितने दिन रहीं। महाराज दशरथ को रामजन्म की सूचना कहां, कैसे और किसने दी और उसके बदले में उन्होंने सूचना देने वाले को क्या उपहार दिया? कैकेई का तो तब पता तक नहीं था। वह तो बाद की बात है। मथरा भी तब तरुणी रही होगी। महल में उसका प्रवेश नहीं हुआ होगा। मेरी असल जिज्ञासा यह रही है कि अयोध्या में सरयू नदी के किनारे महाराज दशरथ के महलों की न जाने कितनी कतारें रही होंगी। आदिकवि ने इस बारे में हमें कुछ नही बताया तो हम और आप किस खेत की मूली हैं, जो जान सकें कि रामजी का जन्म किस भूमि पर हुआ था?

बेचारा बाबर तब कहां था? बाबरी मस्जिद तब भला किस कल्पना में रही होगी, क्योंकि मस्जिदवाली संस्कृति इस्लाम की देन है और इस्लाम कुल जमा 1300 वर्षों की तवारीख पर खड़ा है। कहां ये तेरह सौ वर्ष और कहां वह आदिकवि वाल्मीकि का युग! तुलसी बाबा तो बहुत बाद के हैं। राम कथा के सिलसिले में तुलसी बाबा तो मेरी निगाह मे एक भोले शिशु के समान हैं और मुझे विश्वास है कि यह बात कहने के लिए आचार्य रामचंद्र शुक्ल हमारे जैसे ढीठ व्यक्ति को अपने सात्विक प्रकोप का भाजन नहीं बनने देंगे।

कहते हुए बाबा चुप हो गए तो लगा कि जैसे एक्जॉस्ट हो गए हों और फिर वे लेट गए। वे लेट गए तो मुझे भी भान हुआ कि दफ्तर के लिए लेट हो रहा हूं। तब तक चाय आ गई तो लेटे-लेटे ही बाबा ने चाय पीने का इशारा किया। जल्दी-जल्दी चाय खत्म कर चलने की इजाजत मांगी और चला आया। तब क्या पता था कि बाबा के साथ बैठकर पल दो पल बात कर सकने का यह आखिरी मौका है। इसके बाद वैसा मौका फिर कहां नसीब हो सका, क्योंकि फिर सादतपुर ही मुझसे छूट गया, एक और दुखांत, जिसमें बाबा से बिछड़ना भी शामिल है। बाबा से फिर सिर्फ एक बार और मिलना हो सका, साहित्य अकादमी के जनवरी, 1994 के उस कार्यक्रम में, जिसमें रामविलास शर्मा ने जीवन के कुछ अछूते प्रसंग साहित्यिकों के सामने उजागर किए थे। वही थी बाबा से हुई मेरी अतिम मुलाकात, जिसमें बाबा ने नए डेरे पर चलने की इच्छा व्यक्त की थी। तब मैंने कोई छोटा-मोटा आयोजन कर उन्हें बुलाने का वादा किया था, पर कहां कुछ कर-करा सका, जीवन-युद्ध ही कुछ इतना विकट और विकराल था कि अस्तित्व

को बचाए रख पाना ही मुश्किल लग रहा था। जीवन की वह अंधेरी-काली रात कुछ ऐसी भयावह रात थी कि सुबह की उम्मीद तो थी, मगर उस समय कुछ भी सूझ नहीं रहा था। काश! बाद के बेहतर वर्षों में कुछ बार बाबा को मयूर विहार ला पाया होता और कर ली होतीं उनसे कुछ और खट्टी-मीठी बातें, क्योंकि भेटवार्ता के लिए वे आसानी से तैयार नही होते थे। हां, आत्मीय जनो से आत्मीय बैठकों मे बड़ी आसानी से खुल जाते थे और हर कहीं बतरस का खेल खेल लिया करते थे। ये पन्ने बाबा से समय-समय पर हुई बतरस का ही तो परिणाम है अनायास, अचानक, बिना किसी तैयारी के हुई बतरस का, जिन्हें मैं बाद मे लिपिबद्ध कर लिया करता। इसलिए इन्हें औपचारिक भेंटवार्ता शायद नहीं कह सकते, पर वार्ता तो वार्ता होती है, किसी भी रूप में कैसे भी और कहीं भी हुई हो। वैष्णवों का क्या, किसी भी रूप में कुछ भी लिख-बोल सकते हैं। यशपाल ने तो सपने मे सीता से इंटरव्यू कर 'संतोष का क्षण' लिख मारा था। ऐसे ही राजेन्द्र यादव ने एंतोन चेखव से एक लंबा इंटरव्यू कर डाला था, उनके निधन के सिर्फ पचास साल बाद। और ये कृतियां हिंदी की निधियां हैं। मैंने तो फिर भी, बाबा से हुई बतरस को ही लिपिबद्ध किया है।

सादतपुर के दिनो मे बाबा ने सुझाव दिया था कि अपने पत्रकारीय लेखन से चुनकर कुछ संचयन तैयार करू। दो सचयन तैयार किए तो विषय सूची देखकर बाबा बड़े खुश हुए और बोले कि इनकी भूमिका मैं लिखूंगा और उन्होने लिखी भी। बाबा की वह टिप्पणी 'पत्रकारिता के आयाम' के ब्लर्ब के रूप मे प्रकाशित हुई। वह शायद बाबा की उस टिप्पणी का ही प्रसाद रहा होगा कि मेरी उस किताब को हिंदी अकादमी, दिल्ली का साहित्यिक कृति पुरस्कार मिल गया। बाद में उसे कुछ दूसरे पुरस्कार भी प्राप्त हुए और देखते ही देखते कई संस्करण हो गए। दूसरा संचयन है 'वैष्णवों से वार्ता'।

सादतपुर के दिनों में ही तय हुआ था कि बाबा के साथ तरौनी जाऊगा फिर दरभंगा, चंपारन और पटना आदि घूमूंगा। फिर विदिशा जाऊंगा और फिर इलाहाबाद और बनारस। जहरीखाल उस अभियान का अंतिम पड़ाव होगा। इस अभियान की चर्चा हिंदी अकादमी के तत्कालीन सचिव डॉ. नारायण दत्त पालीवाल से हुई तो उन्होंने अभियान को अकादमी का अभियान बना देने की पेशकश की और अंतिम पड़ाव (जहरीखाल) में बाबा की अध्यक्षता में उत्तर प्रदेश और दिल्ली के लेखकों के एक सम्मेलन का मन बना लिया, पर... फिर सब कुछ उलट-पुलट गया। 'बाबा के साथ' नाम की किताब की वह योजना भी जस की तस फाइलो मे दबी रह गई फोटोग्राफी का एक सेशन भर हो सका था और कुछ नहीं

राजनीतिक स्थितिया ही इसकी जिम्मेदार नहीं रही मेरी पारिवारिक जिदगी भी एक बड़ी बाधा बनी। दफ्तरी जीवन में भी उलटपुलट हुआ। ईशान की बीमारी और फिर उसका निधन। नित–निरंतर जीवन को खौफनाक बनाते हादसे... साहित्य और जीवन की सीधी मुठभेड... आंसू, हंसी, रुदन,हास-परिहास और उपहास का एक लंबा दौर, जिसमे बाबा मुझसे छूट ही गए थे जैसे। कैसे उन्हें पकड़ पाऊं, कुछ सूझता ही न था और फिर एक दिन... उनके न रहने की खबर पाकर सन्न रह गया।

बिहार प्रांत के गांव तरौनी (जनपद : दरभंगा) के एक ब्राह्मण परिवार मे 1911 में ज्येष्ठ पूर्णिमा को जन्मे बाबा की प्रारंभिक शिक्षा-दीक्षा सस्कृत में हुई। असली नाम वैद्यनाथ मिश्र। रवींद्रनाथ ठाकुर की एक कविता की पक्तियों 'पतन अभ्युदय वंधुर पंथा, जुग-जुग धावित जात्री, तुम चिरसारथि, तव रथचक्रे मुखरित दिन-रात्री' से प्रभावित होकर लेखन के लिए यात्री उपनाम रख लिया। यात्री नाम से इनका प्रारंभिक लेखन मैथिली में शुरू हुआ और मैथिली कविता संग्रह 'पत्रहीन नग्न गाछ' पर ही इन्हें साहित्य अकादमी पुरस्कार (1968) मिला। चित्रा (कविता सग्रह) तथा 'पारो' उपन्यास भी मैथिली में ही लिखे गए, लेकिन श्रीलंका मे बौद्ध भिक्षु बनने पर बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन के नाम पर नागार्जुन नाम धारण किया और नागार्जुन नाम से हिदी में लिखने लगे। बाग्ला और संस्कृत पर भी बाबा का अधिकार था। बांग्ला पत्रिका 'देश' अक्सर उनके हाथ मे देखता, कभी–कभी उसे पढते हुए भी मैंने उन्हें पाया। 'धर्मलोक शतकम्' में उनकी संस्कृत कविताएं सग्रहीत हैं। हिंदी कविता के लिए मैथिलीशरण गुप्त सम्मान (मध्य प्रदेश), संपूर्ण साहित्य के लिए भारत-भारती सम्मान (उत्तर प्रदेश), राजेंद्र सम्मान (बिहार) तथा राहुल सम्मान (पश्चिम बंगाल) से सम्मानित हुए। हिंदी मे प्रकाशित प्रमुख कृतिया हैं 'सतरंगे पंखोंवाली', 'युगधारा', 'प्यासी पथराई आंखें', 'तालाब की मछलिया , खिचड़ी विप्लव देखा हमने', 'पुरानी जूतियों का कोरस', 'तुमने कहा था', 'ऐसा क्या कह दिया मैंने' 'इस गुब्बारे की छाया में', 'ऐसे भी क्या हम, ऐसे भी क्या तुम , रत्नगर्भ' तथा 'हजार-हजार बाहों वाली' (कविता संग्रह), 'भस्मांकुर' (खंडकाव्य) बाबा बटेसरनाथ', 'दुखमोचन', 'रतिनाथ की चाची', 'वरुण के बेटे', 'बलचनमा कुभीपाक', 'हीरक जयंती', 'उग्रतारा', 'इमरतिया' तथा 'नई पौध' (उपन्यास), अन्नहीनम् क्रियाहीनम्' तथा 'बम भोलेनाथ' (निबंध) और 'आसमान में चंदा तैरे (कहानी सग्रह)। परम घुमक्कड़ और फक्कड नागार्जुन की जनसंघर्षों में सक्रिय हिस्सेदारी रही, जिसके चलते जीवन में कई बार जेल की हवा भी खाई। वे सही अर्थों में जनता के लेखक थे। जीवन भर कहीं टिककर नहीं बैठे, अपने घर तो

बिलकुल नहीं। पूरा भारतीय उपमहाद्वीप उनका अपना घर था। नेपाल, तिब्बत, श्रीलंका और भारत में वे घूमते ही रहे। शायद इसीलिए 'बाबा बटेसरनाथ' के रचयिता नागार्जुन को हिंदी के पाठकों ने आदर से 'बाबा' कहकर अपना बाबा कुबूल कर लिया था, पूरे सादतपुर गांव ने भी, लेकिन हिंदी का यह जनकवि मिट्टी में मिलने के लिए दिल्ली को छोड़कर अपने जनपद वापस वहीं लौट गया, जहां की मिट्टी में उसका जन्म हुआ था और 5 नवंबर, 1998 को वहीं उसने अंतिम सांस ली। अंतिम दिनो में उनका मन करता था कि दिल्ली, विदिशा (म.प्र.), जहरीखाल (उत्तरांचल) तथा देश के विभिन्न नगरों में रहनेवाले अपने आत्मीय जनों को वे देख सकें, पर तब तक यात्री, जनकवि यात्री कोई भी यात्रा करने लायक नहीं रह गए थे, सिवा अपनी अंतिम यात्रा पर चले जाने के। यांत्रिक जीवन मे बंधे-फंसे हम दिल्ली वालों में से कोई भी बाबा की मिट्टी को अंतिम प्रणाम न कर सका। प्रश्न उठता है कि क्या बाबा ने दिल्ली को वैसा ही माना, जैसा कबीर ने काशी को समझा और अपने अंतिम दिनों में मगहर चले गए थे? अंतिम समय में नागार्जुन की जन्मभूमि वापसी की उलटबांसी : कबीर की भी जन्मभूमि कहीं मगहर ही तो नहीं थी? वहीं किसी ब्राह्मणी-अब्राह्मणी विधवा-सधवा की कोख में किसी अवर्ण-सवर्ण ने तो नहीं रोप दिया था उन्हें, या क्या पता, वह कोई तुरक ही रहा हो। कोई हमें सही-सही बता सकता है क्या? इतिहास की पोथियां मौन, यह उलटबांसी बूझे कौन? □

आवारा मसीहा के तपस्वी सर्जक

विष्णु प्रभाकर

बहुत महत्त्वाकांक्षाएं न पालें रचनाकार

21 जून, 1912 में उत्तर प्रदेश के मीरापुर (मुजफ्फर नगर) में जन्मे विष्णु प्रभाकर से हिंदी का कोई भी पाठक शायद ही अपरिचित निकले, बल्कि 'आवारा मसीहा' के कारण तो वे बांग्ला पाठकों के भी सुपरिचित लेखक हैं। 'धरती अब भी घूम रही है' नाम की इनकी कहानी अंतर्राष्ट्रीय कहानी प्रतियोगिता में पुरस्कृत हुई थी। लगभग तीन सौ कहानियां लिखनेवाले विष्णु प्रभाकर हिंदी के परम वैष्णव लेखक माने जाते हैं, जो प्रारभ में गांधी के विचारों से प्रभावित हुए, लेकिन बाद मे उनकी आस्था समाजवाद में हो गई। सैकड़ों एकांकी और अनेक नाटक तथा उपन्यास लिखनेवाले इस लेखक को जीवनियां लिखने में महारत हासिल है और शरत की जीवनी 'आवारा मसीहा' ने ही इन्हें ख्याति के शिखरो के स्पर्श कराए। हिंदी में अगर फुल टाइम लेखकों पर नजर दौडाएं तो विष्णु प्रभाकर उनमें सबसे आगे नजर आ जाएंगे। दिल्ली में कॉफी हाउस को नियमित रूप से गुलजार करनेवालों में भी वे अग्रणी रहे और नियमित लेखन करनेवालों में भी शायद ही कोई उनके मुकाबले में खडा हो सके। लेखन के लिए इन्हें सोवियत लैंड नेहरू अवार्ड के अलावा मूर्ति देवी पुरस्कार, शलाका सम्मान, राजेंद्र सम्मान, साहित्य अकादमी तथा सूर पुरस्कार मिले हैं। सब से हंसकर मिलनेवाले इस हंसमुख लेखक से हमारी अनेक मुलाकातें हुई और कुछ में कुछ महत्त्वपूर्ण बातें भी हुई।

आपकी पहली कहानी कब लिखी गई और कहां प्रकाशित हुई? प्रारभ में आपको किन लेखकों-संपादकों ने प्रोत्साहित किया?

मेरी पहली कहानी 'दीवाली के दिन' उन दिनों लाहौर से प्रकाशित होनेवाले दैनिक पत्र 'हिंदी मिलाप' के साप्ताहिक परिशिष्ट (नवंबर, 1931) में प्रकाशित हुई थी। उन्नीस वर्ष की उस उम्र में, तब मैं क्लर्क था। यह कहानी मैंने अपने 'प्रेमबधु' उपनाम से लिखी थी, जिसकी जानकारी मेरे घरवालों तक को नहीं थी। बड़े भाई

ने यह कहानी पढ़ी तो मैंने पूछा कि कैसी लगी? उन्होंने कहानी की, खासकर उसकी भाषा की तारीफ की तो मैंने बता दिया कि यह कहानी तो मेरी ही लिखी हुई है। उन्होंने मेरी पीठ ठोंकी और फिर आजीवन लिखने के लिए प्रेरित करते रहे। उनके प्रोत्साहन के कारण मैं निरंतर अच्छे से अच्छा लिखने की कोशिश करता रहा। यह तो था मेरा प्रारंभ, लेकिन गंभीरता से लिखना शुरू किया 1934 में। अपनी तीन-चार कहानियां मैंने लाहौर से ही निकलनेवाले मासिक पत्र 'अलंकार' के साहित्य संपादक चंद्रगुप्त विद्यालंकार को भेजकर राय मांगी तो उन्होंने दो कहानियों की स्वीकृति भेजते हुए लिखा कि आप तो अच्छा लिखते है लिखते रहिए। इतना ध्यान रखिए कि यह मनोविज्ञान का युग है। इस प्रकार छपी 'स्नेह' कहानी को मेरी पहली कहानी मान सकते हैं, जिस पर शरच्चंद्र का प्रभाव है। एक कहानी प्रेमचंद को भेजी थी तो उन्होंने लिखा था कि प्लाट अच्छा है, पर कहानी में सवाद भी होने चाहिए। जैनेंद्र ने भी मेरी एक कहानी की प्रशंसा की थी और अज्ञेय ने 'विशाल भारत' में 'बटवारा' कहानी छापी थी।

जिन दिनों आपने लेखन शुरू किया, उन दिनों का साहित्यिक माहौल कैसा था? पाठकों की स्थिति क्या थी? आज के नए लेखकों को क्या सलाह देना चाहेंगे?

हिसार का साहित्यिक माहौल उन दिनों अच्छा नहीं था। लोग लेखक बनने को अच्छा नहीं समझते थे। अध्यापक, वकील, डॉक्टर या इंजीनियर बनना ही अच्छा समझा जाता था, लेकिन हिंदी अच्छी होने के कारण आर्य समाज ने मुझे प्रतिष्ठा दी। आर्य समाजी सभाओं में भाषण के लिए मुझे बुलाया जाता था। हा आज की तुलना में तब लोग हिंदी साहित्य को ज्यादा पढ़ते थे, साहित्य मे लोगों की रुचि भी ज्यादा थी। बडे लेखकों के प्रति नए लेखक आदर और श्रद्धा का भाव रखते थे, जिसका आज के नए लेखकों में नितांत अभाव है। मुझे याद है कि जब मैं जैनेंद्रजी से मिलने गया तो जीना चढ़कर ऊपर जाने में झिझक हो रही थी। उनकी पत्नी ने देखा तो ऊपर बुलाया। उन दिनों थोड़े से लेखक हुआ करते थे, लेकिन आज लेखकों की भीड़ है और वे महत्वाकांक्षी भी बहुत ज्यादा हैं। सब एक-दूसरे को गिराकर आगे बढ़ जाना चाहते हैं। तब कौटुंबिक भावना थी जिसका आज सर्वथा अभाव हो गया है। तब नए-पुराने में सौहार्द का भाव था आज विरोध का भाव है। श्रद्धा-स्नेह का भाव अब नये-पुराने में कम ही दिखता है लेकिन यह अकारण नहीं है, क्योंकि संभावनाएं समाप्त-सी हैं। लेखकों को जरूरत से ज्यादा महत्वाकांक्षाएं नहीं पालनी चाहिए और कम से कम में गुजर करने की आदत डाल लेनी चाहिए।

II

आपने गुलाम भारत को देखा है और 15 अगस्त, 1947 में आजाद हुए भारत को भी। इन बदली हुई परिस्थितियों में आप भारतवासियों को किस रूप में देखते हैं? स्वाधीनता संघर्ष में हिंसा-अहिंसा के द्वंद्व को भी आपने देखा-भोगा है। वह सब याद करते हुए इस कठोर समय में जीना कैसा लगता है?

स्वाधीनता का अर्थ है अपने को दायित्व से बाधना, न कि खुद को किसी भी प्रकार के दायित्व से मुक्त मान लेना। 15 अगस्त, 1947 से पहले हममें से अधिकांश ने स्वाधीनता और स्वतंत्रता के अर्थ में अपने आपको किन्हीं निश्चित कर्तव्यों के अधीन मान रखा था, लेकिन देश के स्वाधीन होते ही कुछ ऐसी हवा बही कि सब कुछ उलट गया और आज स्थिति यह आ पहुंची है कि हर आदमी अपने अधिकारों का उपयोग तो करना चाहता है, लेकिन वह खुद को किसी भी दायित्व से बंधा हुआ नहीं मानता। दायित्वहीनता का आलम यह है कि देश बहुराष्ट्रीय कंपनियों के जाल में फंसता जा रहा है और कोई भी कुछ कर सकने का साहस नहीं दिखा पा रहा। ऐसा तो तब भी नहीं था, जब हम स्वाधीनता की लडाई लड़ रहे थे। आपस में विचार-भेद तो तब भी थे, लेकिन लक्ष्य सबका एक था . देश को अंग्रेजों की गुलामी से मुक्त कराना। हिंसक और अहिसक मार्ग मे से किसका चुनाव करें, इस पर तीखा मतभेद था, मगर अनावश्यक हिंसा के पक्षधर क्रातिकारी भी नहीं थे। चंद्रशेखर आजाद ने यशपाल से कहा था कि बम का अनावश्यक प्रयोग मत करना। और गांधीजी भी विकट परिस्थिति आ जाने पर ही मरने या फिर मारने की बात कहते थे। कायरतावश प्राण बचाकर भागने से बेहतर तो गांधीजी भी हिंसा को ही ठहराते थे। इस संदर्भ में गांधीजी के जीवन की एक घटना याद आ रही है : कुछ लडकियों को गुंडों ने छेड़ा तो भागती हुई वे गांधीजी के आश्रम में आई। गांधीजी के सचिव मसरूवाला ने उनसे कहा, 'भागकर क्यो आईं, उन्हें चप्पलों से पीटा क्यों नहीं?' गांधीजी का सचिव और यह हिंसक उपाय?

लड़कियां संशयग्रस्त हो गईं और गांधीजी के पास पहुंचीं तो उन्होंने भी मसरूवाला की बात का समर्थन किया, बल्कि उन्होंने तो और भी आगे बढ़कर गुण्डो पर छुरे से हमला करने की बात कही, लेकिन जहां तक आजादी की लडाई का सवाल है, रणनीतिक तौर पर गांधीजी ने अहिंसक मार्ग का चुनाव किया था, लेकिन क्रांतिकारियों की नीयत पर उन्हें किंचित भी संदेह न था। वे उन्हें गुमराह देशभक्त मानते थे। विश्वयुद्ध के समय जब हिटलर ने चेकोस्लोवाकिया

पर आक्रमण किया तो गुलाम होने के बावजूद गाधीजी ने के पक्ष मे बयान दिया और स्वाधीन हो जाने के बाद जब वैचारिक संघर्ष पैदा हुआ तो रूसी टैंकों ने चेकोस्लोवाकिया को रौंद दिया और तत्कालीन प्रधानमंत्री इंदिरा गाधी ने रूस के विरुद्ध एक भी शब्द नहीं कहा। यह अपनी स्वाधीनता को सीमित करने का एक उपक्रम था।

आप जैसे लोग नेहरू और डॉ. राजेंद्र प्रसाद से सीधे मिल लेते थे और प्रायः मिलते रहते थे, लेकिन बाद में क्या हो गया कि वह सब बंद हो गया। आजाद भारत में क्या ऐसा ही होना चाहिए था? इसके लिए आप किसे जिम्मेदार मानते हैं? भारत की वर्तमान हालत को किस रूप मे देखते हैं?

देश के स्वाधीन होने के कुछ दिन बाद तक तो सब कुछ ठीकठाक चला मगर... तब राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री के दरवाजे हम जैसे लेखक-कलाकारो के लिए हमेशा खुले रहते थे। हम जब चाहते थे, वहां जा सकते थे और उनसे मिल सकते थे और अब तो वहां घुसना भी कठिन हो गया है। जाएं भी तो शायद भगा दिए जाएं। कितना अंतर आ गया है, तब और अब में? पंडित जवाहरलाल नेहरू बडे दिल के आदमी थे। वे चाहते तो इस देश का इतिहास कुछ और दिशा ले सकता था, मगर उनमे फैसले लेने की क्षमता और दृढता नहीं थी। सरदार पटेल नहीं होते तो हैदराबाद और जूनागढ़ जैसी रियासतें इस भारत में अनेक स्वतत्र देशों के रूप में मौजूद होतीं या फिर दसियों छोटे-छोटे पाकिस्तानी हिस्से भारत भर में फैले होते। कश्मीर छोड़कर भाग रहे शेख अब्दुल्ला को किदवई और पटेल ने पकड़ा, वरना कश्मीर पाकिस्तान में मिल गया होता। जूनागढ़ का नवाब पटेल की दृढ़ता से घबराकर भाग खड़ा हुआ था।

दरअसल अपनी स्वाधीनता का हम सही-सही विश्लेषण नहीं कर पाए और आजादी मिलने के बाद बहुत जल्दी निजी स्वार्थों और पार्टियों के दंद-फंदो मे उलझ गए। नेहरूजी अकेले ऐसे व्यक्ति थे, जिनमें अगर दृढ़ता होती, चाणक्य जैसी दूरदृष्टि होती तो स्वाधीन भारत फिर स्वर्ण युग की ओर बढ़ सकता था, लेकिन वे दरअसल राजनीतिज्ञ नहीं थे, वे महज राष्ट्र नेता थे, राजनेता बनी उनकी बेटी, इंदिरा गाधी, जिसने पाकिस्तान को तोड़ दिया और फिर जरूरत पड़ी तो अपनी पार्टी को भी तोड़ दिया। देश का वास्तविक पतन भी इंदिरा गांधी से ही शुरू हुआ, खासकर अपने बेटे संजय गांधी का अनावश्यक पक्ष लेने और उसके इस कदर तानाशाह बन जाने के बाद। यहां तक कि उन्होंने इस देश पर आपातकाल थोप दिया और फिर चुनाव हार गईं। लालबहादुर शास्त्री को समय

नहीं मिला और अगला कोई नेता ऐसा हुआ नहीं जो देश को सही नेतृत्व दे पाता। नेहरू ने देश की जनता को मोह लिया था और अगर वे फैसले ले पाते तो जनता को जहां चाहते, ले जा सकते थे, माओ की तरह, लेनिन और फिदेल कास्त्रो और होची मिन्ह की तरह, मगर नेहरू का सामंतवाद उनकी और देश की सारी संभावनाएं चाट गया। वे सामंतों की तरह दिव्य और भव्य दिखना चाहते थे, राष्ट्रपति राजेंद्र प्रसाद को उतने दिव्य-भव्य राष्ट्रपति भवन में उन्होंने ही जबरन रखा, अपनी और अपने देश की डिग्निटी की बडी चिंता थी उन्हें और इसी ने देश से गांधीजी का मार्ग छुडवाकर हमें इस मुकाम तक पहुंचा दिया है कि ईस्ट इडिया कंपनी के जरिए गुलाम बननेवाले हम भारतीय एक बार फिर बहुराष्ट्रीय कपनियों के चंगुल मे फंसते हुए फिर गुलामी की ओर बढ़ रहे हैं। आज आजाद हिदुस्तान कहीं दिखता है आपको? उसका कोई रहबर दिखता है, जिससे हम कोई उम्मीद कर सकें। यह भी छोड़िए, हर तरफ आदमी नहीं, खुदा ही खुदा आज दिख रहे हैं और इतने खुदाओं को लेकर क्या करेंगे, जब कोई आदमी ही नही रहा जा रहा। अंग्रेज आजादी का अर्थ जानते थे। वे किसी पर मोहित नहीं होते थे। विश्वयुद्ध जीतने के बावजूद ब्रिटेन की जनता ने चर्चिल को उखाड़ फेंका लौह-ललना थैचर के पांव भी उखड़ गए और अपने यहां? लकवाग्रस्त नेहरू अत समय तक कुर्सी से चिपके रहे, इंदिराजी मर कर हटीं और राजीव गांधी भी अगर जीवित रहते तो शायद बहुत समय तक कुर्सी पर रहते। यह आजाद देश के आजाद ख्याल नागरिकों का करिश्मा नहीं है। हम दरअसल आजादी का मतलब ही नही समझ पाए और आज हमारी व्यवस्था ध्वस्त होने की कगार पर है, लेकिन हमारे पास विकल्प ही कहां हैं? अगर होते तो क्या नरसिंह राव लुंज-पुंज हालत में भी पाच बरस कुर्सी पर जमे रह पाते? वी.पी. सिंह, चंद्रशेखर, देवेगौड़ा, गुजराल, अटलबिहारी वाजपेयी तक सबको हमने देखा, पर ये सब क्या कर सके?

इस किताब के छपते-छपते हमने कोशिश की कि विष्णुजी से एक और बातचीत हो जाए, पर उन्हें पकड़ना बहुत आसान होते हुए भी मेरे लिए आसान नही हुआ। एक प्रश्नावली भेजी तो उत्तर आया।

विष्णु प्रभाकर, 818, कुण्डेवालान चौक, अजमेरी गेट, दिल्ली-110006

प्रिय भाई,

आपका पत्र मिला। इधर काफी दिनों से मेरी तबीयत खराब चल रही है। नज़ला, जुकाम और बुखार से परेशान हूं। आयु के कारण परेशानी और बढ़ जाती है इसलिए कोई काम नहीं कर पाता। आपके प्रश्नों के उत्तर जल्दी देना तो सभव

नहीं होगा, जरा तबीयत सुधरे तो सोचूं, क्योंकि और भी प्रश्नावलियां मेरे पार पड़ी हैं। मेरी लघुकथाओं को लेकर जहां तक मुझे याद है, एक-दो लेख आ जरूर थे, पर मेरे पास मिल सकेंगे, मुझे सदेह है। डॉ. महीप सिंह ने मेरे बारे ंे जो पुस्तक निकाली थी, उसमें ललित शुक्ल का एक लेख है। उसकी जरूरत हे तो जीरॉक्स कराकर भिजवा सकता हू या आप मेरे पास से पुस्तक मंगवा लीजिए और देखने के बाद लौटा दीजिएगा। वस्तुतः मेरी रचनाओं की देखभाल करने वाला कोई नहीं है। पुरानी फाइलें टटोलूंगा तो शायद कोई और लेख मिल जाए। फिलहाल तो मैं कुछ नहीं कर सकता। मकान के कारण मुझे आजकल बहुत भागना पड़ रहा है। आपकी परेशानी समझता हूं। आशा है, आप स्वस्थ और प्रसन्न होंगे। शेष शुभ।

स्नेही

विष्णु प्रभाकर

प्रश्नों के उत्तर पाने के लिए मिले आमंत्रण पर मैं जाकर प्रश्नों के उत्तर ले पाता, इसके पहले ही वह हादसा हो गया, ट्रेजडी, नीच ट्रेजडी : वर्षों की कमाई से विष्णुजी ने एक मकान खरीदा था। किसी को किरायेदार रख दिया और,,, मुकदमेबाजी हाईकोर्ट तक हुई और विष्णुजी अंततः जीत गए। जिस दिन उन्हें मकान की चाबी मिलनी थी, वह तो मिली नहीं, उल्टे कोर्ट-कचहरी के कागज उनके सामने थे कि अर्सा पहले उन्होंने किसी को अपना वह मकान बेच दिया था। उसने फिर किसी और को बेचा और उसने भी जिसे बेचा, वह कब्जा किए बैठा है उनके मकान पर। और हम जानते हैं कि भारत की न्याय व्यवस्था कब्जाधारी के पक्ष में ही जाती है : जिसकी लाठी, उसकी भैंस। फिर आप लाख कहते रहिए कि यह धोखाधड़ी का मामला है। अपने आपको उस मकान का मालिक सिद्ध करने के लिए दसियों साल तक फिर कोर्ट-कचहरी में मुकदमा लडने के लिए तैयार हो जाइए या चुप लगाकर बैठ जाइए और देश की न्याय व्यवस्था को कोसते रहिए... अब आपके पास धनबल और बाहुबल है तो अंततः आप मुकदमा जीत जाएंगे, बशर्ते जितने साल मुकदमा चले, आप अमृत पीकर जीवित रहें : बीसियों साल तक या क्या पता आपकी कई पीढ़ियों को मुकदमा लड़ने के बाद अंततः जीत हासिल हो ही जाए, क्योंकि अपने यहां कहा जाता है कि 'सत्यमेव जयते', लेकिन तब तक ... तब तक क्या करें विष्णुजी, कहां जाएं विष्णुजी, 89 साल के विष्णुजी ......

उखड़े हुए लोगों के जमे हुए सर्जक

राजेन्द्र यादव

सर्जना को मार देता है रुटीन का बंधन

बीसवीं सदी के आखिरी दो दशकों की हिंदी पत्रकारिता की जब भी बात होगी, उसमें राजेन्द्र यादव के मासिक पत्र 'हंस' की चर्चा जरूर होगी और आजादी के बाद के हिदी कथा साहित्य से राजेन्द्र यादव को बेदखल कर सकना किसी के लिए भी शायद संभव नहीं होगा। सारा आकाश, उखड़े हुए लोग, शह और मात कुलटा, अनदेखे अनजान पुल अथवा मंत्रविद्ध जैसे उपन्यास रहे हों या देवताओं की मूर्तियां, खेल खिलौने, जहा लक्ष्मी कैद है, छोटे-छोटे ताजमहल, किनारे से किनारे तक, टूटना, ढोल अथवा वहां तक पहुंचने की दौड जैसे कहानी संग्रह अथवा एक दुनिया : समानान्तर, कहानी : स्वरूप और संवेदना, कहानी : अनुभव और अभिव्यक्ति, उपन्यास : स्वरूप और संवेदना, औरों के बहाने या कांटे की बात के अनेक खंड, जब भी छपे, प्रायः चर्चित रहे। अपनी कृतियों के अलावा भी आंदोलनधर्मी रहे राजेन्द्र यादव की चर्चा का ज्वार कभी थमा नहीं। कभी 'नई कहानी' की वजह से तो कभी हिंदी में दलित लेखन की पक्षधरता के कारण वे लगातार शेष हिंदी जगत के निशाने पर रहे हैं, जबकि सच शायद यह ज्यादा है कि जैनेंद्र-अज्ञेय से लेकर विद्यानिवास मिश्र, निर्मल वर्मा, धर्मवीर भारती, अशोक वाजपेयी और नामवर सिंह तक न जाने कितने लोग उनके निशाने पर रहे है। और तो और, उन्होंने नन्हें-नन्हें खरगोशों तक का शिकार करने में कभी संकोच नहीं किया और 'न हन्यते' का मंत्र जपते-जपते सबको प्रायः हन-हन कर मारते रहे हैं। मारा है, और खुद भी बहुत मारे गए हैं, लेकिन तारीफ करनी होगी कि जिन्हें मारा, वे भी और जिन्होंने इन्हें मारा, वे भी, राजेन्द्र यादव से किनारा प्राय नहीं कर सके। इसके पीछे शायद बहस और संवाद को लगातार चलाए रखने की उनकी कभी न खत्म होने वाली इच्छा ही सक्रिय रही है।

नए से नए लेखक-पाठक से मिलना, उसकी बात सुनना और संभव हो तो उसको संतुष्ट करना राजेन्द्र यादव का शग़ल रहा है। भारत और भारत से बाहर

के जितने लेखकों-पाठकों को राजेन्द्र यादव ने चाय पीते-पिलाते तृप्त किया है हिंदी का कोई दूसरा लेखक-संपादक शायद ही कर सका हो। उनकी जैसी अड्डेबाजी विष्णु प्रभाकर ने ही की है, लेकिन चर्चा-परिचर्चा के अनवरत चक्र मे राजेन्द्र यादव उन्हें बहुत पीछे छोड़ चुके हैं और यह सिलसिला अभी थमा नही है। न थमे, यही कामना है, क्योंकि नामवर सिंह, राजेन्द्र यादव, ज्ञानरजन और अशोक वाजपेयी जैसों की उपस्थिति भर हिंदी के साहित्य-परिदृश्य को जवान और ऊर्जावान बनाए रखने का काम करती है। डॉ. रामविलास शर्मा, भीष्म साहनी विनोदकुमार शुक्ल, कामतानाथ, गिरिराज किशोर और संजीव जैसे रचनाकार सिर्फ अपने काम मे तल्लीन रहते हैं, जबकि राजेन्द्र यादव जैसे लोग अपने कम, दूसरों के काम ज्यादा करते हैं। कुछ का काम तमाम भी करते है। बहरहाल, 28 अगस्त, 1929 मे जन्मे राजेन्द्र यादव आगरा, मथुरा, झांसी और कलकत्ता मे विचरण करते हुए अर्सा पहले दिल्ली आ बसे तो फिर दिल्ली ने इन्हें कहीं और जाने ही न दिया, गालिब की तरह। राजेन्द्र यादव कई कोणों से मुझे राजेंद्र यादव कम, गालिब ज्यादा लगते रहे हैं, पर राजेन्द्र भी वे जितने हैं, मुकम्मल हैं। उनके जैसा नीर-क्षीर विवेकी लिक्खाड़ संपादक पिछले पंद्रह-बीस वर्षों में कोई दूसरा तो दिखा नहीं है, निर्भीकता में भी उनका सानी नहीं है। इस अर्थ में शायद कबीर से ही उनकी तुलना की जा सके, मगर ऐसी तुलनाएं हमें किसी मुकम्मल निष्कर्ष तक नहीं पहुंचातीं। न वे कबीर हैं, न गालिब, बल्कि उनसे अलग और अपने समय के सर्जक राजेन्द्र हैं, 'हंस' संपादक राजेन्द्र यादव।

28 अगस्त, 1999 को राजेन्द्र यादव सत्तर वर्ष के हुए तो उन्हें पचास साल पीछे लौटा ले जाने की इच्छा हो आई। इसके पीछे मेरी मंशा यह रही कि हम जान-समझ सकें कि हमारे इस वरिष्ठ कथाकार ने कब अपनी 'कथायात्रा' शुरू की, उनकी पहली रचना कब और कैसे लिखी गई और जब वह छपी तो उन्हे कैसा लगा और आज लेखन में जो पीढ़ी उनके सामने है, उसे वह किस रूप मे लेते हैं। अपने उस जमाने की तुलना में इस जमाने को कैसा पाते हैं और युवा लेखकों से उनकी क्या अपेक्षाएं है, क्या शिकायतें हैं और अग्रज होने के नाते अनुज लेखको से वे क्या कहना चाहते हैं?

वे बोले, "अब तो यह बहुत पुरानी बात लगती है, पचास साल कोई कम तो नहीं होते, लेकिन सत्तर साल...मानने का मन नहीं होता कि मैं सत्तर साल का हो गया हूं और तुम हो कि पहली रचना के छपने के रोमांच की बात ले बैठे, पर आज शायद उस मुकाम को याद करना मुझे भी अच्छा लगे। बात शायद मई 1947 की है जब मैं इंटरमीडियट का विद्यार्थी था बीसवीं सदी के तीसरे चौथे

दशक में 'चाद' पत्रिका का बहुत नाम था। बरसों महादेवी वर्मा उसकी संपादिका रहीं। हर लेखक की इच्छा होती थी कि वह 'चांद' में अपनी रचना छपाए। उन दिनो मैंने दो उपन्यास लिखे थे, जो ढाई-ढाई, तीन-तीन सौ पृष्ठों से क्या ही कम रहे होंगे, जिन्हे छपाने की बजाय मैंने फाडकर फेंक देना ज्यादा उचित समझा था मगर क्रातिकारियों के जीवन पर केंद्रित अपनी कहानी 'प्रतिहिंसा' मैंने 'चाद' के कर्ता-धर्ता और सपादक रामरख सिंह सहगल को भेज दी, जो 'चाँद' के बद हो जाने पर एक दूसरी पत्रिका 'कर्मयोगी' निकालने लगे थे। उन्होंने कहानी का स्वीकृति-पत्र भेजा तो लगा कि जैसे कोई ताम्रपत्र मिल गया हो। 'कर्मयोगी' मे मेरी पहली कहानी 'प्रतिहिंसा' छपकर आई तो लगा कि जैसे मैं अचानक ही सिहासन पर बिठा दिया गया हूं और लगा कि वाकई में कुछ हो गया हूं, औरो से भिन्न, अलग और कुछ विशिष्ट तथा सम्माननीय। रचनाकार शायद ऐसा होता भी है। कहानी पढ़कर अनेक पाठकों ने मुझे खत लिखे, जिनमें एक लम्बा खत मेरे नानाजी का भी था, जो आर्यसमाजी सुधारक किस्म के प्राणी थे और भयंकर स्वाध्यायी थे। गिरिजाकुमार माथुर उनके शिष्य रहे थे। कई पाठकों के पत्र मिले, लेकिन किसी जाने-माने लेखक की कोई प्रतिक्रिया, राय या सलाह मुझे नहीं मिली तो काफी दुख और क्षोभ हुआ, शायद यही वजह रही हो कि आगे चलकर मै नए से नए लेखकों से संवाद रखना अपना पहला कर्तव्य मानने लगा और 'हस' में भी तुमने देखा होगा कि कितने नए लेखकों को प्रमुखता से स्थान और महत्व देकर छापा।

नए लेखकों से एक ही शिकायत है कि वे रियाज नहीं करते। जिस तरह से कोई संगीतज्ञ रात-दिन रियाज करता है और फिर महफिल में अपनी कला का उत्तम प्रदर्शन करता है, उसी तरह युवा लेखकों को भी खूब लिखना चाहिए और कम से कम छपाना चाहिए। अभी भी मेरे पास मेरे लिखे हुए कम से कम ढाई हजार पृष्ठ ऐसे हैं, जिन्हें मैं ओन नहीं करता। युवालेखक कम से कम लिखकर अधिक से अधिक यश और धन प्राप्त करना चाहते हैं, जबकि हमारी पीढ़ी में यह बात नहीं थी। जो हासिल करने में हमें दसियों बरस लग गए, युवा लेखकों को वह सारी विरासत तुरन्त हासिल हो जाती है। वह चाहे शेक्सपीयर रहा हो तोल्स्तोय, दोस्तोयव्स्की, रवींद्रनाथ ठाकुर, शरच्चंद्र, प्रेमचंद या अपने अमृतलाल नागर, इन्होंने कितना-कितना लेखन किया और जो लोग श्रीचन्द्रधर शर्मा गुलेरी का नाम लेते हैं, उन्हें इस बीच उपलब्ध हुआ उनका ढेर सारा साहित्य पढ़ने का कष्ट करना चाहिए और रांगेय राघव ने तो खैर लिखा ही ढेर सारा है। तो...युवा लेखकों को इस कांप्लेक्स से उबरना चाहिए कि कम लिखनेवाला अच्छा लिखता

है। अधिक लिखना घटियापन का सबूत बिलकुल नहीं है। यह किसी भी लेखक के कड़े लेखकीय अनुशासन का परिणाम है, वरना तो प्रेमचन्द को दस-पंद्रह कहानियां और दो-तीन उपन्यास ही लिखने चाहिए थे।

लेखकीय स्वाधीनता के लिए नौकरी न करने और कोई पुरस्कार न लेने के अपने निर्णय को बिहार सरकार का एक लाख रुपये का पुरस्कार लेकर भंग करने की क्या मजबूरी आ पड़ी थी?

यह सच है कि अपनी लेखकीय स्वाधीनता के लिए नौकरी या लाभ का कोई पद कभी न ग्रहण करने का निर्णय मैंने प्रारंभ में ही ले लिया था, बाद मे उसमें कोई पुरस्कार न लेने का भी निर्णय शामिल हो गया, जिसे ईमानदारी से निभाने की कोशिश ताउम्र की है। अक्षर प्रकाशन चलाते हुए लगभग पच्चीस साल बड़ी आर्थिक तंगी में गुजारे, लेकिन अपने उन निर्णयों से कभी डिगा नहीं। लेखन और प्रकाशन को लेकर मेरे दिमाग मे जो आदर्श थे, अक्षर के माध्यम से उन्हे मूर्त करते-करते पच्चीस साल बाद लगने लगा कि इस तरह 'अक्षर' अब और नहीं खिंच सकता। उसे बाजारू बनाऊ या बंद कर दूं या क्या करूं, कुछ समझ मे नहीं आ रहा था कि कुछ मित्रों के आग्रह और सहयोग से 'हंस' का प्रकाशन शुरू करने का एक नया विचार मूर्त रूप ले बैठा, लेकिन कोई मजबूत आर्थिक आधार तो था नहीं। सो, दो-तीन साल बाद ही खतरे की घंटी बजनी शुरू हो गई। कभी इससे विज्ञापन लेकर, कभी उससे मदद लेकर 'हंस' चल रहा था कि 'अक्षर' की तरह फिर लगने लगा था कि अब 'हंस' भी बंद कर दूं। 'अक्षर' में मेरी सारी रायल्टी बाकी थी। तब एक ब्रेकिंग प्वाइंट (आपात-स्थिति) आ गया था। तभी बिहार सरकार ने एक लाख रुपये के पुरस्कार की घोषणा कर दी। मैंने आग्रह किया कि पुरस्कार मुझे नहीं, 'हंस' को मिले, पर ऐसा नहीं हुआ। पुरस्कार मुझे ही मिला और मैंने ले लिया,अपने लिए नहीं, 'हंस' के लिए, उसमें से एक पैसा भी मैंने अपने लिए नहीं रखा। मित्रों और संस्थाओं से 'हंस' के लिए पांच-दस हजार के विज्ञापन और मददें लेता ही था। सोचा कि चलो, इसी रूप में सही, एक जगह से सम्मानजनक तरीके से एक लाख रुपया मिल रहा है तो 'हंस' को कुछ और साल बचाये रखने मे मदद मिलेगी।

द्रोणाचार्य के जीवन में ब्रेकिंग प्वाइंट तब आया था, जब खड़िया के घोल का दूध बनाकर बच्चे को देने की स्थिति आ गई, जिससे वे टूट गए और कौरवो की शरण में चले गए। बच्चों को घास की रोटी खाते देखकर राणा प्रताप के जीवन में भी ब्रेकिंग प्वाइंट आ गया तो उन्होंने दिल्ली के सम्राट को सुलह का पत्र लिख दिया। वो तो उनकी पत्नी ने उन्हें संभाल लिया। 'हंस' की स्थिति देखकर

मेरे जीवन मे भी शायद ऐसा ही ब्रेकिंग प्वाइंट आ गया था और मैंने पुरस्कार ग्रहण कर लिया, किंतु थी यह 'हंस' को बचाने की रणनीति ही। 'हंस' के माध्यम से जारी सघर्ष को यह पुरस्कार लेकर चलाए रखने का निर्णय था। मेरा मानना और आग्रह अभी भी यही है कि संस्थाओं और पत्रिकाओ को भी ऐसे पुरस्कार मिलने चाहिए। यूनेस्को का पुरस्कार 'मोबाइल क्रैच' को मिला कि नहीं?

यानी पुरस्कारों को अब आप त्याज्य नहीं मानते?

मैं हर तरह के पुरस्कारों का विरोधी नहीं हूं। मेरा विरोध वैसे सरकारी पुरस्कारों से है, जो कृपा भाव से दिये जाते हैं, ताकि लेखक सत्ताधारी पार्टी के लिए प्रतिकूल न बने। ऐसी ही बात बाल ठाकरे ने एक बार मंच से कही थी। जनता का पैसा था, लेखकीय काम या संस्था के लिए उसे देकर ठाकरे जैसों को ऐसा कुछ कहने का अधिकार कहां से मिल जाता है? इस किस्म के सरकारी पुरस्कारों का मैं अब भी विरोधी हूं। न्याय लेने के लिए न्यायालय जाएंगे, पर अन्याय के विरुद्ध वहां भी अपनी आवाज बुलंद करने का हमारा अधिकार सुरक्षित है। सरकार से जैसा असहयोग आंदोलन गांधीजी ने छेड़ दिया था, आज हम नही छेड सकते। पुरस्कारों और राशि से ज्यादा महत्वपूर्ण बात यह होती है कि निर्णायक कौन हैं। बिड़ला, केड़िया और मोदी जैसे पुरस्कारों के निर्णायक कौन लोग होते हैं? वे ही खुशामदी और छुटभैये, जो सेठों के आस-पास रहते हैं। ऐसे पुरस्कार लेखकीय गरिमा को गिराते हैं। मैं मूर्खों को यह अधिकार नहीं देता कि वे मेरा मूल्याकन करें। सही जगह और सही निर्णायकों के द्वारा मिले पुरस्कार ग्रहण करने में कोई बुराई नहीं है। भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार का सम्मान है, लेकिन उससे बड़ी राशियां होने के बावजूद बिड़ला-मोदी पुरस्कारों का न कोई सम्मान है, न कोई महत्व, क्योंकि निर्णायकों की कोई हैसियत ही नहीं है। वे प्राय राजनीति-प्रेरित मीडियाकर लोग होते हैं। पुरस्कार देने वालों का फैसला उनका अपने आप पर भी फैसला होता है। लेखकों को सुविधाएं नहीं हैं कि बैठकर आराम से लिख सकें, उनकी किताबें तरीके से छप और बिक सकें और लेखक अपनी रायल्टी से गुजर-बसर कर सकें, उनके लिए सम्मानजनक व्यवस्था तो कोई करता नही है, न सरकारें, न बिड़ला या मोदी। अच्छी-खासी पत्रिकाएं बन्द करके पुरस्कार देने की नौटंकी का क्या मतलब? सरकार शिक्षा पर खर्च नहीं करेगी, कागज सस्ता नहीं करेगी, छपाई और डाकखर्च कम नहीं करेगी और दस गुने दाम की किताब खरीदकर डंप कर देगी। इसीलिए मुझे सरकारी पुरस्कारो से चिढ़ है। लेखकों को लेखकीय सुविधाएं न देकर पुरस्कार देने की क्या तुक है? ऐसा ही है तो उस राशि से पुस्तकें खरीदकर पाठकों में बांट दी जानी चाहिए

ताकि लेखक को रायल्टी के रूप मे भी कुछ मिले।

लेखक को किसी भी प्रकार के दबाव और प्रभाव डालने वाले प्रलोभनो मे नहीं पडना चाहिए ताकि उसकी व्यक्तिगत स्वतंत्रता बनी रहे। मुझे लगता है कि यह स्वतंत्रता लेखक को पाठक के आधार पर मिलनी चाहिए। 50 रुपये की बजाय 500 रुपये मूल्य होने से पाठक किताब नहीं खरीद सकता। मराठी के ग्रंथाली की तरह हिन्दी लेखकों को भी ऐसा आन्दोलन चलाना चाहिए कि किताब पाठक तक पहुंच सके। खुद को उदार और संस्कृति प्रेमी सिद्ध करने के लिए सरकार लेखकों को सम्मान और पुरस्कार देती है। यह ढोंग है, क्योंकि इससे लेखक प्रसन्न होता है और पाठक निराश। सच्चे लेखक को इस जालसाजी मे शामिल नहीं होना चाहिए।

अशोक वाजपेयी से अक्सर आपके कार्यकलापों की तुलना की जाती है और दोनों को तानाशाह या कभी-कभी माफिया तक कह दिया जाता है। आपका सृजन क्या इसीलिए बंद हो गया?

अशोक की राजनीति सांस्कृतिक सत्ता की राजनीति है। कुछ थोड़े से सभ्रान्त और सीमित वर्ग के बीच की राजनीति है। किसी ने उन्हें 'सांस्कृतिक जार' की संज्ञा दी है, लेकिन मेरी ऐसी कोई आकांक्षा कभी नहीं रही, बल्कि मै तो लोकतांत्रिक रूप से एक प्रभावशाली लेखक-संपादक होना चाहता हू। जिस मध्यवर्ग पर हमने, मोहन राकेश, कमलेश्वर, अमरकांत आदि ने काम किया, वह मध्यवर्ग आज कही नहीं है। मध्यवर्ग के जिन भावनात्मक संकटों को मैं पकड़ रहा था, आर्थिक सकटों को अमरकांत पकड़ रहे थे, वैसी कहानी आज शायद हास्यास्पद लगे। वह जद्दोजहद आज के मध्यवर्ग की नहीं रह गई है। वह मध्यवर्ग अब इतिहास की बात है, जिसकी चर्चा पवन वर्मा ने अपनी किताब 'ग्रेट इंडियन मिडिल क्लास' में की है। वह मध्यवर्ग ठहरा हुआ था, जबकि आज का मध्यवर्ग अपने आपसे बाहर जाने को लालायित है, ज्यादा गतिशील है। ग्लोबलाइजेशन और उदारीकरण के चलते उस मध्यवर्ग का ढांचा चरमरा गया है। वह ऊपर की ओर लपक रहा है, जबकि 1950 से 1970 तक का मध्यवर्ग लगभग गतिहीन स्थितियों में रहता था, भावात्मक समस्याओ के द्वंद्व में पड़ा था। वह एक विकल्पहीन, प्रतीक्षा करता खामोश वर्ग था। उस पर वैसे ही या कुछ नॉस्टैल्जिक लेखन का अब कोई मतलब नहीं। इसलिए लिखना नहीं होता। वैसे भी आज कौन लिख रहा है? और जो लिख रहे हैं, उसका मतलब है कोई?

निर्मल वर्मा का उपन्यास आया है अभी 'अंतिम अरण्य', वे तो बराबर लिख रहे हैं। उनके लेखन की चर्चा भी प्राय होती रहती है

लिख नही रहे बार बा" उन्ही स्थितियो को दोहरा रहे है भाषा से खेल रहे हैं। वही कुछेक चरित्र, वही पहाड़ी एकांत और वही भाषा... उनकी भाषा पर ही बात होती है। चरित्रों का वैविध्य कहां है उनके पास? और चरित्रों के बगैर कैसा लेखन, किसका लेखन ! निर्मल की स्थिति को प्राप्त होना मुझे दहशत से भर देता है, जो एक ही घेरे मे पचास साल से घूम रहे है।

चलिए, मान लिया कि आप हिंदी के सबसे प्रभावशाली लेखक-संपादक हैं। फिर भी, संपादकी न करते तो, क्या आपको नहीं लगता कि तब कुछ और उपन्यास-कहानियां हो सकती थीं आपकी रचनावली में?

लगता क्यों नहीं, पर जो नहीं है, उस पर विलाप क्या करना। प्रेमचद पत्रिका भी निकालते रहे, लेखन भी करते रहे, पर तब पत्रकारिता इतनी डिमांडिग नही थी। आज 'हंस' जैसी पत्रिका निकालते हुए लिख पाना आसान नहीं है, 'पहल' जैसी लघुपत्रिका ही निकालते हुए ज्ञानरंजन कहां कुछ लिख पाए। 'धर्मयुग' ने भारती को मार दिया। हां, 'हंस' के सपादकीयों जैसा लेखन तो मै शुरू से ही करता रहा हूं। इधर 'हंस' के लिए नियमित रूप से कर रहा हू। कहानी-उपन्यास लिखने के लिए जैसी स्थितियां चाहिए, वैसी नसीब नहीं होतीं। गोष्ठियों ने परेशानी और बढा दी है। ऊपर होने का खामियाजा हम लोगों को भुगतना पड़ रहा है। नामवरजी इसका दयनीय उदाहरण हैं। दूसरे तय करते हैं कि हमें किस विषय पर क्या सोचना है और क्या बोलना है, लेकिन मैं उनसे अपने को थोड़ा अलग मानता हूं। मैंने किसी एक जगह रुकना नहीं सीखा। मैंने लेखन मे लगातार प्रयोग किए और अपने लिए नित नए मार्ग तलाशे। 'हंस' का सपादकीय लेखन भी उसी का परिणाम है। नामवर या निर्मल की स्थिति मुझे नहीं सुहाती।

राजेंद्रजी मूड में बोलते चले जा रहे थे कि तभी फोन ने उन्हें तलब किया। उधर कृष्णाजी थीं, कृष्णा सोबती। कई मिनट बातें इधर से उधर और उधर से इधर की यात्रा करती रहीं और जब फोन महाशय चुप हुए तो मैं भी यात्राओं पर उतर आया, राजेंद्रजी की यात्राओं पर।

लेखक के लिए यात्राएं जरूरी मानी जाती हैं। आप अपनी यात्राओं और विदेश-यात्राओं की इच्छाओं के बारे में बताइए कुछ...

विदेश-यात्राओं की सुविधाएं थीं, अवसर भी थे, लेकिन विदेश-यात्राओ ने कभी मुझे आकर्षित नहीं किया। अपने देश के विभिन्न प्रदेश आज भी मुझे आकर्षित करते हैं। बहुल जगह गया, पर कश्मीर और कोडइकनाल नहीं जा सका। वहां जाने का मन है। विदेश-यात्राओं से हिन्दुस्तानी खुद को सांस्कृतिक

रूप से पिछड़ा हुआ महसूस करने लगता है या फिर पश्चिमी देशों के विकास से आक्रांत हो दीनभाव को प्राप्त करता है। एक बार डेढ महीने के लिए रामविलास शर्मा और अमृतलाल नागर के साथ दक्षिण भारत की यात्रा पर निकल गया था, बिना किसी खास उद्देश्य और आमंत्रण के। लगभग पूरा दक्षिण भारत घूम आया था उन दोनो के साथ और बाद में तो यात्राएं, सुविधा-यात्राए हो गई, उन्हें आमंत्रित और प्रायोजित यात्राएं कहना चाहिए। बहुत दिनों के बाद ओड़िया कवि जे.पी. दास के साथ मई, 1999 में हैदराबाद गया, मीनाक्षी मुखर्जी और सुजीत से मिलने। किसी साहित्यिक व्यक्ति से नही मिला, सिर्फ मित्रो से मिलने गया था। प्रायोजित यात्राओं से यात्रा का आनंद नहीं मिलता। शुरू-शुरू में नैनीताल-कसौली गया कई बार, लिखने के लिए। अपने से बाहर जाकर लोगों से मिलना मेरा शगल रहा है। किताब पढकर भी यही काम करता हूं, भौगोलिक से लेकर मानसिक यात्रा तक। अभी भी मन करता है कि किसी हिल स्टेशन पर चुपचाप कुछ दिन गुजारूं और कोई कहानी या उपन्यास लिख लाऊं।

दलित और महिला लेखन को लेकर आप लगभग आंदोलनधर्मी हो उठे थे बीसवीं सदी के आखिरी दशक में। इसके बीज 'नई कहानी' के दौर में कहीं नहीं दिखते। कहां है इसका केंद्र बिंदु?

मैं 1948 में प्रगतिशील लेखक संघ से जुड़ा। वामपंथियो की सहानुभूति शोषितों और वंचितों से रही है। किसानों-मजदूरों के संघर्ष से वे जुड़े रहे हैं। उस वामपंथी सोच के तहत ही मैंने सोचा कि शोषण या अन्याय सिर्फ आर्थिक नहीं होता, वह सामाजिक रूप से भी होता है। दलितों और स्त्रियों के साथ बहुत अन्याय हुआ। उनके अवसर छीने गए। वे हमेशा हाशिए पर रहे। मेरा ध्यान प्राय उन पर जाता रहा। दलित और महिला लेखन की पक्षधरता मेरी उसी सोच का विस्तार है। वैसे मेरी कहानियों और उपन्यासों के जो पात्र हैं, उनकी दबी-खुली आकाक्षा इस शोषण तंत्र के विरोध की है। इसी से वे अपनी शक्ति पाते हैं। सामाजिक परिवर्तन की वाहक आज या तो स्त्रियां हैं या फिर दलित। उनकी आकांक्षाओं और संघर्षो पर सोचे बिना हम किस समाज की बात कर सकते हैं। इतिहास का विषय बन चुका हमारे समय का मध्यवर्ग आज इन्हीं शक्तियों से जुड़कर खुद को सार्थक महसूस कर रहा है। आज की तमाम सारी लेखिकाओ और संजीव, शिवमूर्ति, प्रेमकुमार मणि जैसे लेखकों के लेखन में इसीलिए ताजगी और जीवंतता है। हम लोगों में किसी हद तक रेणु का लेखन इसीलिए आज भी ताजा लगता है, क्योंकि वहां भारत के ग्रामीण समाज के दलित-पीडित तबके और स्त्रियों के दुख और पीडा और संघर्ष को वाणी मिली है।

यह बात ठीक है लेकिन भाषा भाव और शिल्प की जिस उत्कृष्टता से हम वाकिफ है, जो हमारा सोदर्य शास्त्र है, उससे इस वर्ग के लेखन को रियायत या छूट देना कहां तक जायज है?

भाषा, भाव और टेक्नीक का जो हमारा वर्तमान विकास है या जो साहित्यिक अभिरुचि और बोध है, वह डेढ़-दो सौ वर्षों का है और वह भी पश्चिम के कारण हुआ है। हम उस विदेशी सौन्दर्य शास्त्र को ही अपना पैमाना बना चुके है। इसमें भरत मुनि या पुराने आचार्यो के शास्त्र हमारी कोई मदद नहीं करते पश्चिम का शास्त्र करता है। दिक्कत यह है कि हमारा प्राचीन सौंदर्य शास्त्र हमे निर्वेद या निर्विकल्प समाधि की ओर ले जाता है, उधर पश्चिम का शास्त्र हमे आतरिक संतोष और आनंद की ओर ले जाता है। हम एक अजीब दुनिया में पहुच जाते हैं, जहां आनंद और संतोष की एक लोकोत्तर दुनिया होती है, जिसे वे ऍस्थेटिक-प्लेज़र या स्प्रिचुअलब्लिस कहते हैं। आपकी आत्मा को वह अद्‌भुत सौदर्य और आनंद का आस्वाद देता है, मगर ऐसा सौंदर्य शास्त्र और साहित्य एक विशिष्ट वर्ग के लिए ही होता है, जिसकी कोई खास चिंताएं नहीं हैं। हम लोग भी पश्चिम के उन्हीं साहित्यिक-सांस्कृतिक संस्कारों में रच-बस गए हैं, लेकिन पिछले तीस-चालीस सालो मे दलितों और स्त्रियों का एक नया वर्ग दुनिया भर मे उभरा है। कालों का साहित्य आया, तीसरी दुनिया के अन्य देशों का साहित्य आया।

भाषा, भाव और शिल्प की उत्कृष्टता की शिकायत उस साहित्य से हो सकती है, लेकिन उसमें जो यातना है, संघर्ष है, न्याय की पुकार है, उसे आप कैसे अनदेखा करेंगे? ऐसा लगता है कि यह सारा साहित्य न्याय की मांग कर रहा है। रामायण, महाभारत और कालिदास के 'मेघदूत' में भी तो न्याय की ही माग है। इन्हीं सब कारणों से दलित और महिला लेखन को जांचने के लिए हमे नए सौंदर्य शास्त्र की जरूरत है। इसके लिए हमें नए मानदंड बनाने होगे। सुमित्रानंदन पंत की कविताओं, कामायनी की दार्शनिकता और दलित लेखन को जाचने के औजार एक नहीं हो सकते। जयशंकर प्रसाद के नाटकों के सामने 'अक्करमाशी' कूडा-कचरा लगेगा, लेकिन क्या हम उसे छोड़ दें, उसे निकृष्ट कहकर खारिज कर दें? नहीं, हम ऐसा नहीं कर सकते, क्योंकि हाशिए के लोगो के उभार के इस जमाने में अधिकांश प्रतिष्ठित पुरस्कार और सम्मान इसी सघर्षशील लेखन को मिल रहे हैं। वह अपनी एक नई पहचान की मांग कर रहा है। चाहे नोबेल पुरस्कार हो या बुकर, सब इसी न्याय की पुकार को समर्पित है। रवींद्रनाथ ठाकुर को नोबेल पुरस्कार मिला था कभी, लेकिन अब वह अमर्त्य सेन

जैसों को मिला करता है। सोच, स्वीकार और सम्मान का यह एक बड़ा 'शिफ्ट' है जो रवींद्रनाथ ठाकुर से उतरकर गरीबी और भुखमरी पर लेखन करनेवाले अमर्त्य सेन या महाश्वेता देवी तक जा पहुंचा है।

अच्छे और सच्चे लेखन से उम्र का भी कोई संबंध होता है क्या? अध्ययन-मनन और लेखन-अनुभव से किसी नतीजे पर पहुंचे?

लेखन के लिए कोई उम्र नहीं होती। तोल्स्तोय, रवींद्रनाथ ठाकुर और प्रेमचंद अपने जीवन के अंत तक लिखते रहे और उम्र के अंतिम हिस्से में लिखी गई उनकी कृतियां काफी महत्वपूर्ण हैं। फिर भी, अपने लेखन के आधार पर कहूं तो यही ज्यादा सही लगता है कि अच्छे और सच्चे लेखन के लिए उपयुक्त आयु 20 से 40 वर्ष के बीच होती है, क्योंकि यही वह उम्र होती है, जब मनुष्य में जिंदगी को जीने, समझने और उसके अर्थ तलाशने की प्रक्रिया सबसे तेज होती है, जिसमें कुछ डिस्कवर कर लेने की जिज्ञासा भी होती है, जो कुछ नया रचने जीवन को एक नए तरीके से समझने, डिस्कवर करने को प्रेरित करती है। इसमे एक थ्रिल होता है। लगता है कि हमने कुछ खोज निकाला है। इसमें जो कुछ मैंने किया है, कोई और नहीं कर सकता। 20-25 साल की उम्र में बालसुलभ जिज्ञासा सबसे अधिक होती है। जानने, समझने और कुछ खोज निकालने की यह जिज्ञासा जब तक बनी रहती है, तभी तक आदमी जीवंत रहता है और लेखक भी तभी तक सच्चा और अच्छा लेखन करता रह सकता है। बाद में उनके मन मे यह बात आने लगती है कि मैंने संसार के सारे रहस्यो और सत्यों को जान लिया है। जो कुछ भी है, मैं सब जानता हूं। यह भाव आ जाने पर लेखक फिर सृजन नहीं करता, बल्कि जीवन की दार्शनिक व्याख्या करने लगता है और उसकी सृजनात्मकता कम होने लगती है। विश्व साहित्य की स्मरणीय कृतियों पर नजर डालें तो अधिकांश अपने सर्जकों की 20 से 40 साल वाली उम्र में ही लिखी गई, लेकिन जैसा कि मैंने शुरू में ही कहा कि जिंदगी को डिस्कवर करने की बालसुलभ जिज्ञासा बने रहने की कोई निश्चित उम्र नहीं है, वह अंत तक बनी रह सकती है और नही भी। इसलिए लेखन को लगातार स्थगित करते जाना लेखक के लिए बहुत घातक भी सिद्ध हो सकता है।

बालसुलभ जिज्ञासा के कम होते चले जाने का मतलब होता है : लेखक का चुकते चले जाना और एक दिन एकदम रुक जाना। इसमें एक बात पैशन की भी है। 40 साल तक रचने के लिए मनुष्य में जो पैशन होता है, वह भी बाद मे कम होने लगता है और रचनाकार अधैर्य का शिकार होने लगता है। वह सब कुछ फटाफट चाहने लगता है। उसे लगने लगता है कि अब समय खत्म हो रहा

है इस डर से भी शायद अच्छा और सच्चा लेखन कर पाना कठिन होने लगता है। प्रौढ़पने और परिपक्वता का भाव आने पर बातें दोहराई जाने लगती हैं। बातो की एक-एक परत खोलकर और खोजकर लिखने का रोमांच खत्म होने लगता है और तब लेखक शब्दों का व्यापारी होने लगता है। सीधी-सच्ची बातों के टेढे-मेढ़े अर्थ तलाशे जाने लगते हैं, जो है, उसकी बजाय जो नहीं है, उस पर बातचीत की जाने लगती है। तय है कि तब अच्छा, सच्चा और खरा लेखन नही हो सकता। व्यर्थ का वितंडावाद रचा जाने लगता है। और कुछ नहीं तो मृत्यु से पहले मृत्यु की प्रतीक्षा का स्वांग ही रचा जाने लगता है, मानो वह मौत न हुई कोई ट्रेन हो गई, जो यहा से लेकर वहां पहुंचा देगी, जिसे आज तक किसी ने देखा नही : स्वर्ग या नर्क। इसमें क्या रोमांच हो सकता है, क्या रहस्य हो सकता है, जिसे जानने-समझने के लिए पाठक उसे पढ़े। हां, शब्दों का व्यापार यह जरूर हो सकता है, खुद को दोहराते हुए लेखक उसे जारी रख सकता है। ऐसे लेखन में मेरी न कोई रुचि है, न ही ऐसा लेखन करते चले जाने की कोई आकांक्षा। कुछ लोग इतिहास-पुराण का पुनर्लेखन कर खुद को सार्थक महसूस कर सकते हैं, पर मुझे यह भी उचित नहीं जान पड़ता। इसीलिए कहा कि अच्छे और सच्चे लेखन का सबसे अच्छा समय लेखक के जीवन के प्रारंभिक काल वाला समय ही होता है, जब लेखक नवोन्मेष से ऊभ-चूभ होता है। तब उसमे भरपूर जिज्ञासा ही नहीं होती, रचने का पैशन भी होता है, लगातार बैठकर काम करने की ऊर्जा भी होती है। बाद में ऊर्जा भी चुकने लगती है, हालाकि शब्द-शक्ति शायद बढ़ जाती है, पर शब्दो का खेल भर तो नहीं होता अच्छा और सच्चा साहित्य, लेकिन इस संदर्भ में इस सबके बावजूद कोई निष्कर्ष निकलता नही दिखता। इसलिए निश्चयपूर्वक कुछ भी कह पाना मुश्किल लग रहा है।

आपको बैठकबाजियों का शौक है। एक लेखक के लिए इनका कितना महत्व है और आप इन्हें इतना महत्व क्यों देते रहे कि बसा-बसाया घर छोड़कर फिर से उखड़े हुए लोगों की जमात में शामिल होना पड़ा?

बैठकबाजी में जो वाद-विवाद और संवाद होता है, उससे लेखक की रचनात्मकता को खाद-पानी मिलता है। माना कि ऐसी बैठकबाजियो में बदतमीजिया बदमगजियां, परनिंदा-सुख और बेवकूफियां भी खूब होती हैं, लेकिन नए-नए आइडिये भी बैठकबाजी में ही लेखकों के दिमाग में उभरते हैं। दुनिया भर के लेखकों को पढ़कर आपस में जब उन पर बातचीत होती है तो सभी को मानसिक खुराक मिलती है। जब नई लिखी रचनाओं पर आपसी बातचीत होती है तो

रचनाओ की कमियां और खूबियां सामने आती है बेहतरी के लिए मौजूद सूत्रों पर बातचीत होती है, जिनसे लेखक रचना में संशोधन-परिवर्द्धन कर उसे और बेहतर रूप दे सकते है। इसीलिए अपने लेखन के प्रारंभ से ही मैं बैठकबाजियां करता रहा हूं और वे मेरे जीवन का अभिन्न हिस्सा हैं।

पहले लेखक दिल्ली के कॉफी हाउस में मिलते थे। धीरे-धीरे वह खत्म हो गया। टी हाउस बना, लेकिन उसे कॉफी हाउस जैसा महत्व नहीं मिला। कुछ लेखक अभी भी कॉफी हाउस जाते हैं। कुछ लोग श्रीराम सेंटर में भी मिलते है लेकिन पहले जैसी बैठकें अब दिल्ली में कहीं नहीं होती, जिनमें नए-पुराने सभी तरह के लेखक मिलते हों, इसीलिए आज छोटी से छोटी गोष्ठी में भी सैकड़ो लेखक जमा हो जाते हैं, जबकि पहले ऐसा नहीं होता था। दस-पांच लोग गोष्ठी मे होते थे और बाकी लोग टी हाउस या कॉफी हाउस में। उनके उस महत्व के खत्म होने से लेखक अपने-अपने घरों में कैद होने लगे और उनकी रचनात्मक भूख मरने लगी। उसे बनाए-बचाए रखने के लिए तब मुझे व्यक्तिगत रूप से पांच-सात लोगों की बैठकबाजियां रास आने लगीं, जिसका खर्च आपस मे मिलकर उठा सकते हैं ताकि किसी एक पर ही सारा बोझ न पड़ जाए। कभी इसके घर, कभी उसके घर बैठकें हो सकती हैं। महानगरीकरण के कारण लेखक या कलाकार एक मशीनी रुटीन मे बंध जाते है। रोज-रोज वही सुबह का उठना, दफ्तर के लिए तैयार होना, दफ्तर में आठ-दस घंटे खपकर थके-मांदे घर लौटने के बाद कुछ पारिवारिक दायित्व निभाना, खाना और फिर रोज की तरह सो जाना, बस, इसी में छिपा है उनकी रचनात्मकता के मरते चले जाने का कारण। उसके भोथरे होते चले जाने का खतरा इसी रुटीन के बंधन का परिणाम है। रुटीन का यही बंधन धीरे-धीरे लेखक की सर्जना को मार डालता है। न कोई टोकनेवाला, न कोई अच्छा या बुरा बताने वाला, न कोई जीने-मरने पर बातचीत करने वाला। बस, सुबह होती है, शाम होती है, जिंदगी यों ही तमाम होती है, जिंदगी के साथ लेखनी भी। इसलिए लेखकों को हमेशा दूसरे लेखको, आलोचको पाठको और हितैषियों के साथ लगातार बैठकबाजी करते रहनी चाहिए। लोगों से लगातार वाद-विवाद-संवाद करते रहने से लेखक लगातार लिखते रह सकते है, मजते रह सकते हैं और दूसरो को भी मांज सकते हैं, क्योंकि लेखन ही क्या किसी भी क्षेत्र में अकेले मुक्ति संभव नहीं होती। और हां, इस उम्र में मन्नू से अलग रहने का कारण मेरी बैठकबाजियां कदापि नहीं बनीं।

ऐसे में परिवार उपेक्षित तो हो ही सकता है। पत्नी और बच्चों को भी आखिर आपका संग-साथ चाहिए। बैठकबाजियां अक्सर परिवारों को

तोड देती है। आप खुद इसके उदाहरण नही है क्या?

परिवार क्यो उपेक्षित होगा। हफ्ते मे दो-चार दिन लेखक परिवार के साथ गुजारे। एक-दो दिन अपने लेखक मित्रों के साथ बैठकबाजी करे। आप चौबीस घटे जिस लेखकीय जगत में मानसिक रूप से रहते हैं, उसे मांजने के लिए कोई समय नहीं देना चाहते? बीबी-बच्चों, नौकरी-परिवार से फुरसत मिलेगी तो लिखेग और फिर दुनियाभर की स्वीकृति चाहेंगे। फिर इस बैठकबाजी में परिवार के शामिल होने की मनाही थोडे ही है। पत्नी और बच्चे भी उसमें शिरकत कर सकते है, अगर पढ़ने-लिखने में उनकी रुचि हो। रुचि न हो तो वे अपना काम करे। टीवी देखें। किताबें पढ़ें। मेरे घर में होनेवाली बैठकबाजियों में जब मन होता था तो मन्नू भी शामिल हो जाती थीं, मन न होता तो नहीं होती थीं, लेकिन अलगाव का कारण मेरी बैठकबाजियां बिलकुल नहीं बनी। जब से अलग रहने लगा, तब से बैठकबाजी के लिए अपना घर ही प्रायः मुझे ज्यादा उचित स्थान लगने लगा। इसमें परिस्थिति, उम्र और सुविधा की बात भी हो सकती है, लेकिन मेरी आजकल की बैठकें पूर्व नियोजित नहीं होतीं। लगातार भी नहीं होतीं। जब चाहें, तभी हो जाती हैं। लोग अचानक आ जुटते हैं, मिल-जुलकर खाने-पीने की व्यवस्था कर लेते हैं और बैठ जाते हैं। आजकल मैंने पीना तो लगभग छोड़ ही दिया है नाममात्र की ले लेता हूं और लोगों को खाते-पीते और बातचीत करते देखकर आनंद लेता हूं। औरों की तो नहीं जानता, पर मुझे लिखने-पढ़ने और जीने की ऊर्जा इस तरह की बैठकबाजियों से ही मिलती रही है। वह मेरे जीने के तरीके मे शामिल है। दुनिया भर के लेखक बैठकबाजी करते हैं। बंगाल के लेखको मे बैठकबाजी खूब होती है, जिसे वे अड्डेबाजी कहते हैं। फ्रांस, रूस और इंग्लैंड के लेखकों की बैठकबाजियों के भी चर्चे रहे हैं।

कहीं इसी सब के चक्कर में तो तोल्स्तोय की पत्नी ने उनसे कुछ ऐसा नहीं कह दिया कि वे घर छोड़कर निकल गए और रात में ठिठुरकर मर गए? कुमार संभव का उदाहरण... वे आग लगाकर जल मरे और आप मन्नूजी को छोड़ आए...

तोल्स्तोय या कुमार संभव जैसे अतिवादियों का समर्थन मैं नहीं करता। यह सही हो सकता है कि बैठकबाजियों या शराब पीने के अतिवाद के चलते वे लोग इसके शिकार हो गए हों, लेकिन बैठकबाजियों से घर टूट ही जाते हैं, मै नहीं मानता। इसके कारण दूसरे होते होंगे, जिनकी तहों तक लोग नहीं जाते बैठकबाजी के सिर तोहमत मढ़ दी जाती है। कम से कम मेरे संदर्भ में तो यह बात एकदम सही नहीं है।

इन के चलते आपके हजारो मित्र है देश एव विदेश मे वे लेखक ही नहीं, पाठक भी है और प्रायः भिन्न-भिन्न पेशो से सबद्ध है, लेकिन उनमें से कौन ऐसे हैं, जो आपके अंतरंग हैं, जिनसे आप अपने दिल की कहनी-अनकहनी, सारी बातें कह लेते हैं, बिना झिझक के, एकदम निर्भय और निर्द्वंद्व होकर?

हर तरह के लोगों से मिलना मुझे हमेशा से अच्छा लगता रहा है। खुद को मैं एक मिलनसार व्यक्ति मानता रहा हूं। इसीलिए बैठकबाजियां मेरे जीवन का अभिन्न हिस्सा हैं। तुम्हारा यह कहना सही है कि देश-विदेश में हजारों लोग हैं जिनसे मेरी मित्रता है, पर सब से तो हर तरह की बातें नहीं की जा सकतीं, सभी से तो घनिष्ठता नहीं हो सकती। हर व्यक्ति के दो-तीन सर्कल होते हैं: एक-दो आउटर, एकाध इनर। आउटर सर्कल में बहुत से लोग हो सकते हैं, पर इनर सर्कल में दो-चार लोग ही होते हैं, जिनसे बातचीत कर आंतरिक सुख, सांत्वना और शांति मिलती है। उनका साथ आश्वस्तिकारी होता है, जिनसे आप हर तरह की गोपन-अगोपन बातें कर सकते हैं। मेरा भी ऐसा एक सर्कल है ही, जिसमें दो-चार लोग हैं, जिनमें से सबसे पहला स्थान मन्नू का है, दूसरे हैं जे.पी. दास जिनके साथ मई, 1999 में एक लंबी असाहित्यिक यात्रा की, बीसियो साल बाद। तीसरी हैं प्रभा खेतान और चौथी डॉ संयुक्ता, जिन पर मुझे पूरा भरोसा है। प्रभा से अक्सर बातें होती रहती हैं, लेकिन संयुक्ता से पिछले आठ-दस महीने से फोन पर भी बातचीत नहीं हुई, पर जब चाहूं, मैं उन्हें फोन कर सकता हूं, उनसे मिल सकता हूं और हर तरह की बातें निस्संकोच कर सकता हूं। यही बात निर्मला जैन, गिरिराज किशोर, मैत्रेयी पुष्पा और डाक्टर शर्मा की है, शायद नामवर भी इसमें कहीं हैं। और हैं मेरी एक बहुत पुरानी मित्र, 1951–52 के जमाने की जिन्होंने मेरी वजह से शादी नहीं की, आजीवन कुंवारी रहीं। उनके बारे मे मनमोहन ठाकौर ने अपनी किताब 'राजेन्द्र यादव मार्फत मनमोहन ठाकौर' मे लिखा है। इन लोगों से अपनी मित्रता पर मुझे नाज है। उन पर मुझे पूरा विश्वास है, लेकिन अंत तक कौन किसके विश्वास की रक्षा करेगा, नहीं जानता। चाहता हूं कि परीक्षा की घड़ी न ही आए तो अच्छा रहे।

औरों की तो नहीं जानता, पर 1998 में एक घडी आई थी, जब आप एम्स में मौत से लड़ रह रहे थे और मन्नूजी आपके आसपास मंडरा रही थीं, बेचैन-परेशान। अब इस उम्र में उनसे अलग रहने की तुक किसी की समझ में नहीं आती, समझाएंगे? किसी मित्र के ही साथ क्यों नहीं रह लेते?

हम पति पत्नी बाद मे बने मित्र पहले बने मन्नू एक स्थापित लेखिका और सुदृढ़ चरित्र की महिला हैं। उनका अपना अलग और स्वतंत्र व्यक्तित्व है। मेरा भी अपना अलग अस्तित्व-व्यक्तित्व है। इस तरह के दो व्यक्ति पति-पत्नी के रूप में साथ-साथ रहें तो उनमें टकराव अवश्यंभावी है। ऐसे में कोई एक अपने व्यक्तित्व को नष्ट कर ले या... जीवनभर लगता रहा कि हम दोनों बहुत अच्छे मित्र हो सकते हैं, बहुत अच्छे पति-पत्नी नहीं। टकराव को टालने के लिए और मित्रता को बनाए-बचाए रखने के लिए अंततः हमें लगा कि अब हम अलग-अलग रहे तो ज्यादा अच्छा रहेगा। जहां तक उम्र का सवाल है तो तुमने यह बात तो सुनी ही होगी कि 'जागे तभी सवेरा'। इसीलिए मन्नू के सुख-दुख आज भी मेरे सुख-दुख हैं और मेरे कठिन समय में तुमने एम्स में मन्नू को देखा ही, पर यह सहृदयता मित्रता के स्तर पर जितनी है, पति-पत्नी के स्तर पर शायद उतनी न रह पाए। इसीलिए अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व के साथ मन्नू अलग रहती हैं। घर उनका था, उन्ही का है। वे अपने घर में रहती हैं और मैं... प्रभाष जोशी के शब्दो मे कहूं तो किराये के घरों में रहता रहा और बदलता रहा। आज इस घर में, कल उस घर में। यों 'सारा आकाश' हमारा है, जहां चाहें, रह सकते हैं। अनेक मित्र है, जो चाहते हैं कि उनके साथ उनके परिवार में रहूं, किंतु वहां पर भी शायद हमारी मित्रता ही खतरे में न पड़े, मेरी लेखकीय स्वाधीनता भी खतरे में पड़ जाए। आई.आई.टी. कानपुर ने छह महीने के लिए बुलाया तो चला ही गया था, वैसा कोई आफर हुआ तो जरूर सोच सकता हूं, लेकिन मजबूरी में किसी मित्र के घर जाकर रहना ही पड़ा तो... नहीं कह सकता कि कहां जाऊंगा।

उस विदेशी लेखक का नाम बताएंगे, जो इधर आपको अपने जैसा लगता रहा, वैसे ही भारत का कोई लेखक...

'इन लाइट ऑफ इंडिया' के लेखक आक्टेवियो पॉज भारतीय स्थितियो–परिस्थितियों की आत्मीय अभिव्यक्ति के लिए मुझे मोहते रहे हैं और मुझे प्राय मोहते रहे हैं अपने मौलिक दृष्टिकोण तथा नूतन विचारों के लिए भारतीय लेखक नीरद चौधरी। निसंदेह ये दोनों ही मुझे हमेशा उकसाते रहते हैं नित निरतर उत्कृष्ट लेखन करते-रहने के लिए, भले ही वह 'हंस' का संपादकीय लेखन ही क्यों न हो।

मुझे लगता है कि 'हंस' के संपादकीय ही आपके लेखन के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। हिंदी पत्रकारिता में इतने निर्भीक और प्रभावशाली संपादकीय किसी ने नहीं लिखे, ऐसा मुझे लगता है। आपको कैसा लगता है?

तुम्हारी यह बात सही हो सकती है कि 'हस' जैसे व्यापक प्रभाववाली कोई

दूसरी पत्रिका हिंदी मे न निकली हो बहुचर्चित रही पत्रिका 'सरस्वती' की प्रसार संख्या शायद एक डेढ़-हज़ार से ज्यादा नही रही कभी, जबकि 'हंस' पंद्रह हजार छपता है और लगभग पूरे भारत में इसके पाठक हैं, पर इसके संपादकीय ही मेरे लेखन के उत्कृष्ट उदाहरण हैं, यह बात मैं नहीं मानता। कहानिया हों, उपन्यास हों, कविताएं हों या समीक्षा-आलोचना, मैंने जब भी लिखा, जो भी लिखा, पूरे मन से लिखा और उसे उत्कृष्ट बनाने की भरपूर कोशिश की। और तो और, मैंने जो अनुवाद किए, जान लगाकर किए। मेरा मानना है कि मैं उस सबसे बेहतर नहीं कर सकता था।

आपकी यह बात ठीक हो सकती है, लेकिन हरिवंशराय बच्चन की सारी कविताएं एक तरफ और उनकी आत्मकथा 'क्या भूलू, क्या याद करूं' एक तरफ, जैसे विष्णु प्रभाकर के सारे नाटक, कहानियां और उपन्यास एक तरफ और उनकी लिखी शरत की जीवनी 'आवारा मसीहा' एक तरफ... कुछ-कुछ ऐसा ही अद्‌भुत ग्रंथ होगा आपका संपादकीय संचयन 'कांटे की बात', जैसे मीर और गालिब के दीवान...

ये बड़ी-बड़ी तुलनाएं मुझे बौना बनाती हैं, मगर हो सकता है कि तुम्हारा यह निष्कर्ष ही अंततः सही साबित हो, पर अभी मैं यह मानने को तैयार नहीं हूं कि मेरा बाकी का सारा लेखन और अनुवाद... खैर... और क्या पूछना चाहते हो, बोलो और मेरी जान छोड़ो।

आपके सत्तर साल के जीवन के सात दिन... सुबह उठने से लेकर रात में सोने तक, जिनके जरिये आपके पूरे जीवन को देखा और जाना जा सके कि आप किस तरह रहते रहे? वे सात दिन मुझे चाहिए, फ्लैश बैक में, देंगे?

कैसे लोगे वे सात दिन? बीना उनियाल से मिलो। उससे बातचीत करो। मुझसे बहुत कम बोलती है, पर बहुत संवेदनशील और कर्मनिष्ठ है। वह मेरे बारे में सब कुछ तो नहीं, लेकिन बहुत कुछ जानती है। और यह किशन... इससे पूछो। हमेशा साथ रहता है।

यह तो मैं करूंगा ही, लेकिन कोई पूरा एक दिन मुझे दीजिए, सुबह उठने से लेकर रात को सोने तक... मैं देखना चाहता हूं आपकी दिनचर्या और नोट्‌स लेना चाहता हूं आपके सत्तर साल के जीवन के सात दिनों के।

मैं तो सुबह चार बजे उठ जाता हूं, कैसे देखोगे मेरा उठना?

शाम को यहीं सो जाऊंगा और चार बजे उठकर देखना शुरू कर दूंगा आपकी दिनचर्या।

और सुमन क्या करेगी? छोड़ देगी तुम्हें रात भर के लिए? मुझे गाली खिलवाओगे।

कहकर राजेन्द्रजी हंसते हैं, विशुद्ध शरीफों वाली हंसी, जिसमे सितमजरीफी का एक कतरा भी नहीं होता, यों उनकी सितमजरीफ़ियां जगजाहिर हैं, पर इन दिनों वे पवित्र हैं, एकदम पवित्र, पक्के वैष्णव, बहू-बेटियों की सुविधा-असुविधा का अतिरिक्त खयाल रखने वाले और शायद इसीलिए लेखकों से ज्यादा लेखक परिवारों में आदर और श्रद्धा के पात्र, नागार्जुन, बाबा नागार्जुन की तरह। सुमन की तरफ़ से निश्चिंत करते हुए चलने से पहले उनसे कहा।

नहीं, आपको गाली नहीं, खाना खिलवाएंगे। कब से कह रही है कि यादवजी को खाने पर बुलाओ। मुझे पूरा दिन देने से पहले उसकी दावत कुबूल कर लीजिए। फिर कुछ नहीं कहेगी।

चलो, आ जाएंगे किसी दिन, लेकिन अभी तो तुम जाओ और पहले उसके डडे खाओ और फिर गरम-गरम खाना।

कहते हुए राजेन्द्रजी फिर हंसते हैं और घड़ी की ओर देखते हैं तो मैं उठ खड़ा होता हूं। एक घंटे के लिए कहकर सात बजे घर से निकला था और अब ग्यारह बज रहे थे। जल्दी-जल्दी सूप का बाउल खाली किया और किशन से दरवाजा बंद कर लेने को कहकर राजेन्द्रजी के घर की सीढिया उतर गया, हिंदुस्तान टाइम्स अपार्टमेंट के उस प्रथम तल की सीढ़ियां, जिसमे इक्कीसवीं सदी के इन प्रारंभिक वर्षों में वे रह रहे हैं। इसके पहले वे मयूर विहार मे ही कवि केदारनाथ सिंह के फ्लैट में रहते थे, जहां वे पहली बार मन्नूजी से अलग होकर रहने के लिए आए थे। वहां भी जाना होता था, लेकिन उनका यह घर हमारे घर से और भी करीब हो गया है, इतना करीब कि राजेन्द्रजी की गाड़ी लगभग रोज हमारे घर के सामने से गुजरती है : हर सुबह, हर शाम। चाहूं तो उन्हें आते-जाते, दोनों समय देख सकता हूं, लेकिन यह सभव है क्या, दिल्ली में? □

'कहानीकार' के मनस्वी संपादक

कमल गुप्त

भारतेंदु के नमक का हक अदा किया

15 जनवरी, 1934 में पिंडरा बाजार, वाराणसी में जन्मे कमल गुप्त ने डॉक्ट्रेट किया, हरिश्चंद्र कालेज में वर्षों तक पढाते रहे और अब प्राचार्य पद से अवकाश ग्रहण कर पूर्णतः लेखन-संपादन को समर्पित हैं। 'मैकाले का भूत' (व्यंग्य संग्रह) और 'तेजाब तथा अन्य लघुकहानियां' प्रकाशित। पिछले तीस वर्ष से साहित्यिक पत्रिका 'कहानीकार' के संपादक-प्रकाशक कमल गुप्त से संवाद करना काफी मुश्किल काम है। विश्वास न हो तो 'हंस' संपादक राजेन्द्र यादव से पूछ लीजिए पर हमें इक्कीसवीं सदी के आरभ में उनसे कुछ प्रश्नों के उत्तर मिल गए और शायद ठीकठाक मिल गए।

बीसवीं सदी के अंतिम दशक में कमल को केंद्र में रखकर एक किताब लिखी गई थी, जिसमें बहुत कुछ बताया गया है, लेकिन उस किताब में उन समकालीन रचनाकारों पर कोई अध्याय नहीं है, जिनके नाम में कमल जुड़ा हुआ है। राजकमल चौधरी का साहित्य तो जीवन-पंक से पंकिल है, परंतु अरुण कमल ने तो साहित्य अकादमी पुरस्कार तथा और भी अनेक सम्मान हासिल किए हैं। रमेश नीलकमल अपने 'कारखाना' में फंसे रहे, लेकिन कमल शुक्ल ने तो किताबो का ढेर लगा दिया है। कानपुर में कमल भैया थे एक, जो 'मंगलतारा' जैसी पत्रिका को निकालते-निकालते खप गए। ऐसे ही हैं हमारे मित्र कमल गुप्त, जिन्होंने कविता, कहानी, लघुकहानी और व्यंग्य लेखन में खपने की बजाय अपनी पत्रिका 'कहानीकार' के लिए खुद को गला दिया और अभी भी कह रहे हैं कि 'छुटती नहीं है गालिब, मुंह से लगी हुई,' और एक हैं मेरे सखा राजकमल, जिन्हे न पीने का शौक है, न पिलाने का, किंतु पत्र-पत्रिकाओं में खुद को खपा देने का शौक उन्हें भी कुछ कम नहीं है। 'सारंग' निकालकर राजकमल ने तो लगता है कि सपादकी से तोबा कर लिया है लेकिन कमल गुप्त हैं कि बेझिझक कह रहे

है कि 'सपादकी का यह सिलसिला खत्म नही होगा' खत्म होगा तो मेरे साथ ही खत्म होगा। ऐसा जुनूनी, अगर अग्रज हो और मित्र भी हो तो उससे सवाल-जवाब करना खतरे से खाली नहीं होता। मित्र से कहा कि लघुकहानी के लिए लघुकथा नाम ही चलने दो, बहुमत इसी मत का है, पर मित्र ने जिद ठान रखी है कि लघुकहानी को स्थापित करके ही दम लेंगे। ऐसा करते हुए भले ही उनके लेखक का दम फूल जाए? मैंने कहा कि अपने लेखन पर ध्यान दो, पर उनके पास 'कहानीकार' की व्यस्तता और मजबूरी का मजबूत तर्क है। कुछ चीजें 'कहानीकार' मे ठीक नहीं हैं, यह कहने का मन प्रायः होता है। एकाध बार कहा तो अग्रज होने का वीटो इस्तेमाल कर दिया।

कई बातों पर उनसे हमारा लड़ाई-झगड़ा चलता रहता है, पर मित्रता पर आच नहीं आती। इस बार 'अंतर्वार्ता' में डर था कि कहीं हमारी दोस्ती झुलस ही न जाए, पर ऐसे प्रश्नों को वे टाल गए। कुछ सवालों के जवाब उन्होंने विस्तार से दिए हैं और राजेंद्र यादव से अपने झगड़े की जड़ बताई है, जबकि मैं दोनो को आदर देते हुए अक्सर कहता रहा हूं कि राजेंद्र बड़े रचनाकार ही नहीं, बडे सपादक भी हैं, और 'हंस' के संपादन से उन्होंने हिंदी पत्रकारिता को आपकी ही तरह आधुनिकता, निर्भीकता और तेजस्विता ही नहीं सौंपी है, उसे आगे भी बढ़ाया है। अब उनसे अपना झगड़ा खत्म कर दें, क्योंकि अंग्रेजी साम्राज्यवाद के वे भी शत्रु हैं, जैसे आप 'मैकाले का भूत' लिखकर उससे लड़ रहे हैं, वैसे ही वे भी लड रहे हैं, पर वे अंग्रेजी भाषा, पत्रकारिता और साहित्य के शत्रु नहीं, मित्र हैं वे आपके भी मित्र हैं, पर मित्र इसे साहित्यिक अनबन मानते हैं और मानते हैं कि यह अनबन बनारस और दिल्ली के बीच ठनी है। दिल्ली से रार मोल लेनेवाले मे इतना साहस आया कहां से? आइए, देखते हैं उनके अपने खुद के ही शब्दो मे जिसे वार्ता-अंतर्वार्ता कहें, संवाद-प्रतिवाद कहें, प्रश्नोत्तर या सवाल-जवाब कहे, आलाप, संलाप, आत्मालाप और एकालाप, आप इसे कुछ भी कह लें, कोई फर्क नहीं पड़ता, क्योंकि उनका मानना है कि 'बात बोलेगी, हम नहीं'।

'कहानीकार' जैसी पत्रिका को निकालते हुए तीस वर्ष हो चले हैं आपको, किंतु अपने भीतर छिपे कहानीकार को (बाहर) निकालने की इच्छा नहीं हुई? अपनी कहानी, अपने दिल की बात किसी को बताने का मन नहीं हुआ? अंतरंग मित्र होने के नाते इच्छा है कि मेरे साथ हो रहे इस साक्षात्कार को आत्म-साक्षात्कार, अंतर्वार्ता और आत्मसंवाद के रूप में लीजिए और शब्दों से खेलते हुए खुद से भी खेलिए, फिर देखिए, क्या संतोष मिलता है आपको, मुझको और आपके पाठकों को भी?

संवाद का औरों से होना या न होना आसान है, पर खुद से इसका होना और न होना दोनों ही बहुत मुश्किल हैं। होने की स्थिति एकालाप की होती है या फिर संलाप की, प्रलाप की भी विकट संवाद स्थिति हो सकती है। मुखर संवाद न होने की स्थिति मौन या जडता की होगी। जो भी हो, ये सभी स्थितिया बड़ी कठिन हैं और आदमी को मुश्किल में डालती हैं। इसमें थोड़ी आसानी तब होती है, जब आदमी आइने के सामने हो और उससे बात करे। अपनी छाया के गुण-दोष का सुधार, परिष्कार और मेकअप तो हर आदमी दिन में अनेक बार करता है, पर उससे बातें या सवाद नहीं करता। बातें करे तो बहुत सारी भीतरी बातें उसके जेहन में जज्ब होकर दफन होने के वदले, उसके रूबरू खड़ी हो जाएंगी, पर आदमी अपने से बात करते हुए डरता है। वह खुद भी अपना गंदा चेहरा देखना नहीं चाहता। इसलिए उस पर हमेशा रंग-रोगन, क्रीम-पाउडर, रूज लिपस्टिक लगाकर अपने चेहरे का विंडोड्रेसिंग करता रहता है ताकि उसका घिनौना रूप ढक जाए। यही डर गालिब को भी था। इसी से कहा भी : 'पानी से सगगजीदः डरे जिस तरह असद, डरता हूं आइना से कि मर्दुम गजीदः हूं।' बडी खूबसूरती से गालिब ने आदमी की हैवानियत की बात कही है : जैसे कुत्ते का काटा हुआ आदमी पानी से डरता है, मैं वैसे ही आइने से डरता हूं। कारण यह है कि मैं आदमी का काटा हुआ हूं और आइने में आदमी की जो शक्ल दिखाई देती है, उससे डर लगता है। जाहिर है कि खुद से संवाद बहुत मुश्किल है।

आइने की बात फिर भी बाहरी है, भीतरी संवाद की स्थिति और मुश्किल है, जैसे पानी पर अक्स पड़े और ज्यों छूने की कोशिश हो तो अक्स गायब हो जाए और सारी परछाई आंख से ओझल हो जाए, कुछ भी पकड़ में न आए भीतरी संवाद की स्थिति भी यही है। कबीर की बात अलग है। वे संत थे और 'जो तन झांक्यो आपनो, मुझसा बुरा न कोय' का उद्‌घाटन कर गए। सामान्य आदमी के लिए ऐसी उद्‌घोषणाएं संभव नहीं हैं। वह अपने दोषों को छिपाएगा। जब जिंदगी 'पानी पे अक्स किया है जैसे' की तरह है तो फिर पानी के अक्स से क्या कोई संवाद संभव है। हमेशा 'क्या भूलूं, क्या याद करूं' की स्थिति बनी रहती है। दिल-दिमाग साथ नहीं देते, दिल की बातें जुबान तक आने से कतराती हैं, अगल-बगल झांकती हैं, नजर बचाकर खुद से फना हो जाने की फितरतें करती हैं। 'भीतर रखूं या बाहर कर दूं' के बीच द्वंद्व शुरू हो जाता है। भीतर रखूं तो दिल जलता है और बाहर कर दूं तो लोगों के जल जाने का खतरा है। यह स्थिति अत्यंत विषम होती है। संभवतः शिव शंकर के सामने भी यही विषम स्थिति थी। सागर मंथन से निकले विष को उनके लिए भीतर ले जाना और हृदय मे

रखना स्वीकार नही था क्योंकि वहा पर उनके आराध्य का वास था और बाहर करना भी ठीक नहीं था, क्योंकि उस विष से संसार जल जाता। फलतः इस द्वद्वात्मक स्थिति, परिस्थिति और मनःस्थिति से बचने के लिए उन्होंने उस विष को कंठ में ही धारण कर लिया और नीलकंठ होकर महादेव कहलाए। अंदर और बाहर का ऐसा कल्याणकारी कार्य उनके ही बलबूते और सामर्थ्य की बात थी। मुझ जैसे साधारण मनुष्य के लिए यह सब असंभव है कि जिंदगी के विष को कंठ में धारण कर लूं। हम तो अभिशप्त हैं जिंदगी का जहर पीने के लिए और जीने के लिए, क्योंकि इस तरह या जिस भी तरह जीकर उसे इन्सान की जिदगी के लिए, उसके कल्याण के लिए, सच और सच की रक्षा के लिए अपनी कलम के कारगर हथियार को साथ लेकर एक लंबी लड़ाई लड़नी है। ऐसे मे अपनी और अपने दिल की कहानी को लिखना क्या मुमकिन है? मुझे एक शायर की दो पंक्तियां याद आ रही हैं : 'दिल पे मुश्किल है बहुत दिल की कहानी लिखना। जैसे बहते हुए पानी पे हो पानी लिखना।'

जिस भी शायर ने यह बात कही है, बहुत ही पुरअसर कही है। बात दिल की हो या खुद की, बात दोनो बराबर हैं। मेरा भी हाल कुछ ऐसा ही है। तुम्हारा इसरार है कि जिंदगी की इस जिंदा चलती-फिरती कब्र के साथ बहुत सारी बाते चुपचाप दफन होकर मेरे साथ चली जाएंगी, इसलिए खुद के भीतर झांककर देखूं, खूद को देखूं, जो दिखाई दे, उसे देखूं और जो न दिखाई दे, उसे भी देखने की पुरजोर कोशिश करूं और उस सबको तुम्हारे हवाले कर दूं, पर मेरा हाल तो उस शायर का हो चला है : 'खुद पे मुश्किल है बहुत खुद की कहानी लिखना जैसे हो मौत के साये में जिंदगानी लिखना।' जिंदगी का किस्सा बहुत कुछ मौत के साये में जीने जैसा ही है : बाहर के दबाव, बदगुमानियां, इच्छाओं का मरघट ले के जीना, बदसलूकियों की चुभन, विश्वासघातियों के आघात, भरोसे की सास की तलाश, प्यार की एक अनत अमिट खुशबू की चाहत और हमराज की तलब सब ने मिलकर जिंदगी को एक रेगिस्तानी सफर की शक्ल दे दी, जहां पड़ाव की तलाश में चलते जाना एक शर्त बन गई।

आपने 'कहानीकार' पत्रिका को निकालने का निर्णय क्यों और किस घड़ी में लिया था?

'दिल को बहलाने को गालिब, ये खयाल अच्छा है' के अंदाज में मैंने नौकरी की, और ईमानदारी के जज्बे के साथ की। सन् साठ से हरिश्चंद्र डिग्री कालेज में पढ़ाना शुरू किया तो जैसे एक निर्धारित रेस के ट्रैक पर निकल पडा। सुबह जाता और दो घंटे पढ़ाकर दस बजे तक मुक्त हो जाता। यह सिलसिला

लगभग सात वष तक चला मेरा सरदर्द यह था कि सुबह के 10 से लेकर रात के 12 बजे तक के इस खालीपन का क्या करूं? लाइब्रेरी के चक्कर लगाए किताबों के हुजूम में वक्त गुजारा, बाजार से घर लाई किताबों के पन्ने पलटे, कभी साहित्य, कभी इतिहास, कभी दर्शन, कभी भारतीय कला की अतल गहराइयों मे गोते लगाए और फिर 1967 आते-आते दिल ऊब-डूब होने लगा। एक ऐसी मोनोटनी ने मेरे खिलाफ किलेबंदी शुरु कर दी कि निजात पाना मुश्किल हो गया। इस खयाल से कि आखिर यह सिलसिला कहीं ले भी जाएगा या नहीं, कुछ पता भी तो चले, किताबें पलटता रहा और इसी उधेड़बुन में जीता रहा कि भारतेंदु की याद ने अचानक एक रास्ता दे दिया। लोग भारतेंदु जयंती के अवसर पर उन पर बातें कर रहे थे। मैंने भी एक खास अंदाज में अपनी बातों का जिक्र किया पर खास बात यह हुई कि इसी बीच एक भाव-सूत्र मेरे दिल-दिमाग में उभरा कि जब भारतेंदु द्वारा स्थापित विद्यालय में अध्यापन कर रहा हूं तो एक तरह से उनका ही नमक खा रहा हूं तो क्यों न उस नमक का हक अदा करने के लिए हिंदी सेवा का कार्य करूं, लिखूं, पत्रिका निकालूं और उनके नक्शे-कदम पर चलू और समाज के काम आऊं। बस, अंधे को क्या चाहिए, दो आंखें ....

फिर तो आलम ये कि वे खाली कहे जाने वाले बारह-चौदह घंटे चुटकियों मे बीतने लगे। 'कहानीकार' के साथ बीता हुआ हर क्षण एक नया अनुभव था, मुश्किलों से घिरा हुआ सुखद अनुभव, सुखद इसलिए कि मुश्किलों के आगे घुटने टेकना मेरे मिजाज में नहीं है। मैं समस्याओं से दो-दो हाथ करता, दिन को दिन और रात को रात न समझता और पिल पड़ता। फलतः मुश्किलों को जीतने की खुशी मेरे हिस्से में आ जाती और 'कहानीकार' के रास्ते की दिक्कतें साफ हो जातीं। दरअसल 'कहानीकार' मेरे लिए अर्जुन को दिखाई पड़ने वाली चिड़िया की सिर्फ आंख थी। मुझे उसके अलावा कुछ सूझता ही न था। 'कहानीकार' को एक साहित्यिक कर्म और कर्ज मानकर उसके संपादन और प्रकाशन को गतिशील बनाने में मैं प्राणपण से जुट गया। इसमें मुश्किलें थीं, पर मेरी रुचि भी यही थी। फलतः इसकी मुश्किलें ही धीरे-धीरे मेरी आसानियां होने लगीं, क्योंकि मैंने मुश्किलों के आगे घुटने नही टेके। धीरे-धीरे अब तो तीन दशक होने को हैं और मुझे सिर उठाने का मौका न मिला। 'कहानीकार' के सौवें अंक का लोकार्पण लखनऊ में प्रख्यात कथाकार अमृतलाल नागर के हाथों संपन्न हुआ। उस समारोह की अध्यक्षता विख्यात पत्रकार कुलदीप नैयर ने की थी। यह अद्‌भुत संयोग था कि 'कहानीकार' के 100 वें अंक का लोकार्पण उनके हाथों हुआ, जो हिंदी साहित्य के अमृत थे. लाल थे और नटनागर थे ऐसे व्यक्ति की अध्यक्षता मे

हुआ, जो पत्रकारिता-कुल का कुलदीप था यानी कुलदीप नैयर।

निकालते रहे 'कहानीकार' और बन गए व्यंग्यकार, यह दुर्घटना (या सुघटना) कैसे हो गई? व्यंग्यकार आप सोच-समझकर बने या इसके पीछे कोई घटना-दुर्घटना छिपी हुई है, क्योंकि 'कहानीकार' निकालते-निकालते आपको बनना था तो कहानीकार-उपन्यासकार या फिर कथा-आलोचक? यह न होकर वह क्योंकर और कैसे हुए और आपकी प्रारंभिक रचनाएं कैसे लिखी गईं?

बनारस के साहित्य प्रेमियों का सहयोग और हिंदी के लेखकों का तहेदिली से साथ मिला तो मेरी पत्रिका 'कहानीकार' के पांव जमने लगे। फिर मैंने उसके विस्तार को लेकर तथा सरकारी विज्ञापनों और खरीद की संभावनाओं की कोशिश में बाहर की यात्राएं शुरू कीं। बात उन्हीं दिनों की है, जब लखनऊ जाने के लिए बनारस से सियालदह एक्सप्रेस कैंसिल होने पर मुगलसराय से 2 बजे रात तूफान एक्सप्रेस पकड़ने को जिस समय स्टेशन पहुचा तो उसके तीन घंटे लेट होने के कारण महामहिम टी.टी. महोदय के सुझाव पर भोर में लगभग 4 बजे मुगलसराय-लखनऊ पैसेंजर से जाने की सोचकर उसमें सवार हो गया और पैसेजर में पैसेंजरों की अकूत भीड़ के सर-आंखों पर चढ़कर, कुली को खुश करने के परिणाम स्वरूप, कंपार्टमेंट की एक ऊपरी बर्थ पर कब्जा जमाकर चादर तानकर सो गया। सवेरे करीब आठ बजे नींद टूटी और मैंने ऊपर से ही नीचे के यात्रियों से पूछा कि इस समय हम लोग कहां हैं? नीचेवाले यात्री ने कहा "बाबतपुर।"

मैं आसमान से टूटनेवाले तारे की तरह फर्श पर आ खड़ा हुआ . चार घटे मे 20 मील! कहां तो 11 बजे इसे लखनऊ पहुंचना था और हम अभी बनारस जिले के बार्डर पर ही टंगे हुए थे। इस दुखद विडंबना ने मुझे व्यंग्य लेखक बना दिया। देश के, जनता के दर्द में मेरा दर्द स्थानांतरित हो गया और मेरी पहली व्यंग्य रचना 'पसिंजर गाड़ी' लिखी गई, जो मेरे पहले व्यंग्य संग्रह 'मैकाले का भूत' की पहली व्यंग्य रचना के रूप में प्रकाशित हुई। इस रचना के बाद फिर तो व्यंग्य लेखन का एक सिलसिला ही शुरू हो गया। 'कहानीकार' के हर अंक मे एक व्यंग्य 'कुछ स्याह-कुछ सफेद' कालम में लिखने लगा। इस तरह ज्यों केले के पात के पात-पात में पात, उसी तर्ज में मेरे खयालात-जज्बात से, बात-बात मे बात से निकली बातों से मेरे व्यंग्य लेखन का सिलसिला चल निकला। मैं किसी शहर जाता तो वहां की किसी बात को लेकर एक व्यंग्य रचना आकार ले लेती। मैं मुंबई गया। चौपाटी में घूमते वक्त मुझे भारतेंदु के चौपट राजा की याद आई

उनके नाटक 'अंधेर नगरी' की याद आई और मेरी व्यंग्य रचना 'चौपट नगरी से चौपाटी तक' सामने आई। इस व्यंग्य रचना के कुछ सूत्रों को भारतेंदु हरिश्चंद्र की कालजयी रचना 'अंधेर नगरी' से जोड़ते हुए मैंने लिखा :

"मुंबई पहुंचकर मैं उसके विभिन्न स्थानों के नामों की खोजबीन करने लगा। मुझे लगा कि भारतेंदु बाबू के इसी 'अंधेर नगरी चौपट राजा' के नाम पर मुबई के दो प्रमुख स्थानों का नामकरण संपन्न हुआ होगा अंधेर नगरी के नाम पर शायद अंधेरी का और चौपट राजा के नाम पर शायद चौपाटी का। नगरों का इतिहास लिखनेवालों के लिए यह काफी महत्त्वपूर्ण खोज साबित होगी। वैसे यह सच है कि जिस समय मैं मुंबई उतरा और उतरने के साथ यह खोजवाली बात मेरे जेहन में उतरी तो मुझे काफी घबराहट हुई थी और यह सोचकर हार्ट-अटैक के मरीज की तरह पसीना छूटा था कि कहीं चौपट नगरी के सिपाही मोटी गरदन की खोज में मुझ पर ही न अटैक कर दें। उस समय 'अंधेर नगरी' नाटक के सभी सीन फिल्म की तरह मेरी आंखों के सामने से गुजरने लगे .. मुझे डर लगा कि कहीं न कहीं से चौपट राजा इस चौपाटी पर प्रकट होगा और मुझे फांसी की सजा फटाक से सुना देगा। मैं वहां से भागने की ही ताक में था कि मेरे पांव के नीचे से जमीन खिसक गयी। गरदन पर से हाथ नीचे किया तो मालूम हुआ कि गरदन तो नहीं, पर मेरी जेब जरूर साफ हो गई है। मैने अपनी जेब दोबारा तिबारा, चौबारा टटोली, पर मेरी टेंट उसी तरह खाली हो गई थी, जिस तरह हर पचवर्षीय योजना के बाद जनता का पेट। मेरी टेंट मार दी पाकेटमार ने और जनता का पेट मार दिया ठेकेदार ने, ताल्लुकेदार ने, सरकार के चौकीदार ने।

टेंट और पेट का रिश्ता जुड़वां भाइयों जैसा है। एक को मारो, दूसरा खाली हो जाएगा। जिसकी टेंट मारी जाएगी, उसका पेट खाली ही रहेगा और जिसका पेट मारा जाता है, उसकी टेंट कभी भर ही नहीं सकती। पेट की मार खानेवाली श्रेणी में आनेवाली कौम को जनता कहा जाता है। इस जनता से अलग दो तरह के लोग और होते हैं। एक तो वे, जो टेंट मारने का धंधा करते हैं, उन्हे जमामार कहा जाता है और एक वे, जो पेट मारने का धंधा करते हैं, उन्हे जमाखोर कहा जा सकता है और वे मोटे पेटवाले होते हैं। वैसे पेट की दास्तान काफी दिलचस्प दास्तान मानी गई है .... मैं ऐसे ही मोटे पेटवालों अर्थात् तोंदवालो की बात कर रहा था, जो पेट मारने का धंधा करते हैं। दूसरों का पेट मारने के कारण उनका पेट फलता-फूलता रहता है और फूलते-फलते विशालकाय हो जाता है। वैसे तोंद का मामला ऐसा है कि इस पर काफी खोज की जा सकती है मेरी समझ से पेटों की कई किस्में गिनाई जा सकती हैं कई डिग्री के पेट

हुआ करते है जनता का पेट जीरो डिग्री का होता है अर्थात् बिल्कुल सपाट या सफाचट स्थिति का होता है। सेठों का पेट 90 डिग्री से आरंभ होकर 180 डिग्री या फिर 270 डिग्री तक होता है। विशेष स्थिति में कभी-कभी 360 डिग्री की भी तोदे हुआ करती हैं। तोद के मामले में यह स्थिति चरमोत्कर्ष की है.... मैंने सरकार से कई बार अर्ज किया और सुझाया भी कि दरअसल देश के सामने मुद्रा-स्फीति की समस्या नहीं, बल्कि उदर-स्फीति के ही कारण सारी समस्याएं हैं। मेरा स्पष्ट सुझाव है कि यदि सरकार उदर-स्फीति को कम कर दे तो मुद्रा-स्फीति का संकट दूर हो जाएगा, पर सरकार है कि मेरी सुनती ही नहीं।''

इसी तरह मैं एक बार शुरू-शुरू में 'कहानीकार' के प्रसार की संभावनाओ को तलाशने के लिए कलकत्ता गया। भीड़-भाड से भरे हुए अस्त-व्यस्त और त्रस्त नगर कलकत्ता ने मुझे चौंकाया, डराया और सताया भी। बेगानगी, अजनबीपन और परायेपन के दंश से पीड़ित होने पर जार्ज बर्नाड शॉ की वह बात याद आई जिसमें उसने अनजाने शहर में मित्र-विहीन होने को एक तरह की नरक यातना से रूबरू होने जैसी बात कहा था। कलकत्ता की दर्शनीय चीजों को देखने मे 'कहानीकार' के लिए ऑफिसों के चक्कर लगाने में कई दिन गुजारने के बाद एक रात चौरंगी से गवर्नर हाउस की ओर की चौडी सड़क से पैदल चहलकदमी करते हुए आगे बढ़ रहा था कि गवर्नर हाउस के सामने की सड़क के मैनहोल का ढक्कन खुला हुआ था और मैं उसमें गिरते-गिरते बचा। पूरे शहर में जिधर नजर घुमाओ - 'अंग्रेजी ही अंग्रेजी, रोशनी ही रोशनी' और रात के वक्त गवर्नर हाउस के सामने का मैनहोल खुला हुआ। अगर यहां का यह हाल है तो देश का क्या होगा? बस, बात टक से लग गई और 'मैकाले का भूत' की रचना ने दिमाग मे आकार लेना शुरू कर दिया।

आपकी व्यंग्य रचनाओं और पहले संग्रह 'मैकाले का भूत' को लोगों ने किस रूप में लिया? कैसी-कैसी प्रतिक्रियाएं सामने आईं? आप अपने व्यंग्य लेखन को खुद किस रूप में लेते हैं ?

अपने पहले व्यंग्य संग्रह 'मैकाले का भूत' के जिन व्यंग्यों की बात मैंने की है वे महानगरों की यात्रा के दौरान जेहन में आए। बडे नगरों की यात्रा का मकसद तो कुछ और होता था, पर हालात की रंगत कुछ और होती थी। इस तरह की बातें कुछ और जगहों से भी जुड़ी हुई हैं। इन व्यंग्यों के बारे में व्यापक प्रतिक्रियाएं हुईं, किंतु कुछ प्रतिक्रियाएं अत्यंत सार्थक और महत्वपूर्ण हैं, जिनमे से प्रख्यात व्यंग्यकार रवीन्द्रनाथ त्यागी की बातें उल्लेखनीय हैं। एक पत्र में उन्होने लिखा : 'कुछ किताबें मंगाई थीं। 'मैकाले का भूत' भी उनमें शामिल था। पढना

सके उसकी विरोधी शक्तियो के खिलाफ मूल्यो की रक्षा की चेष्टाओ को कारगर किया जा सके और सच को प्रतिष्ठापित किया जा सके। अपने व्यंग्य लेखन से मै ऐसा ही कुछ करने की कोशिश करता रहा हूं।

यही काम तो कहानी और लघुकथा-लघुकहानियां भी करती हैं। फिर आप लघुकहानी पर जोर क्यों दे रहे हैं?

लघुकहानी के चिंतन, प्रवर्तन और लेखन को लेकर मेरे भीतर कुछ बात शुरू से ही थीं। व्यंग्य के द्वारा भी लेखक गलत के खिलाफ खड़े होने की चेष्टा करते हैं, किंतु ऐसा लगता है कि व्यंग्य का प्रहार आदमी के दिमाग पर पड़ता है उसकी मार बाहरी होती है, लेकिन लघुकहानी का असर सीधे मन पर होता है। वह आंतरिक कायाकल्प करती है। संवेदना और भावना से जुड़कर आदमी के भीतर का परिष्कार करती है। व्यंग्य में हास्य के लिए स्थान हो सकता है, किंतु लघुकहानी में हास-परिहास नहीं होता। वहां आंतरिक परिवर्तन और विकास होता है एक नए आदमी का जन्म होता है, भीतर का सोया हुआ आदमी जाग जाता है। लघुकहानी सोए हुए आदमी को झिंझोड़कर जगा देती है और हालात पर नए सिरे से सोचने को विवश कर देती है, अपनी बात का गहरा असर छोड़ जाती है। 1968 में लघुकहानी को परिभाषित करते हुए लिखा था : "लघुकहानी वर्णन का विस्तार न होकर एक परिभाषा है, परिभाषा की तरह ही वह चुस्त-दुरुस्त और नपी-तुली होती है और अपने सीमित कलेवर में मन की गहराइयों को छू जाती है। उसका संबंध समग्रतः जीवन के विस्तार को नापते हुए मील के पत्थरों से है और यह स्पष्ट है कि हर मील का पत्थर दूरी के बीच एक पारिभाषिक घटना है जो हमें पैमाइश के संकेत देती है, संपूर्ण विस्तार के अस्तित्व का पारिभाषिक बोध कराती है। लघुकहानी जीवन के अस्तित्व का कुछ ऐसा ही पारिभाषिक बोध है जो घटनाओं की स्वतंत्र इकाइयों के रूप में प्रकट होकर संपूर्ण जीवन के विस्तार की अनुभूति देती है। रंग सभी हो सकते हैं, पर आवश्यक नहीं कि एक बडा कैनवास ही लिया जाए, कैनवास के कटपीस पर भी चित्र खींचा जा सकता है जिसका प्रभाव दिल और दिमाग पर क्षणिक न होकर स्थायी हो। क्षणिक प्रभाव तो लघुव्यंग्य, चुटकुले और लतीफे भी छोड़ते हैं, जो कलेवर में तो लघुकहानी-से दीखते हैं, पर अभिव्यक्ति के स्तर पर सर्वथा भिन्न हैं।"

शुरुआत के दिनों में सातवें और आठवे दशक के प्रारंभ तक लघुकहानी चितन, लेखन और स्थापना संबंधी मेरी बातों से तुम भी सहमत रहे। 'कहानीकार' के जनवरी, 1976 तथा मार्च, 1976 के अंकों में मैंने तुम्हारा शोध लेख 'लघुकहानी : एक पुनर्मूल्यांकन' छापा था। इस दिशा और क्रम में विनायक

का भी अत्यंत महत्वपूर्ण योगदान है, जिनकी लघुकहानी 'नाव' को 'कहानीकार' के लघुकहानी पुरस्कार से सम्मानित किया। सुदर्शन नारंग तथा पंचदेव को भी पुरस्कृत किया था। लघुकहानी लेखन को आगे बढ़ाते हुए 'कहानीकार' में मैंने 'नया पंचतन्त्र' नाम से एक कालम शुरू किया, जिसमें अक्षपटलिक उपनाम से विनायक की अत्यंत प्रभावशाली और गहराई तक आदोलित कर देनेवाली लघुकहानियां वर्षों तक प्रकाशित करता रहा। इसी बीच 'सारिका' के साथ अन्य अनेक पत्रिकाओं ने लघुकथा विशेषांक निकाले, जिससे लघुकथा की संरचना की दिशा में लेखन कार्य शुरू हुआ। लघुकहानी के विरोधी खेमे के लोगों की ओर से तुम्हारे ऊपर लेखकीय दबाव भी पड़ने लगा और इस दिशा में हवा का जोर भी बढा। फलतः तुमने हवा का दबाव झेलते हुए और मेरी ओर से 'कहानीकार' की व्यस्तता के कारण लघुकहानी की संरचना, विधान-चिंतन के बारे में आगे की उदासीनता को देखते हुए लघुकथा के खेमे के साथ खुद को जोड़ लिया।

फिर तो तुम्हारे द्वारा संपादित हुए लघुकथा विशेषांकों, कथानामा शृंखला हिंदी लघुकथा कोश, भारतीय लघुकथा कोश, विश्व लघुकथा कोश जैसे महत्वपूर्ण प्रकाशनों के कारण लघुकथा की विजय पताका को लहराने का सारा श्रेय तुम्हे प्राप्त हो गया। मेरी अनेक लघुकहानियों को, मेरे विरोध के बावजूद तुमने लघुकथा के अतर्गत ही छापा। मैंने अक्सर तुमसे कहा कि लघुकथा के नाम पर जो रचनाएं पत्र-पत्रिकाओं में आ रही हैं, वह प्रायः अकबर-बीरबल या सरदारों के चुटकुलों के नए संस्करण ही हैं और उनका वह स्थायी साहित्यिक मूल्य नहीं होगा, जो ओ' हेनरी, मंटो, बनफूल आदि रचनाकारों की लघुकहानियों का है। तुम मेरी बातों से सहमत होते, किंतु लघुकथा से इतना जुड़ चुके थे कि उधर से वापस आना तुम्हारे लिए मुश्किल हो गया। मित्रता के तकाजे के नाते मैंने तुम पर दबाव डालना उचित भी नहीं समझा, पर इतना अवश्य है कि लघुकथा के नाम पर चुटकुला ब्रांड लघुकथा लेखन से क्षुब्ध तुम भी थे और उसकी अभिव्यक्ति कभी-कभी, कहीं-कहीं लघुकहानी की तरफदारी करके किया करते थे, क्योंकि तुम्हारा मन तो लघुकथा के जालों और सवालों में उलझा रहता था। शायद इसी कारण लघुकथा खेमे के लेखकों ने कमल गुप्त और बलराम को सूली पर लटका देने का फतवा भी चिट्ठियों के माध्यम से जारी किया। लघुकहानी को लेकर मेरा रास्ता साफ और निश्चित था, पर तुम्हारे मन और मस्तिष्क में खींचातानी थी। तुम लघुकथा के साथ थे, पर उसके लेखन से क्षुब्ध थे, लघुकहानी का साथ छोड चुके थे, पर उसके लेखन से संतुष्ट और आश्वस्त थे। फलतः गोष्ठियों में अक्सर लघुकथा के खेमे के लेखकों का विरोध सहते हुए भी गंभीर लेखन पर जोर देते

रहे लघुकथा कोशो को प्रकाशित करने के पीछे तुम्हारा उद्देश्य भी शायद एक गभीर मानदड को स्थापित करना ही था।

1992 के आरंभ में 'कहानीकार' के एक पूरे अंक में मैंने अपनी 38 लघुकहानियो का संकलन छापा। उसमें लघुकहानी की स्थापना, शास्त्र और संरचना पर मेरा एक लंबा शोध लेख प्रकाशित हुआ। साथ में डॉ. शुकदेव सिंह का लघुकहानी सभावना और मूल्यांकन, नाम से लेख भी छपा। दोनो लेखों ने लघुकहानी की नींव मजबूत कर दी। फिर 1992 के अंत में विनायक की 30 लघुकहानियों का विशेषांक प्रकाशित किया। इन दो विशेषांकों के कारण तुम्हारा मन लघुकहानी की ओर और भी जोर से खिंचने लगा। मेरी लघुकहानियों का पहला संग्रह 'तेजाब और अन्य लघुकहानियां' दिल्ली से प्रकाशित हुआ। इस सग्रह की प्रस्तावना मे तुमने लघुकहानी और लघुकथा से सहमति-असहमति के बीच से बल बचाते हुए लघुकहानी की गंभीरता और सार्थकता के लिए अपना आंतरिक और सार्थक सतोष व्यक्त किया था। किया था कि नहीं?

वो तो करना ही था, क्योंकि आपके लिए जो लघुकहानी है, वही मेरे लिए लघुकथा है। दोनों एक ही हैं। बहरहाल, आपकी लघुकहानियों पर कुछ प्रतिक्रियाएं तो किताब में छपी ही हैं। कुछ और भी प्रतिक्रियाएं हुईं क्या?

लघुकहानी की मारक शक्ति और उसकी गहरी प्रभावान्विति के संबंध मे बाते तो बहुत हैं, पर अपनी लघुकहानियों 'ब्लू फिल्म' और 'वर यात्रा' के संदर्भ मे यह बताने की इच्छा है कि 'ब्लू फिल्म' से प्रभावित होकर बनारस के जेसीज क्लब के एक पूर्व अध्यक्ष ने क्लब में ब्लू फिल्मों के प्रदर्शन पर रोक लगा दी और 'वर यात्रा' से प्रभावित होकर वाराणसी के अनेक परिवारों ने विवाह के समय सडक पर स्त्रियों के नाचने का विरोध किया था। कुछ ऐसी ही बातें मुंबई से छपने वाले 'जनसत्ता' के साप्ताहिक परिशिष्ट 'सबरंग' में प्रकाशित 'सलीब' लघुकहानी को पढ़कर, मुंबई के रिजर्व बैंक के अवकाश प्राप्त जनरल मैनेजर श्री के.सी. शर्मा ने अपने पत्र में मुझे लिखी थीं : 'आई एम प्रिजर्विंग दिस स्टोरी सो दैट इफ एट एनी टाइम आई एम फालिंग, इट मे वेकअप माई आत्मा एंड प्रिवेंट मी फ्राम फालिंग एंड ब्रिंग मी टु राइट पाथ, गाइडेंस।' इन और ऐसी कई बातो से मुझे लगा था कि लघुकहानी से जुड़ी मेरी भावना, सोच और अपेक्षा पूरे प्रभाव के साथ खरी उतरी है और लघुकहानी एक सशक्त स्वतंत्र विधा के रूप में उभर आई है।

लघुकहानी के संबंध में मेरे चिंतन और सोच को पृष्ठप्रेषित करती हुई ठाकुर प्रसाद सिंह की पंक्तियां हैं : 'लघुकहानी कहानी का संक्षिप्तीकरण नहीं है।

उसकी प्रजाति एक हो सकती है, पर पहचान अलग होगी। शेर और बिल्ली की प्रजाति एक कही जाएगी, पर बिल्ली और शेर में अंतर भी बहुत होता है। तितली दस कीड़ों जैसी जन्मती है; जितनी देर वह फूलों पर थिरकती है, उतनी देर वह तितली होती है। उसका मोहक व्यक्तित्व अपने परिवेश मे पूर्ण व्यक्तित्व बनकर उभरता है, इसे न तो पक्षियों का संक्षिप्त संस्करण कहा जा सकता है, न धरती पर रेंगनेवाले कीड़ों का वंशधर। लघुकहानी को स्वतंत्र विधा के रूप मे, विश्वास के साथ रचा जाना चाहिए। तभी हम एक स्वस्थ परंपरा की स्थापना कर सकेंगे। सच के साथ खड़ा होना और झूठ का विरोध करना साहित्य के बडे सरोकार हैं और उसके लिए प्रतिबद्ध होना रचनाकार के लेखन का मकसद है। मैं जो भी सोचता-करता रहा हूं, उसके पीछे यही मकसद रहा है। मेरे व्यंग्य लेखन और लघुकहानी तथा कविता लेखन के पीछे भी यही बात है।

खबर है कि आजकल आप कविताएं भी लिख रहे हैं। इसके पीछे भी क्या कोई घटना छिपी हुई है?

हां, पिछले कुछ वर्षों से लंबी कविताएं भी लिखनी शुरू कीं, सच के लिए लड़ाई के तहत। बनारस को अतिक्रमण से मुक्ति दिलाने के लिए एक अत्यंत साहसी, निडर, कर्मठ और ईमानदार अधिकारी हरदेव सिंह को यह कार्य सौंपा गया। कुछ ही महीने बीते होंगे कि वाराणसी के तत्कालीन कमिश्नर से एक विवाह के अवसर पर उत्तर प्रदेश सरकार के एक मंत्री ने कहा कि हरदेव सिंह को रोका जाए, क्योंकि उनका वोट बैंक प्रभावित हो रहा है। मैं वहीं कमिश्नर के साथ सोफे पर बैठा उनकी बातें सुन रहा था। जब वे अपनी बात कह चुके तो मैंने कहा, "आपको शिकायत हो सकती है, पर क्या आपको दिखाई नहीं पडता कि यह नगर अब दिखाई पड़ने लगा है, भीड़ के कारण पहले सड़कें हमारे सर पर से गुजरती थीं, अब गनीमत है कि हम उन पर से गुजरने लगे हैं।" मंत्री महोदय तो चले गए, पर इसी विषय पर 'अतिक्रमणकारी राक्षस के नाम' मैंने एक लंबी कविता लिखी। फिर 'रामलीला : एक दर्शन' नाम से लंबी कविता प्रकाशित हुई। उसके बाद 'गांधी के व्यक्ति में चारो युग समाहित हैं' शीर्षक से महात्मा गांधी और उनके चिंतन के आधार की एक नई दृष्टि से व्याख्या करती लंबी कविता लिखी। इस क्रम में खजुराहो की सहस्राब्दी के अवसर पर 'खजुराहो एक दर्शन' छपी। काव्य लेखन के इसी क्रम में भारत पर होने वाले आक्रमणो के संदर्भ में 'इतिहास गवाह है' शीर्षक से कविता प्रकाशित हुई है।

भारतेंदु का नमक तो 'कहानीकार' निकालकर चुका दिया लेकिन

प्रेमचंद से भी तो काफी कुछ लिया है?

साहित्य के बारे में प्रेमचंद के चिंतन से प्रभावित रहा। उन्होंने माना है कि साहित्यकार का लक्ष्य केवल महफिल सजाना और मनोरंजन का सामान जुटाना नहीं है, उसका दरजा उतना न गिराइए। वह देशभक्ति और राजनीति के पीछे चलनेवाली सच्चाई भी नहीं, बल्कि उसके आगे मशाल दिखाती हुई चलनेवाली सच्चाई है।' उन्होंने जोर देकर कहा कि 'लेखक का मनोरंजन केवल भांड़ों या नक्कालों का मनोरंजन नहीं होता, उसमें परिष्कार का भाव छिपा रहता है.... हम साहित्य को केवल मनोरंजन और विलासिता की वस्तु नहीं समझते .... हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा, जिसमें उच्च चिंतन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौंदर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सच्चाइयों का प्रकाश हो जो हममें गति, संघर्ष और बेचैनी पैदा करे, सुलाए नहीं .... जिस साहित्य से हमारी सुरुचि न जागे, आध्यात्मिक और मानसिक तृप्ति न मिले, हममे शक्ति और गति न पैदा हो, हमारा सौंदर्य प्रेम न जागृत हो, जो हममें सच्चा संकल्प और कठिनाइयों पर विजय पाने की सच्ची दृढ़ता न उत्पन्न करे, वह हमारे लिए बेकार है, वह साहित्य कहलाने का अधिकारी नहीं ... साहित्य का सबसे ऊंचा लक्ष्य दूसरो को उठाना, उन्नत करना है। हमारे यथार्थवाद को भी यह बात भूलनी न चाहिए। जिस साहित्य में हमारे जीवन की समस्याएं न हों, हमारी आत्मा को स्पर्श करने की शक्ति न हो, जो केवल जिन्सी मनों में गुदगुदी पैदा करने या भाषा-चातुरी दिखाने के लिए रचा गया हो, वह निर्जीव है...'प्रेमचंद की ये मार्गदर्शक और दिशा-निर्देशक पंक्तियां साहित्य और साहित्यकार के लिए एक स्थायी मानदंड और मूल्यों का निकष हैं। साहित्य कर्म और संपादन कर्म के समय मेरा सारा साहित्य-चिंतन इन विचारों से रूबरू रहता है।

प्रेमचंद के साहित्य की छाप मेरे व्यक्तित्व पर उस समय पड़ी, जब मैं इटरमीडिएट का विद्यार्थी था। वह प्रसंग मुझे आज भी याद है। मेरे एक फुफेरे भाई स्वर्गीय बैजनाथ सिंह 'विनोद' साहित्य प्रेमी, 'जनवाणी' के संपादक और क्रांतिकारी थे। कई बार जेल जा चुके थे। गर्मी की छुट्टियां थीं। वे अपने लिखने-पढ़ने के कमरे की सफाई करा रहे थे। उन्होंने टीन के दो बड़े-बडे आकार के संदूकों को उठाकर दूसरे कमरे में रखवाने के लिए मुझे बुलाया। संदूक को एक ओर से उन्होंने पकड़ा और दूसरी ओर से मैंने यह सोचकर झटके से उठाया कि उसमें कपड़े वगैरह होंगे, पर संदूक अपनी जगह से तिल भर भी नहीं हटा और मेरी कमर चिटकते-चिटकते बची। मैंने भाई से पूछा, "इसमें ऐसा क्या है कि यह इतना भारी है?"

किताब वह बोले

कैसी किताबे?

"प्रेमचंद की, प्रसाद की, शरत की, यशपाल और रागेय राघव की।"

"मुझे पढ़ने को देंगे?"

"नहीं, तुम इधर-उधर कर दोगे।"

"तो फिर मैं बक्सों को नहीं उठाऊंगा।"

"अच्छा, ठीक है। बारी-बारी से पढना, और उन्हें उसी तरह रखते जाना। उन्होंने कहा तो मैं भी बोला।

"ठीक है। अब चाबी तो दीजिए।" और उन्होंने चाबी दे दी। मैंने संदूक को घसीट कर दूसरे कमरे मे पहुंचा दिया। वह चाबी मेरे भविष्य की चाबी बन गई। पूरी गर्मियां मैं उन किताबों के बीच से गुजरता रहा और किताबे मेरे भीतर से गुजरती रहीं। मेरे भीतर मेरी जिंदगी के रास्ते बनते रहे। मेरी सोच, रुझान और सारा मनोरंजन उन्हीं किताबों से आबद्ध हो गया। वक्त लगा, पर सारी किताबें आखों की राह दिल-दिमाग में उतर गई। वह चाबी वास्तव मे मेरे भविष्य के किले की चाबी थी। मुझे लगा कि प्रेमचंद, प्रसाद, शरतचंद्र, यशपाल और रागेय राघव की कृतियां एक ऐसी प्रयोगशाला है, जिसके भीतर से गुजरने के बाद आदमी के भीतर वैचारिक, संवदेनात्मक और भावात्मक कायाकल्प हो जाता है तथा आदमी के भीतर से एक दूसरा आदमी पैदा हो जाता है, जो सच्चे अर्थों मे इन्सान होता है। मैं अनुभव करता हूं कि मेरा आंतरिक कायाकल्प भी कुछ इसी तरह हुआ और मैं प्रेमचद के रास्ते का मुसाफिर और उनके कारवां का हिस्सा बन गया, जीवन और लेखन दोनों स्तरों पर।

शायद यही जज्बा और लगाव-जुड़ाव था कि प्रेमचंद के 'हंस' में जब उसके वर्तमान संपादक राजेंद्र यादव 'हंस' की स्थापित मूल्य परंपरा और सामाजिक उत्थान की प्रतिबद्धता से अलग हटकर स्तरहीन, स्त्रीदेह केंद्रित अश्लील और फूहड़ सामग्री छापने लगे तो मैने राजेंद्र यादव को सीधे पत्र लिखे और 'कहानीकार' के कई अंको में प्रतिवाद, लेख, पत्र छापे। राजेंद्र यादव को मैंने याद भी दिलाई कि तुम्हारी ओर से मैने प्रेमचंद की परंपरा का 'हंस' में भली-भांति निर्वाह करने संबंधी आश्वस्ति अमृतराय को भी दी थी और इसी के बाद उन्होंने 'हस' को तुम्हें देना कुबूल किया था। इस समय मुझे अमृतराय से 'हंस' के बारे मे हुई वार्ता की याद ताजा हो आई है, जिसे राजेंद्र यादव ने अपने द्वारा संपादित 'हस' के पहले अंक (1986, अगस्त) में बतौर दस्तावेज आरंभ में छापा था। उस वार्ता की उन प्रासंगिक पंक्तियों को यहां पर अविकल देना अधिक सार्थक होगा

जो हस की परपरा को लेकर अमृतराय की आश्वस्ति से जुडी हुई है

इस सबध मे मेरा प्रश्न था : ''मैं ये समझता हू कि आपसे उसे लेने के बारे मे पूछने के पीछे, कहीं न कहीं उनका (राजेंद्र यादव) नैतिक भाव रहा होगा कि चूकि वह पत्रिका प्रेमचंद से और आपसे जुड़ी रही है तो कानूनी पक्ष उसमें न भी हो फिर भी नैतिक तकाजा तो है ही कि आपकी सहमति वे लें और कोई पाबंदी जैसी चीज भी न रह जाए।'' अमृतराय का उत्तर था : 'इसीलिए मैंने उनको अपनी सहमति भी दी कि उसे आप चलाइए, पर यह समझकर चलाइए कि उसकी एक विशेष परंपरा रह चुकी है। उसकी एक इमेज भी रही है, तो यह एक तरह की पाबंदी भी आपके लिए हो सकती है। हो सकता है कि आप अधिक मुक्त अनुभव करें एक नई पत्रिका को निकालकर, अपने ढंग से उसका एक नया रूप बनाकर, उसको अपनी एक नई अस्मिता देकर, पर इसके साथ एक बंधन तो है ही और अगर आप इसे समझ-बूझकर एक अनुशासन के रूप में स्वीकार करते है तो ठीक है, मुझे कुछ नहीं कहना, क्योकि फिर तो वो बहुत अच्छी बात होगी ...' लेकिन वो सारी बातें और उसकी संभावना तथा 'हस' की परंपरा और 'हस' को लेकर प्रेमचंद की सोच और अमृतराय की चिंता की परवाह करने की बात तो दूर, उन मान्यताओं और मानदंडों के विपरीत जाकर 'हंस' को जिस स्तर पर राजेद्र यादव ने उतारा है, उससे साहित्य के प्रति गंभीर दृष्टि रखनेवाले साहित्यकारों का दुखी और चिंतित होना स्वाभाविक है। राजेंद्र यादव जब तक 'हस' के साथ यह खिलवाड़ करते रहेंगे, मेरा विरोध यथावत कायम रहेगा। इसे आप प्रेमचंद की निस्बत मेरी कमजोरी मान सकते हैं और मजबूती भी। राजेद्र यादव मेरे मित्र हैं, पर उनसे यह सैद्धांतिक अनबन है तो है और मेरा विरोध उनके बदले हुए तेवरों और रुख के कारण ही है। शायद इससे भी प्रेमचंद के ऋण से कुछ उऋण हो जाऊं। 'कहानीकार' के संपादन से भी उनका कुछ ऋण तो चुकाया ही है और अपने लेखन से भी वही काम करता रहा हूं।

एक बार ज्ञानरंजन और सुनील कौशिश के बीच कटु पत्राचार हुआ। कौशिश ने उसे अपनी पत्रिका 'कथानक' में छाप दिया। ज्ञानरंजन ने 'पहल' में जवाब देने की बात लिखी तो मैंने उनसे आग्रह किया कि कौशिश की गलती को दोहराना 'पहल' का दुरुपयोग होगा। वे मान गए। राजेन्द्र यादव और आपकी नोंक-झोंक 'हंस' और 'कहानीकार' के पन्ने खराब कर रही है। राजेन्द्रजी से मैंने आग्रह किया था कि इसे रोकें। वे रुक गए, पर आप नही। शताब्दी और सहस्राब्दी की शुरुआत आप भी इस लफड़े को खत्म करके करें, मित्र होने के नाते यह मेरी कामना

तो है ही, इसरार भी है।

राजेन्द्र यादव के साथ मेरा विरोध वैचारिक है और यह विरोध है, कोई शत्रुता नहीं, जिसे खत्म करने की बात आप कह रहे हैं। राजेन्द्र हमारे अच्छे-खासे दोस्तों में शुमार हैं, इतने विरोध के बावजूद मैं उन्हें अपना मित्र ही समझता हूं। इससे अलग यदि मेरी उनसे शत्रुता भी होती तो भी मै उनकी स्वीकृत की हुई रचनाएं नहीं लौटाता। यह संपादकीय ईमानदारी का तकाजा भी है और मेरा तौर-तरीका भी। इस मुकाम पर और क्या हैं, इसे वो ही जानें। मुझे बहुत सारी बातों की जानकारी है और मैंने विरोध करने और मिजाजपुर्सी न करने के कारण बहुत कुछ झेला है। 'सारिका' के संपादकों के अहं से मेरा स्वाभिमान अक्सर टकराया है और वर्षों तक मेरी स्वीकृत की गई रचनाएं ठंडे बस्ते में दबी पड़ी रहीं बार-बार के आश्वासनों के बावजूद! अलबत्ता कन्हैयालाल नंदन के साथ का अनुभव कुछ दूसरा रहा, जिन्होंने 'सारिका' के एक ही अंक में मेरी तीन लघुकहानियों को महत्व के साथ प्रकाशित किया था। ऐसे ही तुमने 'नवभारत टाइम्स' में मेरी तीन लघुकहानियां महत्व देकर छापी थीं और धीरेंद्र अस्थाना ने 'जनसत्ता' के 'सबरंग' में। वस्तुतः संपादकीय ईमानदारी को व्यक्तिगत संबंधों का न तो मोहताज होना चाहिए, न ही गुलाम। राजेंद्र को मैंने यहां भी कमजोर पाया है।

सपादक में कमजोरियां हो सकती हैं, किंतु संपादकीय नीयत में खोट की माफी नही हो सकती। सपादक अपने पत्र का भले ही मालिक हो या नियुक्त सेवाकर्मी, उसे प्रतिभाओं और महत्वपूर्ण रचनाओं का हत्यारा होने की छूट नहीं दी जा सकती। वह आनेवाले रचना-युग का निर्माता होता है। इस कार्य को भाई-भतीजावाद की राजनीतिक दुष्प्रवृत्ति से बचाकर संपन्न करना संपादक का पहला दायित्व है। संपादन कार्य किसी के घर की खेती नही है और न ही किसी की बपौती है, अपितु एक साहित्यिक संकल्प है, जिसके क्रियान्वयन में भौतिक चिंतन, नवीन सृजन को उत्प्रेरित करती सर्जनाशील दृष्टि, मानवीय मूल्यों और सर्वव्यापी हितों के रक्षण के लिए संघर्षशील चेतना-शक्ति, सांस्कृतिक जमीन और जमीर को मजबूत बनानेवाली प्रतिबद्ध कलम और नित-नए रुचिकर सृजनात्मक कालमों की प्रस्तुति की आवश्यकता होती है। वह साहित्यिक मानदंडों, मूल्यों और उद्देश्यों का संस्थापक होता है। प्रेमचंद ने इसीलिए 'साहित्य का उद्देश्य' लिखा और संपादक को उस साहित्य का संरक्षक बताया, जो मात्र दर्पण नहीं, अपितु दीपक भी हो। बलरामजी, अब आप ही बताएं, इस रास्ते से अलग पत्रिकाओ मे गाली-गलौज के गलीज को छापकर वे कौन-सा भला साहित्य और समाज का

कर रहे हैं? आखिर वे क्या सदेश देना चाहते हैं?

दलित और अफ्रीकी साहित्य का हवाला देकर राजेन्द्र स्तरहीन और गाली-गलौज से भरे साहित्य को गरिमा-मंडित करना चाहते है और पृष्ठप्रेषण मे कुछ अफ्रीकी लेखकों के नोबेल पुरस्कार से सम्मानित होने की बात को आधार बना रहे हैं। इस संदर्भ में मेरा कहना है कि हम ऐसे बड़े अंतर्राष्ट्रीय पुरस्कारों के पीछे निहित अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की कुत्सित मानसिकता की अनदेखी नहीं कर सकते, करनी भी नहीं चाहिए। जिस अफ्रीका के लाखो लोगों को अभाव, अकाल और भुखमरी मे मरने दिया जाता हो, वहां के इस तरह के साहित्य को सम्मानित करने के पीछे विश्व के सामने अफ्रीकी साहित्यिक सोच और लेखन में खुलेपन के नाम पर होनेवाले नंगेपन को ही प्रचारित करने और इस प्रकार उनकी उद्ध्वस्त और ओछी सांस्कृतिक स्थितियों और सामाजिक मनःस्थितियों को बेनकाब करने की ही मंशा छिपी रहती है। प्रकारांतर से यह उन राष्ट्रों को सम्मानित करने की अपेक्षा अपरोक्ष रूप में असम्मानित करने की एक दूरगामी फितरत का अजाम होता है। योरोपीय और अफ्रो-एशियाई फासले को समझने के लिए लार्ड किपलिंग का वह वाक्य यहा पर बहुत अधिक सार्थक और प्रासंगिक है कि 'ईस्ट इज़ ईस्ट एंड वेस्ट इज़ वेस्ट, द ट्वाइन कैन नेवर मीट।' भारतीय वाग्मय में ऐसे लेखन को हतोत्साहित किया गया है और उसे दैवी शक्तियों द्वारा गर्हित मानकर प्रताड़ित किया गया है। किंवदंती है कि संस्कृत साहित्य मे महाकवि कालिदास और रीतिकालीन साहित्य में महाकवि केशवदास को दैवी मातृ शक्तियों ने दण्ड स्वरूप कुष्ठग्रस्त कर दिया तो प्रायश्चित स्वरूप कालिदास को 'रघुवंश महाकाव्यम्' और केशवदास को 'रामचंद्रिका' की रचना करनी पडी थी। ये किंवदंतियां झूठी हो सकती हैं, पर वे इस सच का उद्घाटन अवश्य करती हैं कि साहित्य में गर्हित, घृणित, दूषित, अवमूल्यित रचना के लिए स्थान नहीं है, अपितु वह त्याज्य है, अस्वीकार्य है, किंतु कैसी विडंबना है कि हम ऐसे साहित्य को माथे पर तिलक की तरह धारण कर रहे हैं। मेरा विश्वास है कि यह आज का तथाकथित तिलक एक दिन माथे का कलंक साबित होगा और ऐसा सारा साहित्य दूषित और प्रदूषित मानकर गहरे दफन कर दिया जाएगा, रीतिकालीन साहित्य की तरह। ऐसा साहित्य विदेशी सोच का हिस्सा हो सकता है, भारतीय सोच का नहीं। हमें चाहिए कि जूठन से परहेज करें।

राजेन्द्र यादव से मेरा विरोध इसी नाते रहा है कि वह भारतीय सोच और प्रेमचंद की दृष्टि का कायल बनने के साथ अपनी जबान के भी कायल बने। अभी भी वक्त है कि वह भारतीय परंपरा और सोच के महत्व को समझें और

कालिदास तथा केशवदास की तरह प्रायश्चित कर ले और इतिहास के हाथों शापग्रस्त होने से पहले अपना रास्ता बदल लें। मेरा मकसद है कि 'सूरत बदलनी चाहिए'। एक दोस्त के नाते मैंने कबीर के 'निंदक नियरे राखिए छप्पर-कुटी छवाय' की सद्भावना से राजेन्द्र की निंदा की है, किंतु यदि अब भी उनकी आख न खुले तो मैं क्या कर सकता हूं। वह खुद समझदार हैं, अपनी मर्जी के मालिक है, 'हंस' पत्रिका के संपादक हैं, पूरी एक फौज है उनके साथ और उस फौज के द्वारा मेरी मान्यताओं और हितों पर बार-बार मोहम्मद गोरी की तरह हमले भी हो रहे हैं, किंतु अब आपके इसरार और कामना का खयाल करके भविष्य मे मैं कोई शब्दबेधी बाण उन पर नहीं चलाऊंगा, इस उम्मीद में कि नई शताब्दी और सहस्राब्दी की शुरुआत के साथ भटकाव खत्म हों, रास्ते दुरुस्त हों, फासले कम हों और काफिले मजबूत हों।

जैनेंद्र और प्रेमचंद का रिश्ता उतना आत्मीय कैसे हुआ था? अपनी जैनेंद्र से हुई अंतरंग बातचीत को याद करना चाहेंगे?

प्रेमचंद के सबंध में बहुत सारी बातों का सिलसिला जैनेंद्रजी से जुड़ा होने के कारण मैं उनके दरियागंज स्थित निवास पर मिला था। उनसे पहले भी मैं कई बार मिल चुका था और उनके साथ अक्सर रात देर तक बातें होतीं। उनके व्यक्तित्व का अंतर्यामी खिंचाव उनसे बार-बार मिलने की कशिश पैदा करता। कभी न खत्म होनेवाले अलबम के पृष्ठों की तरह, उनके व्यक्तित्व के अनेक आयामों को उद्घाटित करते हुए अनगिनत चित्र हर बार नए एहसास के साथ दृष्टि फलक पर टिक जाते थे, टंक जाते थे। उन्हें देखने का सुख है, उनसे बात करने का सुख और ज्यादा है, उन्हें सुनने का सुख तो और भी ज्यादा। उनमें एक शिशु-सा सारल्य है, एक नारी का-सा रहस्यमयी खिंचाव है, एक दार्शनिक की-सी गहन दृष्टि है, एक चिंतक का असीम गांभीर्य और एक तार्किक की प्रखर विश्लेषणात्मक तथ्य प्रस्तुति की विशिष्ट सहजता है। अपनी बातों के दौरान उन्होंने प्रेमचंद के सान्निध्य में आने से लेकर प्रेमचंद के साथ के अंतिम दिनों की चर्चा की।

उनकी सहजता, सादगी, मिलनसारिता और बड़प्पन की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा था : 'गुप्तजी, मै क्या बताऊं! पहली बार देखकर तो जबर्दस्त धक्का लगा। इस कदर धक्का लगा कि मैंने समझा कि इतनी दूर से इसी आदमी (जोर देते हुए) को देखने आया हूं : बाल बिखरे हुए, अजीब-सा चेहरा, एक लाल इमली कंपनी की बनी हुई सस्ती-सी चादर.....। मेरे मन में था कि कोई कद्दावर, अच्छा हसीन, खूबसूरत नौजवान, देखने लायक कुछ ऐसी सूरतो-शक्ल तो मिलेगी। अब

ये तो सामान्य किस्म का आदमी है, जबकि मैं कुछ सुंदरता, भव्यता, सौम्यता कुछ इस तरह की तस्वीर देखना चाहता था तो धक्का तो लगा। खैर, वो एकदम से उतरकर नीचे आए और मेरे हाथ का जो बक्स था, अपने हाथ में ले लिया। फिर उन्होंने चाहा कि दूसरा बिस्तरबंद भी, जो मेरे हाथ में था, वो भी छीन ले, पर वो मैंने नहीं होने दिया... मै तो बिल्कुल अचंभे में आ गया। दोनों मे उम्र का कितना फर्क! वो बुजुर्ग और कहां मै! बीस वर्ष से भी ज्यादा का फर्क, पर इस तरीके से मेरा सामान ले जाना! मै तो सोच-सोचकर हैरान हो रहा था.. जो मैने एक खयाली, रूमानी-खयाल बनाया था, वो तो टूटा, लेकिन जो बना था, वो उससे भी बुलंद था... फिर जो बातचीत शुरू हुई तो ये सब बातें मुझे भूल गई और मुझे ये तक ख्याल नहीं रहा कि जिस शख्स से मैं बात कर रहा हूं, वो मेरे बराबर का नहीं है, बड़ा है, बहुत बडा!

ये बातें तो प्रेमचद और जैनेंद्र के बीच की थीं, पर जैनेंद्रजी और मेरे बीच की बातें भी काफी लंबी हैं, नए-नए वाक्‌युद्ध के दांवपेंचों से युक्त और संयुक्त। इस वार्ता के संबंध में राजेन्द्र यादव ने मुझे चुनौती देने के लहजे में कहा था कि वार्ता में सबको भले ही पछाड़ लो, पर जैनेंद्रजी जैसे धक्काड़, महारथी साहित्यकार के सामने चारों खाने चित्त हो जाओगे, जब वे तुम्हें दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक किलेबंदी से घेरेंगे। राजेंद्र की बात वाकई सच थी। जैनेंद्रजी को जब मैं प्रश्नो से घेरता था तो वे मेरे सामने मनोविज्ञान से जुड़े अनेक शब्दों को बारूद की तरह दाग देते – आब्सेशन, डिप्रेशन, सब्लिमेशन, साइको एनालिसिस आदि। इसी तरह दर्शन से सांख्य, योग, प्रत्यभिज्ञा, द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत प्रेम की अद्वैत स्थिति, मृत्यु एवं जीवन के रहस्यों से जुड़े रहस्य और संशयग्रस्त प्रश्न। मनोविज्ञान, दर्शन, इतिहास, संस्कृति, साहित्य से जुड़ा होने के कारण मैं उनके वाक्‌जाल और वाक्‌व्यूह से निरापद बचकर फिर उन्हें लाजवाब करने की कोशिश मे लग जाता तो वे शब्दों पर असामर्थ्य का दोष मढ़कर अपना बचाव कर लेते।

अमृतलाल नागर से भी तो आपकी अंतरंग मुलाकातें हुई थीं?

हिंदी कथा साहित्य के अमृत लाल और नटनागर अर्थात अमृतलाल नागर से चौक (लखनऊ) स्थित उनके निवास पर गले मिलते हुए मैंने कहा, 'हिंदी कथा के नवाब को मेरा सलाम।' जवाब हाजिर करते हुए उन्होंने कहा, 'नवाब नही मेहतर ... भई गुप्तजी, इस समय तो मैं मेहतर हो गया हूं। 'नाच्यो बहुत गोपाल के तथ्य संग्रह के लिए उपन्यास के पात्रों के घर जाकर उनके कप में चाय पीते वक्त मुझे यही लगा कि लेखक को पात्रों के रंग में रंग जाना चाहिए, जैसे मीरा श्याम के रंग में रंग गई थीं। 'सबके प्यारे दुलारे और मेरे बेहद अपने नागर रहते

लखनऊ मे जरूर थे पर उनका मिजाज बनारसी था पान का पानदान और गिलौरियों की लोरियां उन्हें लेखन के दूसरे क्षितिज में उड़ा ले जाती थीं। अगर कुछ कोर-कसर बाकी रह जाती तो उसे शिव का प्रिय पेय भंग और उसकी तरंग पूरी कर देती थी। प्यारभरी मुस्कराहट और खनकती उन्मुक्त हंसी उनके चेहरे को आत्मीयता की सुगंध से भर देती थी। छल-छद्म से दूर, बाहर-भीतर एक, पूरी तरह पारदर्शी। शान से कुबूल करती हुई कृतज्ञ भंगिमा : भई, मेरी एक आंख शरच्चंद्र है तो दूसरी प्रेमचंद। मेरा रस, जीवन का रस, मेरे लेखन का रस तो बस कथा रस है, वही जीता हूं, वही पीता हूं, मेरी जान वही है, मेरी पहचान वही है।'

कथ्य, तथ्य और अनुभूति की खोज और कल्पना के ताने-बाने में उसे उतारने में एक अन्वेषी पत्रकार की तरह, पुरातत्ववेत्ता की तरह, इतिहासकार की तरह जांच-पड़ताल करना, प्राथमिकता की परख करना और तब अपनी कलात्मकता के सूत्रों में उसे पिरोने की अद्वितीय कला नागरजी की कलम की खासियत थी। प्रेमचद से उन्होंने बहुत कुछ लिया। उनका कर्ज वे कुबूल करते हैं और ताल ठोंककर गुस्से से भरे हुए उन सबके खिलाफ खड़े हो जाते हैं, जो प्रेमचंद को खारिज करने की कोशिशें करते हैं : 'अरे, उसने तो समाज के लिए, आम आदमी के लिए अपना कलेजो निकालकर रख दिया और तुम हिंदी-उर्दू वाले उसे खारिज करते हो! लानत है तुमको! अरे है किसी में बूता तो प्रेमचंद बन के दिखाओ। आसमान पर थूकने से आसमान का कुछ नहीं बिगड़ेगा, तुम्हारा ही चेहरा बदरंग होगा।' ये बातें उन दिनों की हैं, जब 1980 में प्रेमचंद जन्मशती को लेकर सारे देश में निजी संस्थाओं और सरकारों की ओर से गोष्ठियां और संगोष्ठियां आयोजित हो रही थीं।

'कहानीकार' को लेकर कई बार आप संकट में पड़े हैं, पर कुछ बहुत गहरे संकट भी आए होंगे, उनका सामना कैसे किया?

जिंदगी सीधी-सादी लकीर या साफ-सुथरी तस्वीर या कोई खूबसूरत ताबीर ही नहीं होती, बगैर गुलाब के कांटों, प्रतिवादों, विवादों, विरोधों की खुरदरी छडी भी होती है। जिंदगी का लंबा हिस्सा विवादों और विरोधों की सरशैया पर गुजारा है, इस हद तक कि विरोध मेरे लिए खुशी के सबब बनने लगे : दर्द का हद से गुजरना है दवा हो जाना या फिर ये कि मुश्किलें मुझ पर पड़ीं इतनी कि आसां हो गईं। 'कहानीकार' को लेकर अक्सर दबाव झेलने पडते कि अमुक साहब की अमुक रचना आपको छापनी ही पड़ेगी.. देखे, कैसे नहीं छापते। और मैं ऐसे लोगों के 'देखें कैसे' और 'समझ लेंगे' की बारूदी धमकियों के बीच उनको

बिना छापे 'कहानीकार' छापता रहा। इतना ही नहीं, मेरे इलाके मे रंगदारी वसूलने वाले पिस्तौलधारी रंगदार ने घोषित किया कि तुम्हारा यह 'कहानीकार प्रेस तभी चलने पाएगा, जब माहवारी तय करोगे। मैंने कहा, 'सुनो भइया, हम साहित्यकार लोग खुद को जलाकर रोशनी देना जानते हैं। हमारे पास पैसा नहीं होता कि तुम्हें दें। जब मैंने इन्कार कर दिया तो इंदिरा गांधी के आपातकाल के दौरान यह हवा फैलाकर कि मेरे प्रेस में इंदिरा गाधी के खिलाफ पोस्टर छपते हैं, उन लोगों ने प्रशासन द्वारा अर्द्ध रात्रि में, जब मैं नागरी नाटक मंडली मे सपरिवार एक नाटक देख रहा था, छापा डलवा दिया। मेरी अनुपस्थिति मे वाराणसी के ए.डी.एम. राजाराम उपाध्याय ने वास्तविकता को जानकर मेरे घर और प्रेस के दरवाजे बिना तोड़े छापे के कार्य को स्थगित कर दिया था। सामाजिक प्रतिष्ठा को मटियामेट करने की उस नाकाम कोशिश के बाद भी जब रगदारो का दबाव मुझ पर भारी पडने लगा तो मैंने दहशत मे जीने वाले इलाके के लोगों को संगठित किया। शांति सुरक्षा समिति का गठन करके इलाके के वयस्क, समवयस्क और अल्पवयस्क लोगों को उसमें सम्मिलित करके, उनमे साहस का सचार करके रंगदार के खिलाफ पुलिस रिपोर्ट लिखानी शुरू की। वह जान से मारने की धमकी देता। मैं साहस और ढांढ़स बंधाकर एफ.आई.आर करवाता।

दर्जनों रिपोर्टों के बाद तत्कालीन एस.एस.पी से मिला, जिलाधिकारी से मिला और उस रंगदार को गुंडा एक्ट में जिला-बदल का आदेश हुआ। इलाके के एस.ओ. नागेंद्र सिंह के खौफ से बनारस के गुंडे बनारस छोड़ चुके थे, क्योंकि वे गुडों को मुठभेड़ में एक पैर से हमेशा के लिए अपग और अपाहिज बना देते थे। इस रंगदार के लिए भी उन्होंने कुछ ऐसा ही सोचा था, लेकिन मैंने एतराज किया कि जिस लड़के को अपनी आंखों के आगे जन्मते, खेलते और बड़ा होते देखा है, उसे जमीन में घिसटते अपंग रूप में नहीं देख सकता। एस.ओ. ने नाराज होकर कहा था कि "आप जैसे गाधीवादी लोगों के कारण ही इन सबका हौसला इतना बढ जाता है। अजीब हैं आप भी, जिसने आपका जीना हराम कर दिया, उसी को बख्श रहे है! अरे, ये साले नाग हैं... आपको फिर डसेंगे, तब मत कहिएगा...' मैं खामोश रहा। कुछ समय बाद वक्त ने उस समस्या का इलाज खुद कर दिया, क्योंकि रंगदारी का प्रतिवाद करते हुए दूसरे इलाके के लोगों ने उसे हमेशा के लिए शांत कर दिया था।

'धर्मयुग' का संपादन भारती जैसे बड़े रचनाकार को ले बैठा। 'कहानीकार' आपके लेखन को खा रहा है। इससे मुक्त हो लेने का मन नही करता?

'कहानीकार' का संपादन विगत 30 वर्षों से मेरे जीवन का साधना-कर्म हो गया है, यद्यपि यह सच है कि इसकी व्यस्तताओं और समस्याओं के निराकरण की कभी न खत्म होने वाली कोशिशों ने मेरे लेखन-कर्म को काफी अंशों में निगल लिया। पत्रिका प्रकाशन का दबाव इतना समय ही नहीं देता कि नियमित रूप से कुछ महत्वपूर्ण लेखन हो सके। इस दबाव की बात को अमृत भाई ने उस वक्त कुबूल किया था, जब उन्होंने 'नई कहानिया' को मुकुंद देव शर्मा के हाथों बेच दिया था और उसके बाद पत्रिका के कवर पर सायरा बानो का रंगीन चित्र छापा गया था। हिंदी साहित्य की इल्मी पत्रिका का चेहरा फिल्मी हो गया और उसकी सारी साहित्यिक उपलब्धियों पर पानी फेर दिया गया। तब मैंने अमृतराय से शिकायत की और कहा, 'अमृत भाई, तुमने 'नई कहानियां' को गलत और नासमझ हाथों में देकर एक साहित्यिक अपराध किया है। एक अच्छी-भली अत्यंत चर्चित पत्रिका की हत्या कर दी गई है। इसका पाप तुम्हारे ही सर जाएगा।' मेरी बातों और आरोपों के उत्तर में उन्होंने कहा था, 'यार, इस पत्रिका के कारण मेरा लेखन सफर कर रहा था, इसलिए उससे निजात ले ली।' किंतु मैं 'कहानीकार' से निजात न ले सका और मेरे लेखन की बलि चढ़ती रही। दो कृतियों के दिल्ली से प्रकाशित होने के बाद मुझ पर दबाव पड़ता रहा कि और पांडुलिपियां तैयार करूं और यथाशीघ्र उन्हें प्रकाशकों के पास भेज दूं, किंतु 'कहानीकार' के प्रकाशकीय और संपादकीय तकाजों तथा तनावों के आगे मैं न तो सर्जनात्मक लेखन कर पाया और न ही पांडुलिपियां तैयार कर सका। 'कहानीकार' मुझसे दशकों के दौर में कुछ इस तरह से जुड़ गया कि इससे अलग हो पाना मेरे लिए मुश्किल हो गया, क्योंकि यह मेरी सोच, वाणी और जीवन दृष्टि की अभिव्यक्ति हो गई है। 'कहानीकार' के लिए निरंतर सोते-जागते चिंतन करना, आर्थिक विषम स्थितियों की चिंता से मुक्त होने की चेष्टा करना, नित नए आकर्षक साहित्यिक कालमों को शुरू करने के बारे में सोचना और एतदर्थ लेखकों से संपर्क करना, नए-नए विशेषांकों को आयोजित करना, पत्रिका को मानवीय मूल्यो के रक्षण और सामाजिक परिष्कार के लिए एक कारगर साहित्यिक हथियार बनाने की दिशा में विचार पृष्ठों से अग्रसर करना, साहित्य में उभरती और उपेक्षित प्रतिभाओं की खोज और उनका समुचित आकलन करना, प्रगतिशील आलोचना का पुनर्मूल्यांकन करने हेतु प्रासंगिक और सारगर्भित लेखों का प्रकाशन साहित्य के मगरमच्छों की खोज-खबर लेना, पत्रिका के आवरण पृष्ठ पर भारतीय कलाकृतियों और कलाचित्रों के साथ समय-समय पर आधुनिक कला शैलियों को प्रकाशित करके पाठकों में निहित कलाभिरुचि को जगाना और सृजनशील करना

हमारी साहित्यिक साधना के चरण हो गए। इन्हें कैसे छोड दें ?

'कहानीकार' के माध्यम से हिंदी भाषा की सेवा करके भारतेंदु के नमक का कितना हक अदा किया, यह इतिहास पर छोडता हूं, किंतु इतना अवश्य है कि शरीर में व्याप्त प्राणतत्व की तरह यह मुझसे जुड़ गई है और मैं इससे। पत्रिका के साथ उठना-बैठना, चलना-फिरना, सोचना-विचारना, विचरण करना मेरा शगल हो गया। मैं बीमार पड़ता, बिस्तर में बुखार में पड़ा रहता और जब बिस्तर छोड़कर 'कहानीकार' का काम करने के लिए टेबुल पर आकर चादर ओढकर बैठ जाता तो काम करते-करते बिना दवा के ठीक हो जाता। पता नहीं यह मेरे लिए दवा है या दुआ, या फिर खुदी है, बेखुदी है या खुदा है। बात दरअसल ये है कि 'कहानीकार' के हर अक को निकालने में एक तरह से मेरा दम निकल जाता है, मृतप्राय हो जाता हूं, किंतु अंक के निकलने पर जो खुशी हासिल होती है, उससे मैं फिर जिंदा होकर उठ खड़ा होता हूं, फिर से मरने के लिए, फिर से जीने के लिए। अनवरत इसके लिए यह जीना और मरना ही मेरा सुखद दुख है, मेरा दुखद सुख है, मेरा अभीष्ट है, मेरी परिणति है और है मेरी निष्पत्ति !! मेरी नियति भी उस फीनिक्स पक्षी की तरह है, जो अपनी ही राख से बार-बार जन्म लेता है, आकाश की अनंत, अबूझ, अदृश्य और रहस्यमयी ऊंचाइयो को जानने के लिए, छूने के लिए।

कहकर गुप्तजी नीले आकाश को देखने लगे, जहां चाँद अपनी पूरी आभा के साथ समष्टि को चांदनी बांटने में मशगूल था, चुपचाप; लेकिन गुप्तजी कभी चुप नहीं रहते, बात-बात में बातों से बातें बनाते हुए सामनेवाले की बोलती बद कर देते हैं। जैनेंद्रजी तक को 'शब्दो की असमर्थता' का तर्क देकर इनसे बचना पडा था। कवि-कथाकार राजेंद्रप्रसाद पाडेय के कमिश्नर कंपाउंड स्थित आवास मे बनारस की उस शाम भी गुप्तजी अपने खास तेवर और अदाज में बोलते चले गए थे। बातें चाहे गुलजार की फिल्मी ज्यादतियों की रही हों या राजेन्द्र यादव की वादाखिलाफियो की, गुप्तजी छोड़ते किसी को नहीं हैं, लेकिन मेरे इसरार का खयाल करते हुए राजेन्द्र यादव पर अब वे शब्दवेधी बाण नहीं चलाएंगे, बशर्ते वे साहित्य या साहित्यकार की आंख न फोड़ें। इस तरह दो अग्रजो के बीच का यह दीर्घकालिक मतभेद यहीं खत्म हो जाएगा, हम ऐसी भोली उम्मीद और कामना तो कर ही सकते हैं, लेकिन कहा जाता है कि बुजुर्गों में पाठापन लौट-लौट आता है। सो, किसी भी तरफ से अगर कोई वारदात फिर हो जाए तो उसे बुजुर्गों का पाठापन समझकर चुप रह जाने के सिवा और क्या कर सकेंगे हम लोग? □

साठोत्तरी कहानी के अजातशत्रु

हिमांशु जोशी

कृति पर अंतिम होता है काल का निर्णय

कहीं न होते हुए भी सब कहीं होना और किसी का भी न होते हुए सबका होना अगर एक सच्चे और अच्छे लेखक की पहचान हो तो प्रख्यात कथाकार-पत्रकार हिमांशु जोशी इस पहचान पर एकदम खरे उतरते हैं। 4 मई, 1934 को उत्तरांचल मे जन्मे हिमांशु जोशी ने 1954 से दिल्ली में रहते हुए मित्र तो हजारो बनाए, लेकिन दुश्मन शायद एक भी नहीं। इनके पाठकों की संख्या लाखों में होगी लेकिन उन आलोचकों की सख्या शायद उंगलियों पर गिनी जाने लायक ही हो जिन्होंने इनके विपुल लेखन की गहन-गंभीर जांच-पड़ताल ईमानदारी से की हो। अरण्य', 'महासागर', 'छाया मत छूना मन', 'कगार की आग', 'समय साक्षी है, तुम्हारे लिए' तथा 'सुराज' जैसे उपन्यास लिखनेवाले हिमांशु जोशी डेढ़ सौ से अधिक कहानियां लिख चुके हैं, जो ग्यारह कहानी संग्रहों में संग्रहीत हैं। तीन कविता संग्रह, दो यात्रा वृत्तांत तथा दस अन्य किताबें लिखने वाले परम घुमक्कड़ों में शुमार हो चुके हिमांशु जोशी उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, लखनऊ हिदी अकादमी, दिल्ली, केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा तथा राजभाषा परिषद, बिहार से पुरस्कृत हो चुके हैं और दुनिया की कोई बीस भाषाओं में इनकी रचनाओं के अनुवाद छपे हैं।

कानपुर से दिल्ली आने पर जिन कुछ अग्रजों से आत्मीयता हुई, उनमे हिमांशु जोशी का नाम प्रमुख है। नेताजी नगर और फिर मयूर विहार वाले दिनो मे भी वे हमारे लंबे समय के पड़ोसी बने तो उनसे दुनिया-जहान की बातें प्राय होती रहीं, लेकिन 1999 में हमने उनसे समय मांग लिया एक लंबी बातचीत का। कई किस्तों में हुई उनसे यह बातचीत, उम्मीद है कि सुधी पाठकों को बहुत कुछ ऐसा बताएगी, जो इसके पहले वे उनके बारे में जानते नहीं थे। 25 वर्ष तक 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' में पत्रकारिता करने के बाद लेखन के लिए नौकरी छोड

देने का निर्णय लेना कितना कठिन रहा होगा यह बात वही जान सकते है जो ऐसा निर्णय लेने की बात सोचते तो खूब रहे, पर छोडने का साहस प्रायः कर नही पाए। बहरहाल, प्रस्तुत है कई सिटिंग में पूरी हुई वह बातचीत।

सुना है कि पहाड़ से दिल्ली आने पर आपको बहुत कठिन और कठोर दिनों से गुजरना पड़ा। उन्हीं दिनों शायद पहली कहानी लिखी?

लिखने का जुनून शिक्षाकाल से ही रहा। पहले कविताएं लिखता था केवल कविताएं, पर बाद में कहानियों का दौर शुरू हुआ तो सिर्फ कहानियां ही लिखता चला गया, जो आज तक जारी है। सन् 1954 में दिल्ली आया। पढाई एक तरह से पूरी कर आया था। साधन सीमित थे, पर दायित्व उससे कहीं ज्यादा दीख रहे थे। यो परिवार संयुक्त था, परंतु धीरे-धीरे ताश के पत्तों की तरह सब कुछ बिखरने लगा, एक संपन्न परिवार के विपन्न होने की त्रासदी ! स्वाधीनता सेनानी पिता का 1942 में जब निधन हुआ, तब मैं केवल सात साल का था। उनकी अकाल मृत्यु के बाद संघर्षों का जो दौर शुरू हुआ, वह कई वर्षों तक चलता रहा। एक-एक कर दुकान, मकान, बगीचे और खेत बिकने लगे। अंत में एक-दो छते ही शेष रह गईं, जिनके साए में हम सिर छिपाकर रह सकते थे और हथेली भर खेत, जो जरूरत पडने पर हाथ से ही खुरचे जा सकते थे।

इस स्थिति में क्या हो, कैसे हो, कुछ सूझता न था। अभी मैंने बीस वर्ष भी पूरे नहीं किए थे कि पहाड से उतरकर दिल्ली के बियाबान में भटक रहा था अकेला, और कोई राह दीख नहीं रही थी। आंखों में सपने थे कुछ करने, कुछ कर गुजरने के, परन्तु सामने अनेक सवाल मुंह बाए खड़े थे। मुझे लगता, यह कहां आ गया हूं मैं ! कहां अपने रुपहले, बर्फीले पहाड़, हिम-शीतल स्वच्छ बयार। निर्मल झरनों का अमृत जल। दिग-दिगंत तक फैली हरियाली। चीड़-देवदार के घने वन। काफल, बमोर के वृक्ष। कहां मई-जून में आंवे की तरह तपती हुई दिल्ली ! लू के थपेडे ! उमस ! धूल ! धुआं ! पसीना ! आदमी ही आदमी, पागलो की तरह भागते ! फिर भी न जाने वह कौन-सी जिजीविषा थी कि मैं निरंतर चल रहा था ! चलता जा रहा था। चलता चला जा रहा था। शायद मेरी आंखों में भविष्य के सतरगी सपने थे। जीवन में कुछ कर गुजरने की अदम्य चाह। शायद इसीलिए इस अनिश्चितता में भी कहीं घोर आश्वस्ति .ा भाव कि यह काल-रात्रि भी आखिर कब तक रहेगी ! तब अंधियारे आकाश में मुझे असंख्य तारे टिमटिमाते दीखते। शायद इसीलिए जीवन में नैराश्य धूप-छांह की तरह कभी आया भी तो टिका नहीं। अदृश्य भविष्य मुझे हमेशा जगमगाता-सा सामने खडा दीखता, जैसे पहाड़ की पीठ पर खड़े होने पर सामने का दूसरा पहाड दीखता है, साकार, सदेह।

शायद मै दिल्ली कभी न आता, कहीं पहाड़ में अध्यापकी मे ही अपना जीवन खुशी-खुशी बिता देता, अगर एक मित्र से लेकर राहुल सांकृत्यायन की किताब 'मेरी जीवन यात्रा' न पढ़ लेता। नवाजिंदा वाजिंदा के शेर 'सैर कर दुनिया की गाफिल जिंदगानी फिर कहां? जिंदगी गर कुछ रही तो नौजवानी फिर कहां !' से प्रेरित होकर राहुलजी घर से निकल पड़े थे कभी, उसी प्रेरणा ने मुझे भी कही का न छोडा था। टीचरी से बिना त्यागपत्र दिए, बिना किसी को कुछ बताए घर छोड़ दिया और दिन-रात दिल्ली की भीड़भरी सड़कें नाप रहा था। खरामा-खरामा। दुनिया भी देखनी थी, दायित्व का निर्वाह भी करना था, दो विपरीत ध्रुव एक साथ खींच रहे थे। राहुलजी ने तो घर-गृहस्थी का जंजाल उठाकर फेंक दिया था और मैं गृहत्याग किए बिना बुद्ध बनना चाह रहा था। लेखक बनने की साध भी कहीं साथ-साथ चल रही थी, अगल-बगल में।

अपने परिवार के मित्र, कपडे के एक आढ़ती के यहां चांदनी चौक मे कुछ दिन रहा। ग्राहकों के लिए बनाए गए लाला के लंगर में सुबह अरहर की दाल और गरम-गरम मोटी रोटियां मिल जातीं। बूढ़ा रसोइया मुझे भी व्यापारी ही समझता, पर एक दिन अपने मैले-पीले दांत दिखाता हुआ बोला, 'का अबी भी बौपार पूरा नहीं किया लल्ला?' मेरे लिए खतरे की घंटी थी यह ! बित्ते भर ठौर, और कुछ काम की तलाश में मैंने और तेजी से हाथ-पांव मारने शुरू कर दिए। लाला कुछ कहे, उससे पहले कोई व्यवस्था कर लेनी चाहिए !

'कम्पाउंडरी कर सकेंगे?' एक दिन लाला ने पूछा। मैंने विना कुछ सोचे-समझे 'हां' की मुद्रा में सिर हिला दिया। पास ही चांदनी चौक बाजार मे अपने परिचित एक छोटे से डॉक्टर के पास वह ले गए।

'मरीजों के घाव धो सकेंगे, मरहम-पट्टी कर सकेंगे?' डॉक्टर ने प्रश्न किया 'हां, कर लूंगा।' मैंने कहा, फिर कुछ रुककर वह बोला, 'यहां पानी नहीं है। सड़क के उस पार कमेटी का बंबा है। बाल्टी से पानी भर कर लाना होगा ...।

मैं क्षण भर असमंजस में पडा सोचता रहा। चांदनी चौक के भरे बाजार मे सडक के एक किनारे से दूसरे किनारे तक पानी भर कर लाना होगा, दिन में कई बार ! पहाड़ की तरफ के अनेक परिचित व्यापारी कपड़ा खरीदने के लिए आए दिन दिल्ली आते रहते थे। कहीं किसी ने देख लिया तो कितनी बदनामी होगी? क्या कहेगे लोग? मैं तो कुछ करने के लिए आया था यहां ! इतने समृद्ध, नामी-गिरामी परिवार की यह परिणति ! शिबौ शिव !

फिर आपने क्या किया फैसले की उस घड़ी में? ऐसे में तो बड़े साहस की जरूरत होती है !

मैंने झटके के साथ सिर हिलाया और उठकर चला आया तलाश फिर शुरू हुई। और अन्त में एक दिन मै अपना टिन का ट्रंक और दरी में बिस्तर समेटकर शाम को चांदनी चौक से तांगे पर बैठा और जा पहुंचा, बाग कड़े खा। ईट और मिट्टी के गारे से खड़े किए गए एक बेढंगे घर के आगे तांगा रुका। घर क्या था, घरौंदा जैसा कुछ था, दिल्ली के अंतिम छोर पर। नीचे तीन-चार भैसे बधी थीं। गोबर की दुर्गंध ! सीढ़ियों के ऊपर छोटा-सा कमरा। किसी जरूरतमद 'छडे' को किराए पर उठाने के लिए पर्याप्त था। 'ताऊ' के इस दड़बे में मेरा निकट का एक रिश्तेदार पहाड़ी 'छड़ा' रहता था। उसी की मेहरबानी से कुछ दिन मुझे भी यहां गुजारने थे, कड़की के दिन ! किशनगज के पास दूधियों की अनधिकृत बस्ती थी यह। कच्चे-पक्के, आड़े-तिरछे घरौदे। कीचड़भरी कच्ची गलियां। चारों ओर भिनभिनाती अनगिनत मक्खिया, मच्छर ! इस कमरे में एक चारपाई का भी समा पाना कठिन था। शायद इसीलिए बच्चों के सोने लायक एक बास की टूटी चारपाई पड़ी थी, इतनी छोटी कि सोने पर घुटनों से आगे के पाव हवा में झूलने लगते।

बारिश होती तो इस घर का नजारा देखने लायक होता। थाली, कटोरिया बच्चों की कागज की नाव की तरह तैरने लगतीं। बंधु कपड़े की मिल मे काम करता था, शिफ्टों में, इसलिए जब उसकी रात की ड्यूटी होती तो मुझे कुछ चैन मिलता, क्योंकि इस कमरे में एक समय में, एक ही आदमी समा सकता था। अत उसकी अनुपस्थिति में यहां मेरा एकछत्र राज्य होता। अपनी मिल से 'ब्लीचिग पाउडर' का एक अदना-सा, टिन का सफेद गोल ड्रम वह आटा रखने के लिए आठ-दस आने में खरीद लाया था। उसकी गैर मौजूदगी का लाभ उठाकर मैंने उस ड्रम की अपने लिए एक नई उपयोगिता खोज निकाली थी। मेज पर ही लिखने की आदत थी मेरी, पर यहा मेज-कुर्सी कहां? अतः ड्रम को खडा करता। उसके ऊपर अपना छोटा-सा टिन का बक्सा तिरछा जमाता। फिर चारपाई के डडे पर बैठकर घंटों सरस्वती की साधना में संलग्न रहता। प्रायः देर रात तक लेखन का यह क्रम जारी रहता। एक ओर मेरी साधना थी, दूसरी ओर मालिक मकान की शिकायतें कि जब से यह नया 'छोरा' आया है, रात देर तक रोशनी जलाता है, जिससे हमारी भैंसें रात को भली भांति सो नहीं पाती। अत प्रातः दूध कम देने लगी हैं।

उसकी शिकायत अपनी जगह पर थी, परंतु दिन भर नौकरी के लिए भटकने के बाद रात-रात भर मेरी यह साहित्य साधना अबाध गति से चल रही थी। यहीं पर पूरी हुई मेरी पहली कहानी 'बुझे दीप'। यों कुछ चीजें इससे पहले

भी लिखी थी पर कही छपने नहीं भेजी थी यह कैसी रही इसका सही सही अनुमान नहीं था। फिर भी लगता था कि बहुत अच्छी न भी सही, पर बुरी भी नहीं है। सफेद कागज पर पेंसिल से समानांतर लकीरें खींचकर, एक-एक शब्द मोती की तरह, साफ-साफ ! स्वच्छ । कही एक भी खरोच नही ! तब की यह आदत आज पैंतालीस वर्ष बाद भी बनी हुई है। कागज को मुड़ने से बचाने के लिए बेलन की तरह कहानी को मैंने बड़े जतन से लपेटा और यों ही निकल पड़ा शहर की तरफ।

'रेडियो में ऑडीशन दे चुका था और मुझे लगता था कि शायद यहीं कोई किनारा मिल जाएगा ! मैं देख रहा था : स्टूडियो में शीशे के उस पार निर्णायक बैठे थे। एक-एक उम्मीदवार का स्वर बडी सावधानी से परख रहे थे। उनमें एक सज्जन सफेद गांधी टोपी पहने थे। उन्होंने बड़ी बेरहमी से मुझे 'रिजेक्ट' कर दिया। बाद में पता चला कि ये महानुभाव हमारे आदरणीय विष्णु प्रभाकर थे जिन्होंने मुझे इस काबिल नहीं समझा था। आज इतने साल बाद भी विष्णुजी को छेड़ने के लिए कभी-कभी कहता हूं तो वे शालीनता से कुछ-कुछ झेंप-से जाते हैं।

गर्मी के उमस भरे दिन थे वे। आग उगलता सूरज छत पर चमक रहा था। सलीके से कपड़े पहनकर बाहर निकला तो लगा कि जैसे आग की लपटों के बीच झुलसता हुआ चल रहा हूं। ऐसी गर्मी पहाड़ों में कभी देखी नहीं थी। रास्ते में पेडों की छांह, बरामदों की ओट, कहीं-कहीं प्याऊ का गरम पानी ! मैं चल रहा था और चलता जा रहा था ! किस पत्रिका को दूं, दूं भी या नहीं? जैसी कहानियां छप रही हैं, उनसे बुरी तो नहीं ! हो सकता है कि यह भी मेरा भ्रम हो। अपनी रचना किसे नहीं लगती अच्छी !

आपकी यह पहली कहानी फिर कहां और कैसे छपी?

दिल्ली में अनेक पत्र-पत्रिकाएं थीं उन दिनों। 'समाज' मासिक पत्रिका के कई अंक देख चुका था। दरियागंज की तरफ कुछ काम भी था, किन्हीं से मिलना। अतः उसी दिशा में निकल पड़ा। किशनगंज से दरियागंज तक पैदल। पर वे सज्जन मिले नहीं। हां, फैज बाजार से गुजरते हुए 'ऋषि-भवन' का बोर्ड अवश्य दिखा, संगमरमर पर खुदा हुआ। सीढ़ियों के प्रवेश द्वार के पास काठ की एक छोटी-सी तख्ती पर लिखा था : 'जैनेंद्र कुमार !' जैनेंद्रजी का 'विवर्त्त' नैनीताल में अध्ययन-काल में 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' में धारावाहिक रूप में पढ़ चुका था, 'सुखदा' भी 'धर्मयुग' में। 'जाह्नवी तथा अन्य कहानियां' भी पढी थीं। कुछ ही दिन पहले यहीं से सीढ़ियां चढ़कर ऊपर गया था। जैनेंद्रजी अपनी बैठक में बैठे कुछ पढ़ रहे थे। कुछ देर तक बातें होती रहीं : 'तोल्सतोय कहते

थे परमात्मा ने अगर मनुष्य को एक मुह दिया है खाने के लिए तो उपार्जन के लिए दो हाथ भी। फिर आदमी के सामने उदरपूर्ति की समस्या नहीं रहनी चाहिए।'

जैनेंद्रजी अपने दार्शनिक अंदाज में कुछ ऐसे ही आप्त वचन कह रहे थे। वे अब तक यही समझे थे कि मैं कोई छात्र हूं, किसी काम से दिल्ली आया हू। साहित्य में कुछ रुचि रखता हूं, इसी निमित्त मिलने आया हूं। इस बार भी काम तो कुछ था नहीं उनसे। फिर भी सोचा, यहां तक आया हू तो दो मिनट मिलने मे क्या हर्ज ! और मैं सीढ़ियां चढ़ रहा था, दूसरी बार ! जैनेंद्रजी वैसे ही बैठे इस बार भी उसी तरह कुछ पढ़ रहे थे। देखते ही पहचान गए। 'कहिए हजरत, अभी दिल्ली में ही हैं, गए नहीं?' उन्होंने कहा तो मैंने बतलाया कि यहीं कुछ काम की तलाश में हू।

'यह हाथ में क्या है?' कुछ क्षण बैठकर जाने लगा तो जैनेंद्रजी ने बेलन की तरह मेरे हाथ में पकडे कागजों की ओर देखते हुए कहा।

'ये...ये कुछ नहीं...!' संकोच से मैंने इतना-सा उत्तर दिया।

'अरे भई, कुछ तो है, फिर कुछ नहीं कैसे?' उनके बहुत जिद करने के बाद मैंने कहा, 'कुछ नही... कल रात ऐसे ही कुछ लिखा था...।'

'हम भी देखें, क्या लिखते हो, कैसा लिखते हो?' जैनेंद्रजी ने वे कागज रख लिये और चार बजे अपने निवास पर आने के लिए कहा। 'तब तक मैं पढ लूगा।' वे बोले। 'घोड़ेवाले पार्क' में बैठे-बैठे मैंने दो घटे किसी तरह पसीने मे नहाते हुए बिताए ! घड़ी तो थी नहीं। अत लोगों से पूछ-पाछकर ठीक चार बजे जैनेद्रजी के घर पहुचा। एकदम खड़ी ऊंची सीढ़ियां, साधारण-सा घर ! बाहर दीवार पर दाईं ओर जैनेंद्रजी की नेमप्लेट के पास किसी ने लिख दिया था : 'शिक्षामंत्री, विश्व सरकार।' बाद में पता चला कि 'विश्व सरकार' के शिक्षामंत्री की यह उपाधि प्रखर हिंदी कथाकार ऋषभचरण जैन ने उन्हें दी थी, जो मानसिक रूप से कुछ अस्वस्थ चल रहे थे। कुछ-कुछ निरालाजी जैसी स्थिति हो गई थी उनकी।

जैनेंद्रजी अपनी छोटी-सी बैठक में परिवार के लोगों के साथ बैठे थे। देखते ही बोले, 'भई, कहानी हमने पढ़ ली है। अच्छी है, बहुत अच्छी।.. यहीं पास ही दस दरियागंज में 'टाइम्स ऑफ इंडिया' का कार्यालय है। वहां 'नवभारत टाइम्स मे जाना और अक्षय से कहना, जैनेंद्र ने भेजा है।'

मैं सीढ़ियों से नीचे उतरा। बड़ा अटपटा-सा लग रहा था यह सब ! खैर ढूढता-ढांढ़ता 'नवभारत टाइम्स' पहुचा। अक्षयजी के कमरे के बाहर एक चपरासी

बैठा था, उसे रचना देकर चुपचाप चला आया। मुझे यह कहना उचित नहीं लगा कि कहानी जैनेंद्रजी ने भिजवाई है। किसी के कहने पर रचना छपे, मेरे स्वाभिमान को यह स्वीकार न था।

बिल्डिंग से बाहर आया तो लगा कि जैसे सिर पर से एक भारी बोझ उतर गया है। और फिर लगभग दो महीने यों ही बीत गए। भूल गया था मै इस कहानी को।

वह रविवार का दिन था। डेरे पर मैं अकेला था। बंधु अभी मिल से लौटा नहीं था। चाय के नाम पर आज कुछ भी नहीं था, न पानी, न दूध, न चीनी। बचपन से ही आदत थी वक्त पर चाय पीने की। मैंने अपनी जेबें टटोलीं। कुल राशि डेढ़ आने की बनी यानी एक कप चाय की व्यवस्था हो सकती थी। चप्पल पहनकर बाहर आया। चौराहे पर बूढ़े ताऊ का ढाबा था। वह बडी तन्मयता से चाशनी में दूध औंट रहा था। बाहर सड़क के किनारे टूटी-फूटी मेजें रखी थी। कुर्सी के नाम पर टूटी बेंचें। मेज पर 'नवभारत टाइम्स' बिखरा पड़ा था। पत्थर के कोयले का दुर्गंधयुक्त धुआं ! अनगिनत मक्खियां भिनभिना रही थीं। खुली नाली में मच्छर !

एक बेंच पर बैठकर अखबार के बिखरे पन्नों को समेट ही रहा था कि उसके 'रविवारीय' पर निगाह पड़ी। मेरी कहानी 'बुझे दीप' छपी थी। सरसरी निगाह से पूरी कहानी एक ही सांस में पढ़ गया। उसमें कहीं एक शब्द का भी परिवर्तन नहीं किया गया था।

'बाबू चा पिएगा तू?' ताऊ ने पूछा तो क्षण भर मैं असमंजस में रहा। डेढ आने की चाय पियूं या डेढ आने का 'नवभारत टाइम्स' खरीदूं? अन्त में ताऊ से थोड़ी देर में आने की बात कहकर मैं उठा और किशनगंज रोड पर बैठे हॉकर से अखबार की प्रति खरीद कर डेरे पर लौट आया।

इस कहानी के प्रकाशित होने पर अग्रज लेखकों और पाठकों की कैसी प्रतिक्रियाएं मिलीं? कोई खास प्रतिक्रिया,जो आज तक याद हो?

कहानी पर प्रतिक्रियाएं अच्छी रहीं। 'दिल्ली पब्लिक लायब्रेरी' का एक साहित्यिक मंच था। वहां नए-पुराने अनेक लेखक प्रति शनिवार एकत्र होते थे। उसमें भी कहानी का पाठ हुआ। कुछ मित्रों ने संदेह व्यक्त किया कि इतनी अच्छी कहानी एक नया-नया जुम्मा दो दिन का लेखक कैसे लिख सकता है? यह ओ हेनरी के स्तर की रचना है। लेव तोल्स्तोय की कहानी 'द लांग एक्साइल' से किसी भी दृष्टि से कम नहीं है यह कहानी। मैं अचरज में ! यह क्या हो रहा है

सब कुछ मेरी समझ से परे लग रहा था वन विभाग मे काम करनेवाला एक गरीब दुर्बल कर्मचारी सेवानिवृत्ति के बाद गंभीर रूप से बीमार हो जाता है। डॉक्टर जांच-पड़ताल के बाद घोषित करते हैं कि इसे तपेदिक है, जिसका कहीं कोई सही इलाज सभव नहीं। हां, 'भवाली सेनीटोरियम' में प्रवेश मिल जाए तो शायद कुछ हो जाए !

वह मरणासन्न रोगी अपनी दीन-हीन स्थिति का चित्रण करता हुआ सेनीटोरियम को प्रार्थना-पत्र भेजता है कि उसे अभी अपनी जवान लड़की की शादी करनी है, बच्चे छोटे-छोटे हैं, उसे कुछ हो गया तो इन अनाथों की देखभाल कौन करेगा? अतः उसे सेनीटोरियम में शीघ्र से शीघ्र दाखिला दिया जाए ! अब वह रोज डाक की प्रतीक्षा करता। बच्चे रोज डाकिए से पूछना नहीं भूलते कि बुलावे की कोई चिट्ठी तो नहीं ! इसी अन्तहीन प्रतीक्षा मे घरेलू इलाज में ही 'प्रोवीडेण्ट फण्ड' के सारे पैसे चुक गए। पत्नी के गहने बिक गए। लड़की की शादी के लिए रखा सामान भी समाप्त होने लगा। अन्त में एक दिन बुलावा आया लेकिन तब तक उसे मरे छह महीने बीत चुके थे।

कुछ अर्से बाद मैं अपने गृह नगर टनकपुर गया था, वहां खुर्जा के एक पुराने परिचित मिले, जो कभी बनारस विश्वविद्यालय मे पढ़े थे, पर अब गुजारे के लिए टनकपुर में मोटर-पार्ट्स का धंधा करते थे। उन्होंने बातो ही बातों में बताया कि उनकी अर्से से बीमार पत्नी ने इस कहानी को पढ़ने के पश्चात् जीने की आशा ही छोड़ दी है। उनका दृढ़ विश्वास है कि इसके पात्र की तरह उनका भी अत ऐसे ही होगा...। मैं क्षण भर विस्मित-सा सोचता रहा। मैंने उन्हें समझाने की लाख कोशिश की कि कहानी तो महज कहानी होती है। सच नहीं होती, इसीलिए लोग उसे 'कहानी' कहते हैं। इसलिए उसे अपने जीवन से जोड़कर देखना अपने प्रति नाइंसाफी होगी।

मैं कह तो रहा था कि 'कहानी' मात्र 'कहानी' होती है, पर भीतर से कही लग रहा था, कहानी मात्र कहानी होते हुए कहीं सच भी होती है, तभी तो सच से भी अधिक सच लगती है ! पूरे दिन मैं परेशान-सा रहा। उसी दिन मैंने प्रतिज्ञा की कि भविष्य में ऐसा कुछ नहीं लिखूंगा, जो मनुष्य को निराशा की ओर ले जाए। साहित्य का अर्थ ही 'जीवन' है। जो जीने की, जूझने की ऊर्जा न दे सके वह साहित्य कैसा? तब से आज तक मैं इस ब्रह्म वाक्य को कभी भूला नहीं।

आपकी अन्य प्रारंभिक रचनाओं को साहित्य-जगत ने किस रूप में लिया, किसने क्या प्रतिक्रियाएं दीं? कुछ और स्मरणीय प्रतिक्रियाएं?

छपने का सिलसिला एक बार शुरू हुआ तो निरंतर चलता रहा। दिल्ली-प्रवास

के कुछ ही समय पश्चात् दिल्ली से प्रकाशित होने वाली हिंदी डायजेस्ट 'इंद्रधनुष' के लिए लिखने लगा, विभिन्न नामों से। हर अंक में मेरी आठ-नौ रचनाएं हो जातीं। पारिश्रमिक कुछ मिल नहीं पाता था। हां, संपादक मंडल में नाम अवश्य प्रकाशित होता था। संपादक वीरेंद्र त्रिपाठी ने कहा, 'पत्रिका फिलहाल घाटे में चल रही है। अतः मुझे भी कुछ नहीं मिल पाता। हां, कालांतर में कुछ लाभ हुआ तो हम सबको अवश्य कुछ न कुछ प्राप्ति होगी।' बाद में कहानियां यत्र-तत्र प्रकाशित होने लगीं : 'साप्ताहिक हिंदुस्तान', 'दैनिक हिंदुस्तान', 'धर्मयुग', 'ज्ञानोदय', 'साहित्यकार', 'कादंबिनी' आदि में। फिर छपने में मुझे कभी कोई कठिनाई नहीं हुई। पाठकों, आलोचकों और लेखकों की प्रतिक्रियाएं भी कम प्रेरक नहीं रहीं। कभी-कभी मेरे नाम से लोग मेरे व्यक्तित्व का आकलन करते। एक बार जयपुर गया था। वहां 'अग्रदूत' के संपादक दिनेश खरे से मिलने के लिए चिट भेजी। वे दौड़ते हुए बाहर आए। बोले, 'कहां हैं जोशीजी?' मैंने उत्तर दिया कि मैं ही हूं। उन्हें सच नहीं लगा। उन्होंने नीचे से ऊपर तक मुझे दो बार देखा। फिर बुझे स्वर में बोले, 'आइए भीतर।'

मैं भीतर जाकर उनके सामने की कुर्सी पर बैठ गया। कुछ क्षण वे चुप रहे। फिर गंभीर स्वर में कुछ सोचते हुए बोले, 'भले आदमी, जब हिमांशु जोशी के नाम से एक व्यक्ति लिख रहा है तो फिर आपको भी यही नाम रखने की क्या सूझी?' मैं असमंजस में। कुछ सूझ नहीं रहा था कि इस प्रश्न का क्या उत्तर दूं? मैंने कहा, 'मैं आपका आशय समझा नहीं! हिमांशु जोशी मैं ही हूं। यही मेरा नाम है।'

'जो कहानियां लिखते हैं? इधर अनेक प्रमुख पत्रों में लेख...।'

'जी हां।' वे मेरी ओर देखते रहे। फिर कुछ खिसियाते हुए-से बोले, 'आप तो बहुत कम उम्र के हैं। मैं समझा, कोई प्रौढ़ होंगे।' वे हंस पड़े और साथ ही मैं भी। फिर उन्होंने चाय मंगवाई और जाते समय द्वार तक छोड़ने आए।

आपकी पहली किताब कब और कैसे छपी? उस पर साहित्य-समाज की प्रतिक्रिया कैसी रही?

लिखने और छपने के मामले में मैं हमेशा सौभाग्यशाली रहा हूं। जब जो लिखा, वह पूरे मान के साथ छपा। मैंने सन् 1962-63 में अपना पहला उपन्यास 'अरण्य' लिखा। लिख तो लिया, लेकिन अर्से तक दुविधा में रहा कि कुछ बना भी है या नहीं ! एक दिन 'टी हाउस' में बैठे थे, शाम को। बातों ही बातों में मोहन राकेश से जिक्र किया। वे कुछ अचरज से बोले, 'उपन्यास पूरा भी कर लिया?

'हां', मैंने उत्तर दिया तो उन्होंने पूछा, 'कितना बड़ा है?'

'यही लगभग डेढ़ सौ पृष्ठों का।' बाद में एक दिन पाण्डुलिपि मैंने उन्हे पढने के लिए दी। राय जानने के लिए कि कुछ बन भी पाया है या नहीं। राकेशजी बडे मनमौजी स्वभाव के थे, पाण्डुलिपि ले गए और कुछ अर्से बाद एक दिन बताया कि उन्होने पढ ली है। किसी दिन घर आकर ले जाना।

वे उन दिनों कीर्ति नगर में रहते थे। पुष्पाजी से नई-नई शादी हुई थी। निश्चित समय पर पहुंचा तो बड़े स्नेह से मिले। पुष्पाजी से परिचय कराया। उपन्यास का जिक्र आया तो बोले, 'भई, मुझे तो बहुत अच्छा लगा। कुछ अंश तो लाजवाब हैं।'

उपन्यास मैं ले आया। उन दिनों प्रकाशन की थोड़ी-बहुत समस्या थी। तब इतने प्रकाशक कहां थे। दो-चार जो थे भी, उनके यहा पहले से ही लंबी कतार रहती थी। अन्य लेखकीय कार्यों में व्यस्त रहने के कारण टाइप की गई पाण्डुलिपि फिर यों ही अर्से तक पड़ी रही। एक दिन जैनेंद्रजी से बातों ही बातो मे उसका कहीं कुछ उल्लेख आया तो बोले, 'किसी दिन ले आना। हम भी देखे, कैसा लिखा है?' और एक दिन मैं जैनेंद्रजी को अपना वह उपन्यास दे आया। अभी पाण्डुलिपि दिए सप्ताह भी न बीता था कि जैनेंद्रजी का पोस्टकार्ड मिला। उन्होंने लिखा था : उपन्यास आद्योपान्त पढ़ गया। बहुत रुचिकर लगा, परिपक्व भी। बतलाओ, इसके लिए मैं क्या कर सकता हूं? जैनेंद्रजी या राकेशजी को उपन्यास मात्र उनकी राय जानने के लिए दिया था, उस पर कुछ लिखने के लिए नही। आज तक मैंने अपनी किसी पुस्तक की कोई भूमिका किसी से लिखवाई नहीं, न सम्मति ही किसी की प्रकाशित की। यह सदैव मेरे स्वाभिमान के प्रतिकूल रहा।

यों तो लिखने का सिलसिला अर्से से चल रहा था, परन्तु पुस्तक रूप मे अब तब कोई रचना आ नहीं पाई थी। मेरे पास 'अरण्य' के अलावा एक कहानी सग्रह भी तैयार था। कहानियां 'धर्मयुग' तथा 'ज्ञानोदय' आदि में प्रकाशित हो चुकी थीं। वह वर्ष था 1965, जब दोनों पुस्तकें एक साथ प्रकाशित हुईं।

'अन्ततः' पूर्वोदय प्रकाशन से छपा और 'अरण्य' एस० चांद से। तब दो हजार पुस्तकों का एक संस्करण होता था। एस० चांद ने तो उपन्यास छाप दिया था, अपने प्रकाशन के क्रम में, परन्तु, पूर्वोदय प्रकाशन, एक तो जैनेंद्रजी के अतिरिक्त किसी की पुस्तकें छापता नहीं था, दूसरा उसके अपने साधन तो कुछ थे ही नहीं। मात्र उम्मीद यह थी कि यदि 'केंद्रीय हिंदी निदेशालय' अन्य पुस्तको के साथ 'बल्क' में इसकी भी कुछ प्रतियां खरीद लेगा तो संभवतः कुछ लागत निकल आएगी, किंतु अन्त में पता चला कि निदेशालय के उपनिदेशक डॉ० सुरेश

अवस्थी के इस नोट से इसे खरीदने से वंचित कर दिया गया कि पुस्तक साधारण है, खरीदने योग्य नहीं। साहित्य की राजनीति से मैं परिचित था। अत इसे मैंने सहज भाव से लिया, परन्तु तभी एक समारोह में संयोग से केन्द्र सरकार के तत्कालीन उपशिक्षामंत्री भक्तदर्शन से किन्हीं मित्र ने परिचय कराया। भक्तदर्शनजी लपककर मिले। बोले, 'भई, लाजवाब लिखते हो ! अभी परसों मैंने आपका कहानी सग्रह 'अन्ततः' पूरा किया। कुछ कहानियां तो अविस्मरणीय हैं...।'

'हिंदी-निदेशालय' से मैं कुछ-कुछ जला-भुना तो था ही। किंचित आक्रोश से मैंने कहा, 'आपका हिंदी निदेशालय' इसे पढ़ने योग्य नहीं समझता, आप ऐसा कहते हैं...।' वह नेहरू का जमाना था। उपमंत्री की भी बड़ी हैसियत थी। निदेशालय शायद उन्हीं के अतर्गत था। बाद में पता चला कि उन्होंने फाइल मगवाई। पूरे मामले की जांच की और स्वयं पुस्तक की खरीद के आदेश दिए। यशपाल ने भी इसे पढ़ा और अपनी विस्तृत प्रतिक्रिया लिखकर भेजी। समीक्षाए भी यत्र-तत्र छपीं। 'कल्पना' में प्रयाग शुक्ल की समीक्षा छपी थी। प्रभाकर माचवे ने भी विस्तार से 'ज्ञानोदय' में लिखा तथा अन्य पत्र-पत्रिकाओं में भी अनेक समीक्षकों ने अपने-अपने ढंग से उसकी समीक्षाएं कीं। विष्णु प्रभाकर ने भी एक पत्रिका में समीक्षा के रूप में अपने विचार व्यक्त किए। कुल मिलाकर आरभ अच्छा लगा।

किस पहली रचना और पुस्तक को पुरस्कार या सम्मान मिला? पहली बार पुरस्कार राशि मिलने पर कैसा लगा?

उन दिनों 'दिल्ली पब्लिक लायब्रेरी' साहित्यिक गोष्ठियों के अतिरिक्त प्रति वर्ष 'कहानी-प्रतियोगिता' का भी आयोजन बड़े पैमाने में किया करती थी। उस वर्ष की प्रतियोगिता के लिए मैंने भी एक कहानी 'अन्ततः' यों ही भेज दी। इस भीड़ में पुरस्कार मिलने की कोई उम्मीद तो थी नहीं। दिल्ली में अभी नया-नया था। किसी से कोई विशेष परिचय भी नहीं। मुझसे बड़े-बड़े दिग्गज पहले से ही मौजूद थे यहां पर, पर मेरे आश्चर्य की सीमा न रही, जब प्रथम पुरस्कार विजेता के रूप में मेरा नाम छपा दिखा। सम्मान-राशि पुस्तकों के रूप मे मिलती थी। निर्धारित मूल्य की पुस्तकें खरीदने के लिए सूची लेखक से मागी जाती थी।

एक विशेष समारोह मे मोरारजी देसाई ने पुरस्कारों का वितरण किया। दूसरे वर्ष की प्रतियोगिता में भी प्रथम पुरस्कार मेरी ही कहानी 'आदमी : जमाने का' को मिला। तीसरे वर्ष मैंने जानबूझ कर भाग नहीं लिया। 'अन्ततः' नाम की मेरी यही कहानी 'स्वाधीनता के पश्चात् हिंदी की श्रेष्ठ कहानियां' संकलन

मे भी आई। और इसी नाम से 1965 में मेरा पहला कहानी संग्रह 'अन्तत' प्रकाशित हुआ। 'अरण्य' के छपने पर भी प्रतिक्रियाएं ठीक ही रहीं। तब आंचलिक उपन्यासों का दौर शुरू हो चुका था। अतः एक क्षेत्र विशेष की कृति के रूप मे इसका उचित आकलन हुआ। 'उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान' से 'अरण्य' को उस वर्ष के प्रेमचन्द पुरस्कार' से सम्मानित किया गया। तब इसकी राशि थी, मात्र पाच सौ रुपये। उसमें केवल सवा सौ रुपए नकद मिले, शेष के लिए बारह साल का बॉण्ड !

उस वर्ष के सम्मानित लेखकों की सूची में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा कमलेश्वर आदि के नाम भी थे। उनको भी इतनी ही राशि मिली थी।

आपकी किताबों तथा अन्य रचनाओं पर आलोचकों की कृपा कृपणता की सीमा को छूती रही है। इस पर भी कभी विचार किया?

मैंने इस प्रश्न पर इस तरह कभी सोचा नहीं। क्या मिला, क्या नहीं, इसे भविष्य पर छोड़ देना अधिक श्रेयस्कर होगा। लिखना एक लंबा संघर्ष है, जिसका समापन देहावसान पर भी नहीं होता, बल्कि आगे देर तक, दूर तक चलता है। देर-सबेर लेखक को उसका प्राप्य अवश्य प्राप्त होता है। हां, कभी-कभी अपवाद के रूप मे कुछ अनहोनी भी हो सकती है। अतीत के कई उदाहरण हमारे सामने हैं। यह सच है कि मै उन गिने-चुने अति सौभाग्यशाली लेखकों में अपने को नहीं पाता, जो मात्र आठ-दस कहानियां या एक-दो उपन्यास लिखकर ही अमरत्व को प्राप्त हो गए। आलोचकों की अकूत अनुकम्पा से उन्हे इतना मिला कि भविष्य मे उन्हें कुछ और लिखने की आवश्यकता ही अनुभव नहीं हुई। जब कभी मैं मुड़कर पीछे देखता हूं तो लगता है कि अपने पांवों के बल पर आगे बढ़ने का भी अपना एक सुख है, आत्म संतोष ! शायद किसी भी लेखक के लिए इससे बड़ी उपलब्धि और क्या हो सकती है कि वह अपना मार्ग, अपनी क्षमता से स्वयं निर्धारित करे। राजपथ पर चलनेवाले कभी कल्पना भी नही कर सकते कि अपने नाखूनो से चट्टानें खुरच-खुरचकर अपना मार्ग स्वयं बनाने का सौभाग्य कितना बडा होता है। मुझे यह सौभाग्य मिला है, शायद इसीलिए मुझमें इतना आत्मविश्वास है। अकेले ही सारी दुनिया से संघर्ष कर लेने की क्षमता !

यों सही मूल्यांकन न होना भी कभी-कभी बहुत बड़े मूल्यांकन का कारण बनता है। एक बार मैंने बांग्ला कथाशिल्पी विमल मित्र से बातों-बातों में ही पूछा, 'विमल दा, आपके प्रति बांग्ला आलोचकों का जो रुख रहा है, उससे कभी आपको निराशा नहीं होती?' विमल दा क्षण भर सोचते रहे, फिर अम्लान हंसी हंसते हुए बोले, 'किंचित भी नहीं। मेरे आलोचक मेरे सबसे बड़े शुभेच्छु रहे हैं। मैंने जब

अपना पहला उपन्यास साहब, बीबी और गुलाम लिखा तो उन्होंने कहा कि अरे यह भी कोई उपन्यास है ! किसी सामाजिक समस्या पर लिखकर दिखलाए तो हम भी कहें ! मैंने तब 'मुजरिम हाजिर है', 'इकाई, दहाई, सैकड़ा' आदि अनेक उपन्यास लिखे। मैं हर बार प्रयत्न करता रहा हूं कि मेरा आनेवाला उपन्यास पिछले से हर अर्थ में श्रेष्ठ हो। इस क्रम में मेरा लेखन निरंतर निखरता रहा। सच कहता हूं, उन्हीं की बदौलत आज मैं यहां तक पहुंच पाया।'

विमल दा के देहावसान पर मैंने लिखा था ' 'आज बयासी वर्ष की अवस्था में विमल मित्र का निधन हो गया। उनके कुल उपन्यासों की सख्या भी ठीक बयासी ही है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर, शरत्चन्द्र तथा प्रेमचंद के पश्चात् जो चौथा लेखक सपूर्ण भारत में सबसे अधिक पढ़ा गया, वह विमल दा ही थे।'

लेखक का संघर्ष सतत चलता रहे और वह दिन-प्रतिदिन अपना परिष्कार करता हुआ अच्छा, और अच्छा लिखता रहे, इससे बडी बात और क्या हो सकती है? कुछ आलोचकों के अनुसार हिंदी का पहला राजनीतिक उपन्यास 'समय साक्षी है' था, जिसके अब तक अनेक सस्करण हुए, अनेक भाषाओं में रूपांतर भी परन्तु लोग कहते हैं कि उसका सही मूल्यांकन नहीं हुआ। अतः जितना चर्चित होना चाहिए था, नहीं हो पाया। उसी तरह 'कगार की आग' रहा। यद्यपि उसके अनेक संस्करण हुए। उस पर आधारित नाटक का हिंदी तथा कुमाऊंनी में कई बार मचन हुआ और अभी भी यदा-कदा होता रहता है। 'आकाशवाणी' से उस पर रेडियो नाटक प्रसारित हुआ। तेरह किस्तों में धारावाहिक रेडियो रूपातर हुआ। प्रज्ञाचक्षुओं के लिए ब्रेल में छपा। आस्ट्रेलिया के केनबरा विश्वविद्यालय मे पाठ्यक्रम में रहा। उडिया, मराठी, बांग्ला, डोगरी, कोंकणी आदि के अतिरिक्त नेपाली, बर्मी, चीनी, नार्वेजियन, अंग्रेजी आदि विदेशी भाषाओं में भी उसके अनुवाद छपे। दिल्ली विश्वविद्यालय में उस पर शोध हुआ, परन्तु इतना सब होने के बावजूद आलोचकों ने उसके साथ पूरा-पूरा न्याय नहीं किया।

सच पूछिए तो मैं यही कहूंगा कि इन स्थितियों ने ही मुझे बल दिया है। और अधिक निष्ठा के साथ निरंतर लिखने के लिए प्रेरित किया है। अतिरिक्त सराहना मिलती या अतिरिक्त चर्चा होती तो संभवतः मेरे लिए वह अधिक हितकर न रह पाती। वास्तव में इन वाह्य बातों का किसी भी लेखक पर ज्यादा प्रभाव नहीं पडना चाहिए। वस्तुतः हर लेखक जानता है कि वह कहां पर खड़ा है, किस ओर उसे जाना है, उसका क्या लक्ष्य है, जो कुछ वह लिख रहा है, समकालीन लेखन मे वह कहां पर है? लेखक की स्थिति विडंबनापूर्ण तब होती है, जब वह अपना आकलन कहीं गलत कर बैठता है और फिर कालांतर में इन भ्रमों में जीने की

निरतर जीते रहने की उसकी नियति हो जाती है। मैं अपने बारे में सदैव निश्चित रहा हूं। मुझे पता है कि मेरी दिशा कौन-सी है और अन्ततोगत्वा मुझे कहां पहुचना है? कुछ पूर्वाग्रही आलोचकों की अपनी सोच हो सकती है, अपनी सीमाएं, परन्तु प्रबुद्ध पाठक उससे कभी भ्रमित नहीं होता। कृति पर काल का निर्णय ही अंतिम होता है और यह चरम सत्य हमें बिसराना नहीं चाहिए कि भले ही वादों के कितने ही विवाद हों, परंतु अंत में विजय 'कृति' की ही होती है। वही समय की कसौटी पर चिरंतन मूल्यांकन का सही आधार बनती है। कहीं-कहीं, कभी-कभी किंचित उपेक्षा भी ऊर्जा देती है। लेखक को निरंतर सचेत बनाए रखती है कि वह अधिक से अधिक परिमार्जन के साथ लिखता रहे। 45 वर्ष पूर्व जो यात्रा आरंभ की थी, वह अभी तक अबाध गति से चल रही है। पाठकों का अपार स्नेह मिला है मुझे, अनेक आलोचकों का भी। जहां कई लेखको के सामने एक संस्करण की समाप्ति के बाद उसके पुनर्मुद्रण की समस्या रहती है, वहां शायद ही मेरी कोई पुस्तक हो जिसके आठ-आठ, दस-दस संस्करण न हुए हों ! इस सौभाग्य एवं स्नेह को क्या कहू? कैसे कहू कि मेरी उपेक्षा हुई है।

पाठकों के बीच आपने इतना विशिष्ट स्थान बनाया, परंतु आलोचना के क्षेत्र में उतना सब क्यों नहीं दिखता? हो सकता है कि यह मेरी अल्पज्ञता हो, जो सच न हो !

मै वर्षों तक सक्रिय पत्रकारिता में रहा और लेखन के क्षेत्र में भी लगभग उतना ही क्रियाशील ! जो लिखा गया, वह पूरे मान के साथ छपा, हिंदी की प्राय सभी प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं में। कालांतर में अग्रणी प्रकाशकों द्वारा वह पुस्तक रूप मे भी प्रकाशित किया गया। अनेक समीक्षकों द्वारा उसकी समालोचनाएं भी यत्र-तत्र होती रही, पर इस पक्ष को मैंने कभी गंभीरता से लिया नहीं। आलोचना-समालोचना के प्रति अधिक आग्रही होना या जोड़-तोड़ करना मुझे लेखकीय गरिमा के विरुद्ध लगता है। लिखने के पश्चात् लेखक का कार्य एक तरह से पूरा हो जाता है। और यदि रचना अच्छी हो तो देर-सबेर उसका मूल्यांकन भी हो ही जाता है। शायद मेरी इसी प्रवृत्ति के परिणाम की ओर आप इगित कर रहे हैं। मैं आपसे ही पूछता हूं, कुछ आलोचकों ने आज से तीस-चालीस साल पहले, जिन लेखकों को स्थापित करने में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी थी वे आज कहां हैं? जिन चतुर आलोचकों ने यह सारा द्रविड़ प्राणायाम किया, वे किस स्थिति में हैं?

आलोचक यदि सही अर्थों में आलोचक है तो वह कहीं द्रष्टा भी होता है और न्याय की, ईमानदारी की प्रतिमूर्ति भी, लेकिन जब उसकी न्यायप्रियता संदिग्ध हो

जाती है तो वह आम आदमी की अपेक्षा कहीं अधिक उपेक्षा का पात्र बन जाता है। जिन आलोचकों ने साहित्य में ऐसे 'प्रतिमान' स्थापित किए, आज वे वास्तव में कहां हैं, कल कहां रहेंगे? साहित्य साधना है, आराधना, इसमें असत्य अधिक अर्से तक नही चलता। जहां तक मेरा प्रश्न है, न मुझमें किसी किस्म की निराशा है, न किंचित कुण्ठा ही। साहित्य में क्या नहीं मिला मुझे? दो-चार आलोचक यदि किसी भी कारणवश कहीं, कुछ उपेक्षा भी करें तो लेखक को कोई विशेष अंतर नहीं पड़ता।

साहित्य लबी लड़ाई है, इसलिए थोड़े समय में ही निर्णय ले लेना उचित नहीं। आलोचकों और आलोचना से वे लोग घबराते हैं, जिनमें आत्मविश्वास की कमी होती है। मुझे हर तरह से पर्याप्त मिला है, और जो शेष रह गया है, वह भी कालांतर में प्राप्त होगा। आलोचकों की उपेक्षा की बात आपने बार-बार कही है। अनेक विश्वविद्यालयों में मेरे साहित्य पर शोध हुए हैं। पाठ्यक्रम में भी अनेक जगह रचनाएं लगी हैं। लगभग सभी भारतीय भाषाओं में रचनाओं के अनुवाद हुए हैं। विदेशी भाषाओं में भी कम नहीं हुए। अपना एक विशेष पाठक वर्ग है मेरा। अब इससे अधिक एक लेखक को और क्या चाहिए? फिर अभी तो मुझे बहुत लिखना है, मूल्यांकन या आलोचना के प्रश्न पर उलझने के लिए समय कहां? ये तो बाद की बातें हैं, लेखक के चले जाने के बाद की।

यह सही है कि पाठकों के बीच आप बहुत पसंद किए गए, देश-विदेश में सब जगह। मूल्यांकन भी एक प्रकार से कम नहीं हुआ, पर एक लेखक के रूप में आप स्वयं को कितना संतुष्ट पाते हैं?

असंतुष्टि का कोई कारण मुझे नहीं दिखता है। लिखना एक प्रकार की तपश्चर्या है। उसी भाव से इसे लेना चाहिए, लाभ-हानि की दृष्टि से नहीं। मुझे अपने पाठकों का अपार स्नेह मिला है। यह किसी भी लेखक के लिए कम सौभाग्य की बात नहीं। हां, जब-जब मैं अपने पाठकों के प्रति सोचता हूं, गंभीरता से विचार करता हूं तो अवश्य इस बात का पश्चाताप होता है कि काश! मैं लिखने के लिए कुछ समय और निकाल पाता ! कुछ और लिख लेता ! कभी-कभी ऐसा भी एहसास होता है कि बहुत-सा समय अन्य कार्यों में खप गया, उसे भी यदि लेखन में ही लगा पाता तो कितना अच्छा रहता? समय अब अधिक नहीं। अत समय के प्रति एक प्रकार की कृपणता का भाव भी बना रहता है, कम से कम समय में अधिक से अधिक समेट पाने की लालसा।

पत्रकारिता एवं रचनात्मक लेखन को परस्पर विरोधी बतलाया जाता रहा है, जबकि आप इन दोनों के बीचोंबीच धार में खड़े रहे ! इस द्वंद्व

को आपने किस तरह से झेला?

पत्रकारिता और लेखन वास्तव में दो अलग-अलग विधाएं हैं, समान लगने पर भी परस्पर एक दूसरे के विपरीत। पत्रकारिता के लिए एक विशेष तरह की मानसिकता चाहिए। उसकी आवश्यकताएं और प्राथमिकताएं कुछ और हैं, जबकि लेखन के लिए एक दूसरे धरातल पर जीने की अनिवार्यता है। मेरे साथ एक विचित्र बात यह रही कि मेरी लेखन में जितनी रुचि रही, पत्रकारिता में भी उससे कम नहीं। मेरी रुचियो का दायरा व्यापक होने का लाभ मुझे बहुत मिला, यों हानिया भी कम नहीं हुईं। फिल्मों के प्रति मेरा जितना गहरा रुझान है, पुरातत्व मे उससे कम नहीं। इतिहास जितना लुभाता है, विज्ञान उससे कहीं अधिक। इसी तरह अन्य विधाएं भी हैं। पत्रकारिता और लेखन, दोनों में समन्वय करना मेरे लिए कठिन नहीं रहा। पत्रकारिता का दायित्व उसी निष्ठा से निभाता रहा, जिस अटूट आस्था से लेखन का। इसलिए दोनों विपरीत धाराओ के बीच सरलता से सामंजस्य स्थापित कर सका, पर इस सबके बावजूद सच पूछा जाए तो मेरी प्राथमिकता रचनात्मक लेखन ही रहा, लेकिन आजीविका के लिए कुछ तो करना ही था। अतः पत्रकारिता का सहारा लिया, परन्तु इसे कभी दोयम दर्जे का मानकर नहीं।

उम्र का अधिकांश भाग इन्हीं दो पाटों के बीच स्वयं को पीसने में चला गया। इत्ती उम्र बीत गई, पहाड़ में घर होने के बावजूद कभी परिवार के साथ पहाड़ों की सैर करने के लिए गए हों, मुझे याद नहीं। बच्चों के साथ कभी किसी पारिवारिक समारोह में शामिल होने के लिए किसी अन्य शहर में जाने का समय निकाल पाए हों, ऐसा भी कोई अवसर याद नहीं आता। सारी उम्र निरन्तर दौड़ने-भागने में ही व्यतीत हो गई। यह सच है कि कुछ पाने के लिए कुछ खोना भी पड़ता है। जीवन भर यही सोचता रहा कि जैसे ही स्वतंत्र होकर, मात्र लिखने के सहारे जीने की शक्ति आ जाएगी, पत्रकारिता छोड़ दूंगा। वह समय भी एक दिन आया अवश्य, परन्तु तब तक सांझ के साए बहुत लंबे हो आए थे। फिर भी अफसोस नहीं है।

हर चीज के दो पहलू होते हैं। पत्रकारिता ने भी कम नहीं दिया मुझे। इतने अनुभव, इतनी अनुभूतियां ! दुनिया को इतने निकट से देखने का अवसर यह किस महत्त्वपूर्ण उपलब्धि से कम रहा। लेखन को इतना व्यापक दायरा इसी से मिला। लेखन कोई अलौकिक वस्तु नहीं। क्या इन्हीं व्यर्थ समझी जाने वाली अनुभूतियों एवं अनुभवो से मेरे व्यक्तित्व ही नहीं, लेखन को भी इतने आयाम नही मिले? मेरी धारणा है कि संसार में कुछ भी व्यर्थ नहीं होता। हां, लेखक में दृष्टि

है तो वह कुछ नहीं से भी सब कुछ नहीं भी सही, तो भी बहुत कुछ अवश्य प्राप्त कर सकता है। इसलिए लेखक अपनी क्षमता के बल पर उन अनुभवों एव अनुभूतियों का उपयोग अपने सर्जनात्मक कार्यों मे कर सकता है। सच तो यह है कि जीवन में कहीं किसी से कोई प्रतियोगिता नहीं होती। व्यापक अर्थों मे सब परस्पर विरोधी होते हुए भी कहीं न कहीं एक दूसरे के पूरक भी होते हैं।

नौकरी के साथ रचनात्मक लेखन में कोई व्यवधान महसूस करते रहे? लेखन के लिए नौकरी छोडे अब काफी अर्सा हो गया। अपने इस निर्णय को लेकर आप क्या सोचते हैं?

मेरे हिसाब से लिखना चौबीस घंटे के दिन-रात मे पूरे पच्चीस घंटे का काम है। भारत में, विशेषतः हिंदी में प्रायः यह प्रवृत्ति आसानी से देखने को मिलती है कि अधिकांश लेखक इसे 'पार्ट टाइम जॉब' की तरह लेते हैं। इसलिए उनके लेखन में न तो उतनी गुणवत्ता आ पाती है, और न उतनी व्यापकता ही। विश्व के अधिकांश बड़े रचनाकारों ने मात्रा में बहुत लिखा है और गुणवत्ता में भी। यदि घर के पिछवाड़े में, बित्ते भर की क्यारियों में खेती करेंगे तो हारवेस्टर तो नहीं लगा पाएंगे ! उस मुट्ठी भर उपज का लाभ भी आपको मुट्ठीभर ही मिलेगा ! किसी रचनाकार ने जीवन भर कुल मिलाकर जब लिखा ही कम है तो उसका आकलन भी तो उसी के अनुरूप ही होगा। जीवन में एक ही आकांक्षा रही मेरी कि मैं लिखूं, खूब लिखूं और एक लेखक की जिंदगी जिऊं। तोल्स्तोय को मैंने देखा था, चित्रों के माध्यम से। सच, पूरी निष्ठा से एक लेखकीय-जीवन जीना, कितना बड़ा वरदान है !

1965 में किसी काम से लखनऊ गया था। संयोगवश महानगर के उसी क्षेत्र में रुका, जिसके पास यशपाल का अपना घर था, नया-नया बना छोटा-सा बंगला ! सुबह उनसे मिलने गया तो देखा कि वे घर के बाहर लॉन में, बेंत की कुर्सियां लगाए, जाड़ो की हल्की धूप में बैठे कॉफी पी रहे हैं। आज इतने वर्ष हो गए, वह दृश्य मेरी आंखों में ज्यों का त्यों जीवित है। इसी तरह की जिंदगी हो कहीं ऐसा ही मेरा सपना भी था। जब से पत्रकारिता आरंभ की, तभी से मेरी आकांक्षा थी कि वह दिन कब आ पाएगा, जब मैं एक लेखक का जीवन लेखक की तरह जी पाऊंगा ! लगभग पच्चीस वर्ष तक इस क्षण की प्रतीक्षा करता रहा। अंत में 1993 के आरंभ में जब 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' बंद हो गया और नियुक्ति स्वतः 'दैनिक हिंदुस्तान' में हो गई तो सहसा मुझे लगा कि वह समय अब आ गया है। अब अगर, इसी क्षण नौकरी नहीं छोड़ी तो फिर अंत तक नहीं छूट पाएगी।

मैने उसी समय त्यागपत्र दे दिया। कहा कि परसों पहली मई है, मै

कार्यालय नहीं आऊंगा। [illegible] महोदय ने कहा कि बिना नोटिस के त्यागपत्र देने मे आपको लगभग सत्तर हजार की हानि होगी। मुझे लगा कि मेरे जीवन के इन बहुमूल्य क्षणों के मोल से अधिक नहीं है सत्तर हजार की राशि। और फिर तीसरे दिन से कार्यालय नहीं गया। सचमुच वह मेरा 'मुक्ति-दिवस' था। लोग पूछते हैं, मेरी उम्र के बारे में तो कहता हूं, जन्म 1 मई, 1993 को हुआ। अब वहां से लगा लीजिए हिसाब। सच यह है कि उससे पहले की जिंदगी मैंने घर-परिवार के दायित्व की पूर्ति के लिए जी थी। अपना असली जीवन, जो मात्र अपना है, वह तो अब आरंभ हुआ है। नौकरी के प्रति न्याय करता रहा, जिससे स्वयं अपने प्रति दायित्व न निभा पाने का अपराधबोध भी कहीं सालता रहा। लिखने के लिए मुझे एकांत चाहिए, एकाग्रता। मन पसंद वातावरण और कहीं किसी किस्म का कोई व्यवधान नहीं। नौकरी के साथ-साथ यह सब कैसे हो पाता! फिर भी, जिस रूप में, जितना बन सका, लेखन के प्रति दायित्व निभाने का प्रयास पूरी ईमानदारी से करता रहा। बाद मे अन्यत्र काम करने के लिए कई-कई प्रलोभन आए, परंतु मैंने भूल से भी उस ओर झांका नहीं।

सारा का सारा शेष समय अब अपना है। पढ़ने-लिखने, घूमने-फिरने की पूरी-पूरी स्वच्छंदता। इस बीच अपने विगत जीवन की ओर दुबारा झांकने का अवसर मिला। इस आकलन ने मुझे एक नई दृष्टि दी।

सच कहूं तो गत पांच-छह सालों में जितना लेखन किया, उतना पिछले पद्रह-सोलह सालों में भी शायद न कर पाया हूंगा। बहुत-सी कहानियां जो अच्छी-अच्छी पत्र-पत्रिकाओं में कभी छपी थीं, समयाभाव के कारण यों ही इधर-उधर बिखरी पड़ी थी। उन्हें संवारकर, दुबारा लिखकर एक नया कहानी-संग्रह तैयार हो गया, जो 'गन्धर्व गाथा' शीर्षक से छपा। 'नील नदी का वृक्ष' कविता-संग्रह आया। 'धर्मयुग' के लिए लगभग चार साल तक 'जनपथ' शीर्षक से जो स्तंभ लिखता रहा, वह 'आठवां सर्ग' नाम से छपा। 'काला पानी' पर कुछ काम किया, लगभग चार-पांच साल का समय लगाकर। 'यातना शिविर में' पुस्तक तैयार हो गई। इस बीच कई कहानियां लिखी। खूब यात्रा वृत्तांत लिखे। नया कविता संग्रह प्रकाशनार्थ दे रहा हूं। दो-तीन और पुस्तकों पर काम चल रहा है। इतना गहरा आत्मिक संतोष मुझे पहले कभी अनुभव नहीं हुआ था। कई पुस्तकों की योजनाएं हैं। कभी-कभी यह विचार भी आता है कि काश! यह निर्णय दस-पंद्रह साल पहले ले लिया होता! यों भाग्यवादी नहीं हूं, फिर भी लगता है कि हर बात का एक मुहूर्त्त होता है, एक निर्णायक क्षण। शायद उस क्षण को इतने वर्ष बाद ही आना था।

लेखन के लिए यात्राएं अनिवार्य हैं, क्या यही सोचकर यायावर हो गए? अब तक कहां-कहां घूमे? अधिक रमणीक स्थान कौन-कौन से लगे?

जो कुछ भी हुआ, सब अनायास ही समझिए। यों भ्रमण के प्रति गहरा आकर्षण तो आरंभ से ही रहा। अनेक यात्रियो के यात्रा वृत्तांत पढता तो एक तरह की जिज्ञासा का भाव पैदा होता। उन स्थलो को स्वयं अपनी आंखों से देखने की तीव्र लालसा। राहुल सांकृत्यायन की 'जीवन-यात्राओं' ने भी कम प्रेरित नहीं किया, स्वामी सत्यदेव परिव्राजक ने भी। राहुलजी की तरह एक बार पद-यात्राए करते हुए, दुनिया को निकट से देखूं, ऐसा भाव भी वर्षों तक साथ-साथ चलता रहा। तिब्बत के साक्या, डेपुङ्, ल्हासा, गनदन आदि स्थलों को आज भी लगता है जैसे मैंने स्वयं अपनी आंखों से देखा है। यह सच है कि भ्रमण से लेखक के सोच के दायरे को एक प्रकार का विस्तार मिलता है। अपने अंदर के लेखक को और अधिक परिष्कृत करने का यह एक सहज सशक्त माध्यम है।

दुनिया को अपनी निगाहों से देखने-परखने का भी अपना विशेष महत्व है हमें यह सत्य नहीं भूलना चाहिए। हां, अधिक तो नहीं, थोड़ा-बहुत अब तक घूमा हू। करगिल से ऊपर तथा तिब्बत से लगे हिम-मंडित शिखरों से भारत के अन्तिम छोर कन्याकुमारी तक, कच्छ-अंजार, भुज की दलदली भूमि से लेकर नगालैंड अरुणाचल के खौंसा से चीन से लगी सरहद तक के भारत को थोड़ा-बहुत देखने का मौका मिला है। इच्छामती नदी यानी हरिन बंगा से स्टीमर के द्वारा डॉ विधानचन्द्र राय के बांग्लादेश स्थित पैतृक घर के निकट तक। और फिर वहा से सुन्दरवन के द्वीपों, बांग्लादेश-भारत की सीमा-रेखाओं को छूते हुए, एक ऐसे अनोखे संसार में, जहा देशों की सरहदें समाप्त हो जाती हैं। इन छोटे-छोटे ससारों में, न जाने कितने संसार समाए हुए है ! कहीं से भी सच नहीं लगता कि ये सब एक ही देश के अभिन्न अंग हैं, क्योंकि संस्कृति, साहित्य, भाषा, रहन-सहन आकार-प्रकार में इतना अंतर झलकता है कि एक नए समुदाय का भाव स्वत उभरता है। सचमुच क्या यह देश, मात्र एक देश है? एक 'महादेश' की अवधारणा कहीं इससे चरितार्थ होती है। इतनी भिन्नताएं किसी महाद्वीप में ही संभव हो सकती हैं। केरल में वॉयनार्ड का हरा-भरा पर्वतीय क्षेत्र कभी बहुत मोहता है तो कभी हिमालय की अंतहीन शुभ्र श्रृंखलाएं। गोवा का विस्तृत निर्मल सागर, असम-मणिपुर के घने वन। एक भारत के भीतर कितने-कितने विस्तृत भारत ! पर अण्डमान-निकोबार की छटा इन सबसे निराली है। मणिपुर की लोकटक झील मे अधडूबे पहाड़, जल की सतह पर इधर-उधर फिसलते हरित खेल। खेतों में बनी झोपडियां हवा के झोंकों के साथ तिरती रहती हैं। इनमें रहा जाए तो कैसी

विचित्र अनुभूति होगी जल की सतह पर ऐसी तैरती धरती दुनिया में और कहां होगी? पहाडों की लाल धरती पर उगाए गए नन्हे चदन-वन।

कुछ बातें विदेशों की भी बताइए? दुनिया के किन क्षेत्रों ने आपको मोहा, कुछ अंतरंग अनुभव, कुछ अंतरंग बातें?

दुनिया इतनी बड़ी, इतनी विशाल है कि सौ जनम भी उसके लिए कम हैं। उस पर एक सैलानी की तरह घूमने पर भला कोई आदमी कितना कुछ समेट पाएगा? फिर भी स्मृति-पटल पर कुछ धुंधले बिंब-प्रतिबिंब तो रह ही जाते है स्मृति के रूप में, पर समय के साथ-साथ वे भी धीरे-धीरे धुंधलाने लगते हैं। अधिक तो नहीं, हां, कुछ देशों में जाने का अवसर कभी-कभी प्राप्त हुआ। सबसे पहली यात्रा नार्वे की हुई थी, जो हर अर्थ में अविस्मरणीय रही।

नार्वे एक विचित्र देश लगा। निर्मल-निराले फीयोर्ड, गहरी झीलें, सागर झरने, हरी-भरी धरती या फिर नीला स्वच्छ आसमान। सब इतना स्वच्छ, इतना पारदर्शी कि कल्पना से भी परे। वहां जाकर जीवन में पहली बार मैंने धुला-धुला आसमान, धुली-धुली धरती, धुले-धुले पहाड़, धुले-धुले बादल और धुली-धुली रोशनी देखी थी। इस अर्थ में वह एक अनोखा देश लगा था। धूल क्या होती है, यहां के लोग नहीं जानते। आबादी नहीं के बराबर ! सड़क, रेल, बस, सब जगह आपके लिए रिक्त स्थान प्रतीक्षा में रहता है। कहीं भी किंचित शोर नहीं ! सब अपना काम यंत्र की तरह करते हैं। इतने धीरे-धीरे बोलते हैं कि परस्पर बातें करते दो व्यक्तियों के स्वर तीसरे तक नहीं पहुंच पाते। अब तो शनैः शनैः सर्वत्र परिवर्तन आ चुका है, परन्तु आज से बीस साल पहले का नार्वे एकदम भिन्न था। चोरी लूट, हत्या जैसे शब्द उनके शब्दकोश तक ही सीमित थे। 'ऑफ्टन पोस्टन' (नार्वेजियन दैनिक) ने मेरा एक साक्षात्कार प्रकाशित किया था। आने से एक दिन पहले उसका पारिश्रमिक प्राप्त करने कार्यालय गया तो उन्होंने एक हजार क्रोनर की राशि (जो लगभग पांच हजार रुपए के बराबर थी) मुझे दी। मैंने जब रसीद पर दस्तखत करने की बात कही तो सहज आश्चर्य से उन्होंने पूछा, 'यह क्या होती है? आपका पारिश्रमिक आपको दे दिया, अब रसीद की क्या आवश्यकता? इतना ईमानदार देश ! व्यक्ति पर इतना विश्वास !

नार्वे की इस यात्रा में अनेक दुर्लभ स्थल देखे, परंतु जिन तीर्थस्थलो ने सबसे अधिक प्रभावित किया, वे थे– सींयन, लिली हामेर तथा ब्यौन्सन की तपोभूमि। सींयन विश्वविख्यात नाटककार हैनरिक इब्सन की जन्मभूमि थी। किशोरावस्था पार करने तक यही इब्सन की क्रीड़ास्थली एवं एक प्रकार से कर्मभूमि भी रही। कालांतर में जिन कालजयी नाटकों की उन्होंने सृष्टि की थी

लेखन के लिए यात्राए अनिवार्य है क्या यही सोचकर यायावर हो गए?

अब तक कहां-कहां घूमे? अधिक रमणीक स्थान कौन-कौन से लगे?

जो कुछ भी हुआ, सब अनायास ही समझिए। यों भ्रमण के प्रति गहरा आकर्षण तो आरंभ से ही रहा। अनेक यात्रियों के यात्रा वृतांत पढ़ता तो एक तरह की जिज्ञासा का भाव पैदा होता। उन स्थलों को स्वयं अपनी आंखों से देखने की तीव्र लालसा। राहुल सांकृत्यायन की 'जीवन-यात्राओं' ने भी कम प्रेरित नहीं किया, स्वामी सत्यदेव परिव्राजक ने भी। राहुलजी की तरह एक बार पद-यात्राएं करते हुए, दुनिया को निकट से देखूं, ऐसा भाव भी वर्षो तक साथ-साथ चलता रहा। तिब्बत के साक्या, डेपुड्, ल्हासा, गनदन आदि स्थलों को आज भी लगता है, जैसे मैंने स्वयं अपनी आंखों से देखा है। यह सच है कि भ्रमण से लेखक के सोच के दायरे को एक प्रकार का विस्तार मिलता है। अपने अंदर के लेखक को और अधिक परिष्कृत करने का यह एक सहज सशक्त माध्यम है।

दुनिया को अपनी निगाहों से देखने-परखने का भी अपना विशेष महत्व है, हमें यह सत्य नहीं भूलना चाहिए। हां, अधिक तो नहीं, थोड़ा-बहुत अब तक घूमा हूं। करगिल से ऊपर तथा तिब्बत से लगे हिम-मंडित शिखरों से भारत के अन्तिम छोर कन्याकुमारी तक, कच्छ-अंजार, भुज की दलदली भूमि से लेकर नगालैंड अरुणाचल के खौंसा से चीन से लगी सरहद तक के भारत को थोडा-बहुत देखने का मौका मिला है। इच्छामती नदी यानी हरिन बंगा से स्टीमर के द्वारा डॉ विधानचन्द्र राय के बांग्लादेश स्थित पैतृक घर के निकट तक। और फिर वहां से सुन्दरवन के द्वीपों, बांग्लादेश-भारत की सीमा-रेखाओं को छूते हुए, एक ऐसे अनोखे संसार में, जहां दशों की सरहदें समाप्त हो जाती हैं। इन छोटे-छोटे संसारों में, न जाने कितने संसार समाए हुए हैं ! कहीं से भी सच नहीं लगता कि ये सब एक ही देश के अभिन्न अंग हैं, क्योंकि संस्कृति, साहित्य, भाषा, रहन-सहन आकार-प्रकार में इतना अंतर झलकता है कि एक नए समुदाय का भाव स्वत उभरता है। सचमुच क्या यह देश, मात्र एक देश है? एक 'महादेश' की अवधारणा कहीं इससे चरितार्थ होती है। इतनी भिन्नताएं किसी महाद्वीप में ही संभव हो सकती हैं। केरल में वॉयनार्ड का हरा-भरा पर्वतीय क्षेत्र कभी बहुत मोहता है तो कभी हिमालय की अंतहीन शुभ्र श्रृंखलाएं। गोवा का विस्तृत निर्मल सागर असम-मणिपुर के घने वन। एक भारत के भीतर कितने-कितने विस्तृत भारत ! पर अण्डमान-निकोबार की छटा इन सबसे निराली है। मणिपुर की लोकटक झील मे अधडूबे पहाड़, जल की सतह पर इधर-उधर फिसलते हरित खेत। खेतों में बनी झोपड़ियां हवा के झोंकों के साथ तिरती रहती हैं। इनमें रहा जाए तो कैसी

विचित्र अनुभूति होगी ! जल की सतह पर ऐसी तैरती धरती दुनिया में और कहां होगी? पहाड़ों की लाल धरती पर उगाए गए नन्हें चंदन-वन !

कुछ बातें विदेशों की भी बताइए? दुनिया के किन क्षेत्रों ने आपको मोहा, कुछ अंतरंग अनुभव, कुछ अंतरंग बातें?

दुनिया इतनी बड़ी, इतनी विशाल है कि सौ जनम भी उसके लिए कम हैं। उस पर एक सैलानी की तरह घूमने पर भला कोई आदमी कितना कुछ समेट पाएगा? फिर भी स्मृति-पटल पर कुछ धुधले बिंब-प्रतिबिंब तो रह ही जाते हैं, स्मृति के रूप में, पर समय के साथ-साथ वे भी धीरे-धीरे धुंधलाने लगते हैं। अधिक तो नहीं, हां, कुछ देशों में जाने का अवसर कभी-कभी प्राप्त हुआ। सबसे पहली यात्रा नार्वे की हुई थी, जो हर अर्थ में अविस्मरणीय रही।

नार्वे एक विचित्र देश लगा। निर्मल-निराले फीयोर्ड, गहरी झीलें, सागर झरने, हरी-भरी धरती या फिर नीला स्वच्छ आसमान। सब इतना स्वच्छ, इतना पारदर्शी कि कल्पना से भी परे। वहां जाकर जीवन में पहली बार मैंने धुला-धुला आसमान, धुली-धुली धरती, धुले-धुले पहाड़, धुले-धुले बादल और धुली-धुली रोशनी देखी थी। इस अर्थ में वह एक अनोखा देश लगा था। धूल क्या होती है, यहां के लोग नहीं जानते। आबादी नहीं के बराबर ! सड़क, रेल, बस, सब जगह आपके लिए रिक्त स्थान प्रतीक्षा में रहता है। कहीं भी किंचित शोर नहीं ! सब अपना काम यंत्र की तरह करते है। इतने धीरे-धीरे बोलते है कि परस्पर बाते करते दो व्यक्तियों के स्वर तीसरे तक नहीं पहुंच पाते। अब तो शनैः शनैः सर्वत्र परिवर्तन आ चुका है, परन्तु आज से बीस साल पहले का नार्वे एकदम भिन्न था। चोरी लूट, हत्या जैसे शब्द उनके शब्दकोश तक ही सीमित थे। 'ऑफ्टन पोस्टन' (नार्वेजियन दैनिक) ने मेरा एक साक्षात्कार प्रकाशित किया था। आने से एक दिन पहले उसका पारिश्रमिक प्राप्त करने कार्यालय गया तो उन्होंने एक हजार क्रोनर की राशि (जो लगभग पांच हजार रुपए के बराबर थी) मुझे दी। मैंने जब रसीद पर दस्तखत करने की बात कही तो सहज आश्चर्य से उन्होंने पूछा, 'यह क्या होती है? आपका पारिश्रमिक आपको दे दिया, अब रसीद की क्या आवश्यकता? इतना ईमानदार देश ! व्यक्ति पर इतना विश्वास !

नार्वे की इस यात्रा में अनेक दुर्लभ स्थल देखे, परंतु जिन तीर्थस्थलो ने सबसे अधिक प्रभावित किया, वे थे-- सींयन, लिली हामेर तथा ब्यौन्सन की तपोभूमि। सींयन विश्वविख्यात नाटककार हैनरिक इब्सन की जन्मभूमि थी। किशोरावस्था पार करने तक यही इब्सन की क्रीड़ास्थली एवं एक प्रकार से कर्मभूमि भी रही। कालांतर में जिन कालजयी नाटकों की उन्होंने सृष्टि की थी,

बचाती हुई उत्तरी ध्रुव-प्रदेश के बर्फीले क्षेत्रों की ओर निकल गई थीं। स्वीडन दूसरे विश्वयुद्ध में तटस्थ राष्ट्र था। अतः यहां तक सुरक्षित पहुंचने के पश्चात फिर साइबेरिया और जापान होते हुए अमेरिका पहुंचना कठिन नहीं था। चारो आर नाजियों का जाल बिछा था।

सीगरी का घर अब तक वैसा का वैसा रखा गया है। उनकी पुस्तके टाइप राइटर, लिखने की मेज, मेज पर लिखे-अधलिखे कागज, खूंटी पर टगे पहनने के कपडे, सारी वस्तुएं देखकर लगता है कि जैसे सीगरी अब भी वहा रहती हैं और अभी-अभी उठकर कहीं बाहर गई हैं ! एक चित्र टंगा है, बाहर प्रवेश द्वार के पास। सोल्जेनित्सिन इस घर में प्रवेश कर रहे हैं। यही संग्रहालय है। यही घर है, जिसमें अब सीगरी की विधवा पुत्रवधू रहती हैं। ठीक वैसे ही, जैसे सीगरी के जीवन-काल में रहती थी। घर मात्र घर नहीं, एक तीर्थ जैसा एहसास भी जगाता है।

सीगरी के घर बेयर बीक से लगभग बारह मील पश्चिम मे नोबेल पुरस्कार से सम्मानित एक और साहित्यकार ब्यौंसन का घर है, जिन्हे सन् 1903 में नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किया गया था। ये राष्ट्रकवि थे नार्वे के। नार्वे में सबसे पहले बिजली नार्वे के राजा या प्रधानमंत्री के नहीं, बल्कि साहित्यकार ब्यौंसन के इस घर मे जगमगाई थी। लगभग एक सौ अस्सी साल पुराना यह घर अभी भी नया-नया-सा लगता है। घर के प्रवेश द्वार के पास ब्यौंसन की बग्घी अभी तक उसी तरह खडी है। एक-एक कमरा खोलकर देखते हैं। यह ब्यौंसन का अध्ययन कक्ष है। यह ब्यौंसन का गेस्ट-रूम। यह कमरा छोटा-सा है, खाली, सिगरेट पीने के लिए ब्यौंसन इसमें आते थे। इसे वह 'सुअर का कमरा' कहते थे। चमड़े का एक बहुत बड़ा थैला है। इसमें ब्यौंसन की डाक आती थी। सैकड़ो चिट्ठिया प्रतिदिन !

निचले कमरे में बहुत बड़ा डेक है। अपने देश के स्वाधीनता-दिवस को ब्यौसन 'बाल-दिवस' के रूप मे मनाते थे। इस डेक में चाकलेट भरकर आस-पास के बच्चों को भरपेट खिलाते थे। उनके कमरे में मेज के ऊपर जतन से एक फरवाली ऊनी टोपी रखी है। हमारे साथ-साथ चलने वाली नार्वेजियन महिला गाइड, जो इस घर की एक-एक वस्तु को बड़ी तल्लीनता से हमें दिखला रही है सहसा टोपी उठाकर मेरे सिर पर रख देती है, 'यह ब्यौंसन की 'थिंकिंग-कैप' है। लिखते समय वे इसे अवश्य धारण करते थे। उनका कहना था कि इसे पहनकर विचार स्वतः आते चले जाते हैं।' क्या-क्या बताएं, नार्वे पर मैंने अलग से एक पुस्तक ही लिखी है : 'सूरज चमके आधी रात।' उसे पढ़िएगा।

आप आर्कटिक सर्किल के ऊपर ध्रुव-प्रदेश में भी गए हैं, कुछ बातें उस

उनकी प्रेरणास्थली भी यही थी। अपने आंगन पर पर्दा लटकाकर वे नाटक प्रस्तुत किया करते थे। पात्रों की कमी होने पर परिवार के लोगों को भी मंच पर ले आना न भूलते थे। नाटककार के रूप में उनके विराट व्यक्तित्व की नींव वस्तुतः यही पड़ी थी। 'जंगली बतख' की प्रेरणा यहीं से उन्होंने ग्रहण की थी। उनका नन्हा-सा पलंग, उस पर बिछी सफेद चादर, पास ही रखा उनकी ममतामयी मां का चरखा, जिस पर वे ऊन का धागा कातती थीं। वह काठ का दरवाजा, जिस पर रंगीन खड़िया से अपने छोटे-छोटे भाई-बहनों को डराने के लिए इब्सन भेडिए का चित्र बनाते थे। लगभग दो सौ वर्ष बाद भी रंगीन चाक से बना वह रंगीन भेडिया अब तक वैसा ही, उसी तरह बैठा है, अविचल ! वह घर, जो आग लगने से राख हो गया था ! वहीं से आरम्भ की थी इब्सन ने अपनी अगली जीवन-यात्रा। जब आजीविका का इधर कोई आधार नहीं रहा तो इब्सन को अपने सपनों का वह नन्हा-सा शहर छोड़ने के लिए विवश होना पड़ा था।

शाम को ट्रेन से ओस्लो लौटते समय एक विचित्र-सी अनुभूति हुई थी। हैनरिक थियेटर, हैनरिक रोड, हैनरिक म्यूजियम, हैनरिक कैफे, हैनरिक लायब्रेरी हैनरिक-हैनरिक, सारा का सारा कस्बा हैनरिक की अन्तहीन मधुर स्मृतियों से जुड़ा, हैनरिकमय लगा था। सफेद स्फटिक पाषाण-खण्डों पर उकेरी गई हैनरिक की जीती-जागती बोलती प्रतिमा देर तक बतियाती रही। एक कलाकार की प्रतिष्ठा क्या होती है, कितना गरिमामय होता है, उसका व्यक्तित्व ! कितना विशाल होता है उसका कृतित्व ! यश की अनमोल धरोहर ! कलात्मक ढंग से कैसे संजोई जाती हैं उसकी स्मृतियां, यह नार्वे से सीखा जा सकता है। शेक्सपीयर के पश्चात विश्व के इस सबसे बड़े नाटककार के घर से लौटा तो अनेक प्रश्न अनायास मन में उभरते रहे।

दूसरे दिन नोबेल पुरस्कार से सम्मानित विख्यात उपन्यासकार सीगरी उनसत के घर जाना था, सीयन से बिल्कुल विपरीत दिशा में। उस वर्ष नार्वे या यूरोप ही नहीं, प्रायः सम्पूर्ण विश्व में सीगरी की जन्म-शताब्दी मनाई जा रही थी। देश-विदेश के अनेक साहित्यिक यात्री लिली हामेर आ रहे थे। सीगरी ने अपने कर्मठ जीवन का लगभग आधा हिस्सा यहीं व्यतीत किया था। यहीं उनका देहावसान हुआ था। यहीं उन्होंने अपनी विलक्षण कृतियों का सृजन किया था। उस कृति का भी, जिसे नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किया गया था। यहा दर्शनीय है — उनका निवास, जहा वे अंत तक रहीं। सामने ही है वह हरी-भरी विस्तृत ढलवां घाटी, जहां उनका बेटा एण्डर्स नाजी सैनिकों के साथ संघर्ष करता हुआ वीरगति को प्राप्त हुआ था। सीगरी तब स्वयं नाजियों के चंगुल से प्राण

बचाती हुई उत्तरी ध्रुव-प्रदेश के बर्फीले क्षेत्रों की ओर निकल गई थीं। स्वीडन दूसरे विश्वयुद्ध में तटस्थ राष्ट्र था। अतः यहां तक सुरक्षित पहुंचने के पश्चात फिर साइबेरिया और जापान होते हुए अमेरिका पहुंचना कठिन नहीं था। चारो ओर नाजियों का जाल बिछा था।

सीगरी का घर अब तक वैसा का वैसा रखा गया है। उनकी पुस्तके टाइप राइटर, लिखने की मेज, मेज पर लिखे-अधलिखे कागज, खूंटी पर टगे पहनने के कपड़े, सारी वस्तुएं देखकर लगता है कि जैसे सीगरी अब भी वहा रहती हैं और अभी-अभी उठकर कहीं बाहर गई हैं ! एक चित्र टगा है, बाहर प्रवेश द्वार के पास। सोल्जेनित्सिन इस घर में प्रवेश कर रहे हैं। यही संग्रहालय है। यही घर है, जिसमें अब सीगरी की विधवा पुत्रवधू रहती हैं। ठीक वैसे ही, जैसे सीगरी के जीवन-काल में रहती थीं। घर मात्र घर नहीं, एक तीर्थ जैसा एहसास भी जगाता है।

सीगरी के घर बेयर बीक से लगभग बारह मील पश्चिम में नोबेल पुरस्कार से सम्मानित एक और साहित्यकार ब्यौंसन का घर है, जिन्हें सन् 1903 में नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किया गया था। ये राष्ट्रकवि थे नार्वे के। नार्वे में सबसे पहले बिजली नार्वे के राजा या प्रधानमंत्री के नहीं, बल्कि साहित्यकार ब्यौंसन के इस घर में जगमगाई थी। लगभग एक सौ अस्सी साल पुराना यह घर अभी भी नया-नया-सा लगता है। घर के प्रवेश द्वार के पास ब्यौंसन की बग्घी अभी तक उसी तरह खड़ी है। एक-एक कमरा खोलकर देखते हैं। यह ब्यौंसन का अध्ययन कक्ष है। यह ब्यौंसन का गेस्ट-रूम। यह कमरा छोटा-सा है, खाली, सिगरेट पीने के लिए ब्यौंसन इसमें आते थे। इसे वह 'सुअर का कमरा' कहते थे। चमड़े का एक बहुत बड़ा थैला है। इसमें ब्यौंसन की डाक आती थी। सैकड़ों चिट्ठियां प्रतिदिन ।

निचले कमरे में बहुत बड़ा डेक है। अपने देश के स्वाधीनता-दिवस को ब्यौंसन 'बाल-दिवस' के रूप मे मनाते थे। इस डेक में चाकलेट भरकर आस-पास के बच्चों को भरपेट खिलाते थे। उनके कमरे में मेज के ऊपर जतन से एक फरवाली ऊनी टोपी रखी है। हमारे साथ-साथ चलने वाली नार्वेजियन महिला गाइड, जो इस घर की एक-एक वस्तु को बड़ी तल्लीनता से हमें दिखला रही है, सहसा टोपी उठाकर मेरे सिर पर रख देती है, 'यह ब्यौंसन की 'थिंकिंग-कैप' है। लिखते समय वे इसे अवश्य धारण करते थे। उनका कहना था कि इसे पहनकर विचार स्वतः आते चले जाते हैं।' क्या-क्या बताएं, नार्वे पर मैंने अलग से एक पुस्तक ही लिखी है : 'सूरज चमके आधी रात।' उसे पढ़िएगा।

आप आर्कटिक सर्किल के ऊपर ध्रुव-प्रदेश में भी गए हैं, कुछ बातें उस

अनोखी दुनिया की भी बताए।

हां, आर्कटिक-वृत्त के सैकडों मील उत्तर तक तो कई बार गया हूं, परन्तु ध्रुव-प्रदेश के निकट जाने का अवसर केवल एक ही बार मिला। आर्कटिक-सर्किल पार कर उत्तर की ओर बढ़ने की अनुभूति भी स्वयं में कम आल्हादकारी नहीं थी। अनगिनत सुरंगों को पार करती, उन उजाड़-वीरान बर्फीली पर्वतीय श्रृंखलाओ मे धडधड़ाती हुई हमारी ट्रेन ऐसे भागी जा रही थी, जैसे हमारे देश के मैदानों में भी नहीं दौड़ती। एक के बाद एक रेंडियरों के इलाके पीछे छूट रहे थे। ऐसा लगता जैसे हम स्वर्ग की ऊंचाई की ओर आगे बढ़ रहे हैं। पिघलती बर्फ के कारण यत्र-तत्र पहाड़ों से अनगिनत झरने-से फूट रहे थे। धीरे-धीरे कब रात घिर आई, पता ही नहीं चला। हा, यहा की रात हमारे देश की रात की तरह नहीं होती। हल्के अंधियारे के साथ-साथ एक प्रकार का उजास-सा भी रहता है। न दिन, न रात का भ्रम ! ज्यों-ज्यों हम आगे बढ़ रहे थे, ध्रुव-प्रदेश के निकट, त्यों-त्यों हर वस्तु में परिवर्तन आता चला जा रहा था। पता नहीं कब आंखें खुली, सुबह का जैसा एहसास हुआ। अब चारो ओर कुछ-कुछ उजास था। रेंडियरों को रोकने के लिए काठ के फट्टों के बाड़े दूर से ही चमक रहे थे। पिघली बर्फ का पानी गड्ढो मे एकत्र होकर तालाब जैसा लग रहा था। पहाड़ों के ऊपर पठारी भूमि में धड़धड़ाती आगे बढ़ती ट्रेन एकाएक ठिठक पड़ी। ट्रेन से घोषणा हुई कि अब हम 'पोलर सर्किल' के भीतर प्रवेश करनेवाले हैं। रेल की पटरियों के दोनों ओर ऊंचे स्थानो पर आप जो दो निशान देख रहे है, वहीं से आरंभ होने वाला है, ध्रुव-प्रदेश। विदेशी-यात्री रोमांचित हो उठे थे। गाड़ी फिर आगे बढ़ने लगी थी।

सुबह के जैसे धुंधलके में 'मेरुप्रभा' स्पष्ट दीख रही थी। नाना रंगों की आसमान में तिरती लहरें कितनी मनमोहक लग रही थीं ! सच, कैसा अद्‌भुत था वह दृश्य ! कुछ घंटों के सफर के बाद रेल का अंतिम स्टेशन भी पीछे छूट गया था। अब आगे की यात्रा बस से करनी थी। यह एक प्रकार से रेल का अंतिम स्टेशन था। यहां से पश्चिम की ओर थोड़ा-सा मुड़कर ट्रेन बूदो में समाप्त हो जाती है।

इवनशायर में विश्राम के बाद फिर प्रस्थान किया, उत्तर से भी और अधिक धुर उत्तर की ओर। हास्टा के बाद स्टीमर से आगे बढ़ते हैं। अब हमारी अंतिम मजिल है – ट्रोम्सो ! ध्रुव-प्रदेश के सबसे निकट विश्व की एकलौती युनिवर्सिटी स्थित है यहां। बिखरा हुआ शहर। छितरी जनसंख्या। चारों ओर बर्फ से ढके पहाड़। बर्फ ही बर्फ ! पहाड ही पहाड़। कहीं-कहीं आबादी का कोई काला छींटा। यही है ध्रुव प्रदेश यानी लैप लोगों का प्रदेश 'लैपलैंड'। लैपों को रूस में एस्कीमो और कनाडा में सैमोआइड्स नाम से पुकारा जाता है। नार्वे में लैप्स को सामी भी कहते

हैं रोप-वे के सहारे हम आसमान को छूते एक पर्वत शिखर तक पहुचे, जहा लैप लोगों की बस्तियां थी। अपने पारम्परिक रंग-बिरंगे परिधान में लैप-परिवार धधकती आग के चारों ओर घेरा बनाए बैठा था। निकट ही एक दूसरा परिवार था, स्थानीय बाजा बजाता हुआ। वह अपनी सामी भाषा में कोई लोकगीत गा रहा था। पास ही झबरैले कुत्ते थे। रेंडियरों का विशाल बाड़ा। यहां कुत्ते बिना पहियों वाली स्लेज गाडियां बर्फ पर घसीटते हैं। कुत्तो के पांवो में भी जूते होते हैं। घोडों के लिए भी जूते उतने ही अनिवार्य माने जाते हैं। न उजास, न अंधियारा ! इतनी सर्दी में शरीर का रंग धीरे-धीरे नीला पड़ने लगा था। अधिक देर तक इस तापमान में ठहर पाना असंभव-सा लग रहा था। अब हम फिर 'रोप-वे' की दिशा मे थे। दौड़ते हुए जगली रेंडियरों के झुंड हमारी बगल से गुजरते कहीं बर्फीले पहाड़ों में ओझल हो रहे थे।

कोरिया, थाईलैंड, स्वीडन, इंग्लैंड, अमेरिका, मॉरीशस, त्रिनिडाड, जापान आदि अनेक देशों के अनेक संस्मरण हैं, जो पुस्तक के विषय हैं, भेंटवार्ता के नही।

' **आपने आदिवासी, ग्रामीण, शहरी तथा राजनीतिक जीवन, प्रायः भारत के हर पहलू पर लिखा है। मानवीय संबंधों पर भी कम नहीं। इतनी विविधता क्यों और कैसे आपके लेखन में आ गई?**

जैसा जीवन हम जीते हैं, जैसा जीवन हम निकट से देखते हैं, परखते है, वही तो अंततोगत्वा हमारे लेखन का भी विषय बनता है। पर्वतीय ग्रामीण अचल मे पैदा हुआ। कस्बों में बचपन बीता। पैंतालीस साल से दिल्ली जैसे महानगर मे रह रहा हूं। नगरों-महानगरों की यात्राएं कर रहा हूं। पत्रकार होने के नाते विभिन्न स्तरों के, भिन्न-भिन्न लोगों से सम्पर्क रहा। राजनीतिज्ञों को वर्षो तक बहुत पास से देखा, इसलिए उनके अंतरंग जीवन पर भी कुछ लिखा। शायद ये ही कुछ कारण रहे हों कि मेरे लेखन में आपको इतनी विविधता दीखती है ! हालांकि मुझे तो अभी भी लगता है कि भारतीय उपमहाद्वीप का न जाने कितना हिस्सा है, जो मै देखना, जानना और समझना चाहता हूं, पर समय नहीं है।

किन लेखकों को पढ़कर आपने पसंद किया, पसंदगी का कारण?

जिन लेखकों को हम पढते हैं, अनायास ही वे कहीं न कहीं, किसी न किसी रूप में हमें प्रभावित करते रहते है। लेखक जाति, धर्म, देश, भाषा की सीमाओ से परे होते हैं, इसलिए लेखक को हमेशा मात्र लेखक के रूप मे ही लेता हू। मुझे अधिक पसंद जो लेखक आए, उनमें से कुछ हैं : तोल्स्तोय, चेखव

खलील जिब्रान, गाल्सवर्दी, इवान तुर्गनेव, शरच्चंद्र, फणीश्वरनाथ 'रेणु' आदि। इनकी कालजयी कृतियां मन को ही नहीं छूतीं, मस्तिष्क को भी झकझोरती है। कितनी ही बार पढ़ें, मन नहीं भरता। देश-काल की परिधि से परे ये रचनाएं नित नई लगती हैं और बहुत कुछ सोचने के लिए विवश करती हैं।

इन अग्रणी कथाकारों के क्रम में आपने 'रेणु' को भी रखा?

प्रेमचंद से आगे के लेखक है 'रेणु'। हिंदी ही नहीं, संभवतः समग्र भारतीय लेखन में रेणु एकमात्र ऐसे लेखक हैं, जिनकी रचनाओं में ग्रामीण अंचल का एक-एक कण जीवंत होकर मुखरित हुआ है। इतना विलक्षण चितेरा साहित्य के इतिहास मे कहीं कोई दूसरा नहीं दीखता, जिसके शब्द-शब्द में इतना स्पंदन हो। इतनी जीवंतता !

वर्तमान स्थिति पर लिखते हुए एक बार आपने कहा था कि साहित्य मे अब 'माफिया' घर कर रहा है। इससे आपका तात्पर्य क्या है?

इधर कुछ वर्षो से हम देख रहे हैं कि मानव-मूल्यों का धीरे-धीरे ह्रास हो रहा है। नैतिकता, ईमानदारी आदि के लिए भी कहीं निर्दिष्ट ठौर नहीं दीखता। साहित्य भी इस सब से प्रभावित न हो, यह कैसे हो सकता है? यों एक समूह बनाकर छा जाने की प्रवृत्ति 'नई कहानी' के दौर में शुरू हुई थी, जिसने धीरे-धीरे अब एक विकराल रूप ले लिया है। आलोचना के क्षेत्र में पहले तय हो जाता है कि किस कृति को, किस रूप में लेना है। किसे आसमान तक उछालना है, किसे रसातल में पहुंचा देना है। इसका प्रभाव कालांतर में पाठक वर्ग पर भी पड़ता है सामान्य आलोचकों पर भी। वे भी उसी को पत्थर की लकीर मान लेते हैं और बिना किसी प्रकार के सोच एवं श्रम के साहित्य का इतिहास लिखनेवाले भी बाद में उसी संहिता का अनुशीलन करते हैं। इस तरह एक अर्थहीन पूर्वाग्रह अंततोगत्वा उस काल का सच हो जाता है। जो लेखक एकांत भाव से, पूरी निष्ठा के साथ निरंतर लिख रहे हैं, वे समय के साथ हाशिए पर चले जाते हैं। जो नगरों-महानगरों की सीमा-रेखाओं से दूरदराज क्षेत्रों में, महानगरों के महारोगों से परे हैं, वे भी इसी उपेक्षा के शिकार हो जाते हैं। उनके प्रकाश में आने के सारे मार्ग, सभी दिशाओं से अवरुद्ध लगते हैं। अधिकांश पत्र-पत्रिकाओं की स्थिति भी इससे अधिक भिन्न नहीं रह गई है। वहां भी सीमित स्वार्थों का साया है। संचार माध्यम भी कुछ 'भाग्यविधाताओं' की मुट्ठी में कैद हैं। इसलिए इस समय सबसे बड़ी आवश्यकता है, समग्र साहित्य के पूर्वाग्रह रहित समुचित आकलन की। हिंदी-साहित्य का जो गलत इतिहास लिखा जा रहा है, उसे सही-सही लिखने की।

साहित्य के इस इतिहास से क्या-क्या शिकायतें हैं आपको? क्या उसमे कुछ ऐसी गंभीर खामियां हैं, जिन्हें आप उचित नहीं पाते?

मैं अपनी व्यक्तिगत शिकायत की बात नहीं कह रहा , मैं एक सीधी-सच्ची बात को गलत ढग से लिखे जाने की या न लिखे जाने की बात कर रहा हूं। हिंदी साहित्य का इतिहास मात्र बनारस, इलाहाबाद, पटना या लखनऊ अथवा दिल्ली के ही कुछ लोगों का नहीं है। इसमे सम्पूर्ण भारत के हिंदी लेखन के सही-सही आकलन का समावेश होना चाहिए। पजाब, गुजरात, राजस्थान, हिमाचल तथा मध्य प्रदेश के अलावा दक्षिण के अनेक राज्यों में अनेक हिंदी साहित्यसेवी हुए है जिनका कभी भूले-भटके भी जिक्र नही आता है। आखिर ऐसा क्यों? विदेशो मे कई हिंदीभाषी या विदेशी हिंदी सेवी रचनाकार हुए हैं, साहित्य के इतिहास मे सदैव वे अछूत क्यो रहे? साहित्य सब का है, सब के लिए है, उसमें किसी तरह के भेदभाव के लिए स्थान नहीं होना चाहिए। जिसका जितना योगदान है, उसे अवश्य रेखांकित किया जाना चाहिए।

प्रेम पर केंद्रित आपने कई उपन्यास लिखे हैं। व्यक्तिगत जीवन में प्रेम की असफलता तो कहीं इनके मूल में नहीं?

बिना अनुभूति के भी क्या कहीं साहित्य का सृजन होता है? धुआं है तो आग भी होगी ही। सफल प्रेम कभी लिखने के लिए प्रेरित नहीं करता। असफलता एव अतृप्ति का भाव ही सृजन का निमित्त बनता है। सफल प्रेमी-प्रेमिका स्वर्ग-सा जीवन जीने लगते हैं, लेखन-वेखन सब भूल जाते हैं। असफलता व्यक्ति को हाट करती है और वह लेखन भी पाठक को हांट करता है।

अपनी सबसे सफल कृति किसे मानते हैं और वैसा मानने के पीछे तर्क क्या है?

लेखक को अपनी सभी रचनाओं से समान रूप से मोह होता है। फिर भी कुछ कारणों से जो कृति सबसे कम चर्चित हुई हो या उपेक्षित रह गई हो, उसके प्रति लेखक का कुछ अधिक मोह होता है। यों सबसे अधिक चर्चित 'कगार की आग' उपन्यास रहा। उपेक्षितों मे 'समय साक्षी है'। राजनीति में क्या-क्या होता है, उसका यह एक प्रकार से प्रामाणिक दस्तावेज है। पिछली कुछ दशाब्दियों में देश सेवा के नाम पर क्या-क्या अनाचार राष्ट्र के 'भविष्यविधाताओं' ने नहीं किए? उसकी कुछ झलकियां 'समय साक्षी है' में प्रस्तुत की गई है।

उस तरह से देखा जाए तो आपके उपन्यास 'अरण्य' की भी चर्चा कम ही हुई है?

आज साहित्य की जो स्थिति हो गई है उसमे लेखक के लिए मात्र लिखना ही पर्याप्त नहीं रह गया है। साहित्य जब 'वस्तु' बन जाए तो बाजार और बिक्री की महत्ता उसके लिए आवश्यक हो जाती है। साहित्य सृजन के बाद जो साहित्य-धर्म साहित्यकार के लिए शेष रह जाता है, जो इस व्यापार में माहिर नहीं, उनके घाटे मे रहने की संभावनाएं बढ़ जाती हैं। फिर भी, यह सत्य सबको स्वीकार करना ही होगा कि साहित्य एवं सस्कृति के क्षेत्र में कुछ देर अवश्य हो सकती है, परन्तु अधेर की संभावनाएं उतनी नहीं। यों अपवाद किस क्षेत्र मे नहीं हैं?

उम्र के इस मोड़ पर आपको भी मनोहरश्याम जोशी की तरह एक ठो 'वार एंड पीस' या 'क्राइम एंड पनिश्मेंट' लिखने का खयाल तो नहीं आता?

जब-जब मैं पीछे मुड़कर देखता हूं, आकलन करता हूं अपने लिखे का, तो हर बार एक प्रकार का असंतोष उपजता है। लगता है, वस्तुतः जो लिखा जाना था, जिसे मैं लिखना चाहता था, वह लिखा जाना तो अभी शेष है। गत 45 वर्षों मे जो लिखा गया, वह तो भूमिका मात्र है। अनेक वर्षों से लेखन की अनेक महत्वपूर्ण योजनाएं मन के किसी कोने में संजोई हुई हैं – नए धरातल पर, कुछ नया, कुछ अच्छा लिखने की। लगता है, अनेक दायित्वों से मुक्त होकर अब इस दिशा में ठोस कार्य करने का समय आ गया है। उसके लिए तैयारी कर रहा हू, एक सीमा तक कर भी चुका हूं। बस, उसे आंरभ करना ही शेष है ! नई पृष्ठभूमि पर मेरा यह एक सर्वथा नया उपन्यास होगा। देखें, समय कितना साथ दे पाता है। फिर भी प्रयास तो करने ही हैं, स्थितियां अनुकूल न हों, तब भी।

लेखन में उम्र को आप किस रूप में लेते हैं? श्रेष्ठ लेखन युवावस्था में आता है, प्रौढ़ावस्था में या वृद्धावस्था में? आपको इस संदर्भ में इस मुकाम पर कैसा लगता है?

हर लेखक की अपनी एक अलग बनावट या बुनावट होती है। उसी के अनुरूप उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व का निर्माण होता है। कुछ लेखक जीवन के आरभिक दौर में बहुत अच्छा लिखते हैं, कुछ प्रौढावस्था में आते-आते अपना सर्वश्रेष्ठ दे जाते हैं। शेष कुछ ऐसे भी होते हैं, जो जीवन के अंतिम पहर में अपने सृजन के शिखर पर होते हैं। जार्ज बर्नाड शॉ या प्रेमचंद इसके दृष्टांत हैं। उनकी अतिम रचनाएं उनकी श्रेष्ठ रचनाएं हैं। अधिकांश लेखक जीवन के आरंभिक दौर मे ही अपना सबसे महत्वपूर्ण दे देते हैं, बाद में उस ऊंचाई तक नहीं पहुंच पाते। ऐसे लेखकों की संख्या संभवतः सबसे अधिक होती है। यो इसके लिए कोई

विशेष नियम निर्धारित नहीं यह व्यक्ति व्यक्ति पर निर्भर करता है, प्रौढावस्था मे भी प्रौढ़ रचनाएं कम नहीं लिखी गई।

उपन्यासों के अलावा कहानियां भी आपने कम नहीं लिखीं। अपनी प्रतिनिधि रचनाएं आप किन्हें मानते हैं?

लेखक अपनी रचनाओ का आकलन स्वयं करे, यह बड़ा अटपटा-सा लगता है। यह काम तो पाठको का है या फिर समालोचकों का। अपनी ओर से लेखक क्या कह सकता है ! अपनी प्रिय रचनाओं का चुनाव तो लेखक कर सकता है, लेकिन अपनी प्रतिनिधि रचनाओं का चुनाव वह नहीं कर सकता। यह काम तो सुधी पाठक और विद्वान आलोचक ही कर सकते हैं।

लेखक मात्र लेखक ही नहीं होता, वह प्रबुद्ध पाठक तथा निष्पक्ष आलोचक भी होता है कहीं। यदि उसमें दृष्टि है तो अपनी रचनाओं के भले-बुरे हर पक्ष का जितना स्वस्थ विवेचन वह कर सकता है, शायद कोई दूसरा नहीं। मात्र एक पाठक के नाते आपको अपनी कहानियों में कौन-सी सबसे अच्छी लगती हैं?

मेरे आकलन के हिसाब से वही कहानी श्रेष्ठ है, जिसे एक बार पढ़ने के पश्चात जीवन में आप चाहकर भी उसे भूल न सकें। 'अपने ही कस्बे में', 'अंतत ' सजा', 'समुद्र और सूर्य के बीच', 'तर्पण', 'अगला यथार्थ', 'जो घटित हुआ' आदि कहानियां मुझे इस दृष्टि से उल्लेखनीय लगी। इनमें कई कहानियों का नाट्य रूपांतर हुआ तथा कुछ पर फिल्में भी बनी हैं।

कोई अंतरंग मित्र, जिससे मन की बात कह सकते हों, रहस्यमय या अंतरंग भी, जिससे भेद खुलने का खतरा न हो।

मित्रों के प्रश्न पर मैं बहुत अधिक उदार होते हुए कहीं बहुत संकोची भी हू। यों मित्रों में भी कम मित्र होते हैं, जिन्हें वास्तव में सच्चे मित्रों की श्रेणी मे रखा जाए। फिर भी मैं अपने को बहुत सौभाग्यशाली मानता हूं। मेरे मित्रों की सख्या अपार है। शायद यही मेरे जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि है, जीवन-भर की अर्जित सबसे मूल्यवान निधि, पर बंधुवर, मेरी पसंद और नापसंद के बीच गहरी खाई भी है। जो पसंद है, बहुत पसंद है, जिन्हें नापसंद करता हूं, उन्हे स्पष्ट रूप से बिल्कुल नापसंद करता हूं। यों तो अनेक अभिन्न मित्र हैं, फिर भी एक मित्र हैं, जिन्हें बड़ा भाई भी समझ सकते हैं--सत्येंद्र शरत्...। मेरे गुण-दोष जितना वे जानते है, उतना शायद ही कोई और जानता हो। निःसकोच भाव से किसी भी समस्या पर उनसे बातें हो सकती हैं। यह भी निश्चित है कि जो कुछ

कहा गया है, वह उन्हीं तक सीमित रहेगा। इतने सहृदय, विश्वसनीय मित्र आज की दुनिया में कम होते हैं।

नयी पीढ़ी को अपने अनुभवों के आधार पर कुछ सलाह देना चाहेंगे?

अपने अनुभवों से ही आदमी बहुत कुछ सीखता है। ठोकरें खाने से व्यक्ति मे परिपक्वता आती है, परन्तु उस मार्ग से जो पहले आगे बढ़े हैं, उनके अनुभव भी कभी-कभी कुछ काम आ सकते हैं। साहित्य व्यवसाय नही, जीवनपर्यंत चलनेवाली एक अटूट तपश्चर्या है। इसलिए इसमें लाभ-हानि का अंकगणित अधिक उपयोगी नहीं रह पाता। यहां क्षणिक लाभ और झूठ जैसे तत्वों की महत्ता लबे समय तक कारगर नहीं रह पाती। जब जीवन में ही जीने का कोई सही सिद्धांत नहीं तो साहित्य या संस्कृति में कैसे बन पाएगा? इसलिए साहित्य मे निष्ठा, सतत साधना और सिद्धांत का अपना विशिष्ट स्थान है। साहित्य मे शॉर्टकट नहीं हैं। यह कांटोभरी लबी राह है, जो दुर्गम बीहडों से गुजरती है।

दुनिया में कोई भी लेखक बिना आधारभूत सिद्धांतों के महान नहीं बना। साहित्यकार इसलिए साहित्यकार कहा जाता है कि वह मात्र अपने लिए नहीं जीता, उन लोगों की लड़ाई भी लड़ता है, जो अपनी लड़ाई स्वयं नहीं लड़ पाते। जाति, धर्म, भाषा, क्षेत्र की सीमाओं से जो ऊपर नहीं उठ पाया, वह जीवन में और कुछ भी बन जाए, सही अर्थों में लेखक कभी नहीं बन सकता।

नई पीढ़ी मे प्रतिभा है, क्षमता है, परन्तु हिंदी की स्थिति को देखते हुए कहा जा सकता है कि उसके सामने सही संतुलित विकास के साधन नहीं हैं। पत्र-पत्रिकाएं अब नहीं के बराबर रह गई हैं। कुछ अपवादों को छोड़कर अनेक जगहों में अनेक 'समूह' छाए है, अपने पैने पजे फैलाए। या तो वे उन मसीहाओ के अनुगामी बनें, अन्यथा सर्वत्र उनके लिए 'प्रवेश-निषेध' के संकेत लिखे है। इलेक्ट्रॉनिक संचार माध्यमों की स्थिति इससे भी दयनीय है।

आज कुछ बड़ा बनने के लिए कुछ छोटा होना अनिवार्य हो रहा है। नए लेखक की पुस्तक यदि प्रयत्न करके कहीं से प्रकाशित भी हो गई तो उसके अचर्चित ही चले जाने की आशकाएं अधिक दीखती हैं। यदि सौभाग्य से सौ-पचास लोगों के बीच गलती से वह थोड़ा-बहुत चर्चित हो भी गई तो उससे भी तब तक कुछ नहीं होगा, जब तक कुछ 'पण्डों' के द्वारा उन कृतियो पर 'आई.एस.आई.' या 'ऐग-मार्का' चिन्ह नही लगेगा। जिस तरह से देश दरिदो के हाथों में चला गया है, उसी तरह साहित्य में भी एक तरह की प्रेत-छाया दिन-प्रतिदिन अपना प्रभाव बढ़ाती चली जा रही है। नई पीढ़ी को विरासत में यही कटक भरा अंधियारा मार्ग मिला है। इसलिए उनमें अधिक क्षमता की आवश्यकता

है निष्ठा के साथ अधिक से अधिक अच्छा लिखने की। गुणवत्ता के द्वारा ही वे अपना मार्ग प्रशस्त कर सकते हैं। साहित्यिक श्रेष्ठता ही उन्हें इस भीड में अपनी पहचान बनाने का विकल्प दे सकती है।

मैं स्थिति से निराश नहीं। मानता हूं कि ये बाधाएं नए लेखक में नई ऊर्जा का संचार करने में सहायक होंगी। जो जुझारु नहीं, वह जीवन में और कुछ बने या न बने, पर लेखक कभी नहीं बन सकता। यह चरम सत्य भूलना नहीं चाहिए कि अंत में जीत अच्छी कृति की ही होती है।

जब तक व्यक्ति श्रेष्ठ नहीं, पुस्तक भी श्रेष्ठ नही हो सकती। लेखक के आतरिक विश्व का ही प्रतिबिंबन तो होता है लेखन। भीतर से बड़ा बने बिना किसी का साहित्य भी बड़ा कैसे हो सकता है? हां, आज जो अनेक लोग जोड़-तोड़ के द्वारा बड़े दीख रहे हैं, वे छाया मात्र हैं। समय के साथ-साथ जिनके अस्तित्वहीन होने मे समय नहीं लगेगा। आज की नई चुनौतियों से नई पीढ़ी को बल मिलेगा और वह अधिक प्रभावशाली ढंग से नए सार्थक साहित्य का सृजन कर एक नए विश्व के निर्माण का सपना साकार करेगी। अभिशाप, अभिशाप ही नही, कभी-कभी वरदान के पर्याय भी बन जाते हैं, यदि हम सतत प्रयत्न करते रहे तो !

कहकर हिमांशुजी कबूतरो को देखने लगे, जो बैठक के बाहर बालकनी मे बैठे हमें टुकुर-टुकर देख रहे थे, गर्दन झटकाते हुए, जिन्हें देखकर अपूर्व चपल हो उठा, उन्हें छूने के लिए बालकनी की ओर तेजी से बढ़ा और दरवाजे से सिर टकरा बैठा। तब तो हिमांशुजी भी चपल हो फुर्ती से उठे और अक मे भर उसका सिर सहलाने लगे। फिर दरवाजा खोलकर उसे बालकनी में ले गए और कबूतर खोजने लगे, जो उड़कर तब तक शायद छत पर जा बैठे थे। फिर भाभी को आवाज देकर कहा कि अपूर्व को अंदर ले जाओ और कबूतर के बच्चे दिखाओ। भाभी आईं और चाय-बिस्किट रखकर अपूर्व को अंदर ले गई। कबूतर के बच्चे देखने को उत्सुक अपूर्व अंदर चला गया, अपूर्व, जो हिमांशुजी का नाम सुनते ही मेरे साथ उनके घर जाने की जिद कर बैठता और जाता तो ढेर सारे लाड़-प्यार के साथ और भी न जाने क्या-क्या झटक लाता काजू-किशमिश से लेकर स्केच पेन के पैकेट तक। और मैं... यह लबी और अतरंग वार्ता मैंने भी तो ऐसे ही झटक ली थी, एक दिन। □

साठोत्तरी कहानी के प्रवक्ता-कथाकार

विजयमोहन सिंह

कहानी में क्यों नहीं है समय का संत्रास

1 जनवरी, 1936 में शाहाबाद (बिहार) में जन्मे डॉ. विजयमोहन सिंह की चर्चा साठोत्तरी कहानीकारों के बीच एक अलग किस्म के कथाकार के रूप में की जाती है। उनके पहले कथा संग्रह 'टट्टू सवार' (1970) के बाद उनका दूसरा सग्रह 'एक बंगला बने न्यारा' (1982) आया तो मैंने साप्ताहिक 'रविवार' में उस पर एक तल्ख टिप्पणी लिखी थी। ऐसी ही तल्ख टिप्पणियां रघुवीर सहाय और सर्वेश्वरदयाल सक्सेना की कहानियों पर कीं तो नाराज होकर उन लोगों ने बोलना तक छोड़ दिया, लेकिन विजयमोहन सिंह ने टिप्पणी का न बुरा माना, न ही प्रतिक्रिया में कुछ ऐसा किया कि मुझे याद रहता। उनका तीसरा संग्रह 'शेरपुर 15 मील' (1995) आया था और फिर आया बहुप्रतीक्षित उपन्यास 'कोई वीरानी-सी वीरानी है'(1998)। चौथा संग्रह 'गमे जिंदगी का हो किससे' तैयार है, लेकिन विजयमोहन सिंह ने एक कथाकार से अलग अपनी दूसरी भी पहचान बनाई है, एक कथा आलोचक की पहचान। 'आज की कहानी' और 'कथा समय' जैसी उनकी आलोचनात्मक कृतियां सुधीजनों के बीच चर्चा का ही विषय नहीं रहीं, वे हिंदी कथा आलोचना की अनिवार्य किताबे भी बन गई हैं। समय--समय पर वे वाराणसी, आरा, दिल्ली, शिमला और भोपाल आदि नगरों में रहते हुए अध्ययन-अध्यापन, लेखन-संपादन एव सयोजन आदि विभिन्न तरह के काम करते रहे। हिंदी अकादमी के सचिव भी बने। फिलहाल दिल्ली मे रहकर स्वतंत्र लेखन।

कानपुर से 1979 में दिल्ली आया तो विजयमोहन सिंह शिमला में थे। शिमला जाकर भी शिमला में उनसे मिलना-बैठना नहीं हुआ। भोपाल में 1985 की एक सक्षिप्त--सी भेंट में हम सिर्फ साथ बैठकर चाय पी सके, क्योंकि तब वे किसी अतर्राष्ट्रीय उत्सव के तनाव और दबाव में थे। भोपाल से जब दिल्ली आए तो कभीकभार 'नवभारत टाइम्स' में उनसे मुलाकातें होने लगीं। उन दिनों विजयमोहन

सिह ने 'नवभारत टाइम्स' के लिए कुछ लेख लिखे थे। एक और विजयमोहन सिह से भी हमारा परिचय हो रहा था, एक गंभीर फिल्म समीक्षक से ... 'नवभारत टाइम्स' उन दिनो बदलना शुरू ही शुरू हुआ था और फिर ... वह परिचय अधूरा ही रह गया। परिचय को थोड़ा ही सही, आगे बढाने के लिए उनसे एक दिन का समय मागा, जो सहज रूप से प्राप्त हो गया। 1995 के उस एक दिन उनसे हमे जो कुछ मिला, आपसे 'शेयर' कर रहे है। बातचीत को लिपिबद्ध करने में गणेशजी की भूमिका नागेद्र सिंह ने निभाई।

आपने जब साहित्य में प्रवेश किया तो अग्रज साहित्यकारों ने आपके साथ कैसा सुलूक किया? तब के और अब के माहौल में क्या फर्क है?

मै आरा में था उन दिनों। दिल्ली आया तो यह जानकर अच्छा लगा कि लोग मुझे जानते हैं। सुखद आश्चर्य भी हुआ, जबकि आरा से आया तो बहुत डरा-सा, घबराया हुआ-सा था, लेकिन दिल्ली में एक वार्म्ड माहौल मिला। लोगो ने स्वागत किया। उस समय मेरी कुछ कहानियां 'नई कहानियां' तथा 'कहानी आदि में छप चुकी थीं। अब मुझे भी लगता है कि वैसा वातावरण अब कहानी के परिदृश्य में कहीं नही है। मेरी नजर में एक बडा फर्क यही आया है। अपने बारे में इतना ही बता सकता हूं कि मैं तब तक अज्ञेय के 'शेखर : एक जीवनी' और जैनेंद्र के कुछ उपन्यास पढ़ चुका था। जैनेंद्र मुझे बहुत पसंद हैं। उनकी भाषा हिंदी साहित्य में एक साफ्ट डिपार्चर (प्रस्थान) थी। अज्ञेय ने उसी को विकसित किया। अगर हिंदी कथा साहित्य को देखें तो अज्ञेय संभव ही नहीं हो सकते थे, अगर जैनेंद्र नहीं होते। हम सब जानते हैं कि अज्ञेय उन दिनों जेल मे थे और वहीं से जैनेंद्र को रचनाएं भेजते थे। सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन को 'अज्ञेय' नाम जैनेंद्र ने ही दिया था। बाद में भी जैनेंद्र को पढ़ते हुए मुझे बहुत अच्छा लगा, विशेष रूप से प्रेम के संदर्भ में। जैनेंद्र ने प्रेमचंद के साथ उनकी छत्रछाया में रहते हुए लिखा, लेकिन दोनों कितने अलग हैं। और प्रेमचंद से अलग जैनेंद्र ने हिंदी को एक नया डिक्शन, एक अलग मुहावरा दिया। अक्सर मै विद्यार्थियों से कहता था कि प्रेमचंद का तो बस नाम ही प्रेमचंद था, लेकिन प्रेम के बारे में उन्होंने वैसा अच्छा नहीं लिखा, जैसा जैनेंद्र ने लिखा। यहां तक कि जैनेंद्र ने प्रेमचंद के बारे में लिखा भी कि यदि 'गोदान' मैं लिखता तो सबसे पहले उसे काट—छांटकर छोटा कर देता। जैनेंद्र ने लिखा कि प्रेम की भाषा वैसी नहीं होती, जैसी 'गोदान' में सिलिया और गोबर की बातचीत में दिखाई गई है। जैनेंद्र की 'जान्हवी' और अज्ञेय की 'रोज' के आगे दूसरे लोग बहुत हल्के लगते थे। 'जान्हवी' प्रेम पर एक फैंटेसी लगती है। इसी तरह अज्ञेय ने भी बहुत-सी प्रेम

कहानिया लिखीं . जयदोल नाम का उनका संग्रह निकला . स्कूल के दिनों मे हम लोगों ने उसे पढा। कल्पना कीजिए, 'पुलिस की सीटी' जैसी कहानी अज्ञेय ने जेल मे लिखी थी। स्कूल से कॉलेज में आ गया था। श्रीपत राय की पत्रिका 'कहानी' पढता था, जहां नामवर सिंह ने पहली बार कहानी पर लिखना शुरू किया था। इसी पत्रिका में उन दिनों कई चर्चित कहानिया छपीं · कमलेश्वर की 'राजा निरबंसिया', राजेंद्र यादव की 'जहां लक्ष्मी कैद है', मोहन राकेश की 'मलवे का मालिक' आदि। इनमें मोहन राकेश मुझे बहुत पंसद थे। बाद में उनकी 'जानवर ओर जानवर', 'मिस पाल','आर्द्रा' तथा 'उसकी रोटी' आदि कहानियां पढ़ीं। मोहन राकेश बहुत अच्छे लेखक के रूप में उभर रहे थे, निरन्तर ग्रो करता हुआ लेखक जबकि राजेंद्र यादव की कहानिया कंट्राइंड और सायास लगती थी, मोहन राकेश की तुलना में। कमलेश्वर में थोड़ा उच्छवास था।

जिन दिनों आपका पहला कहानी संग्रह 'टट्टू सवार' आया, उन दिनो और इन दिनों के अंतर पर कुछ प्रकाश डालेंगे?

पहले तो नहीं, लेकिन अब मैं फर्क जानने की कोशिश कर रहा हूं। 60-70 में जब हम लोग लिख रहे थे तो लगता है कि हम लेखन में बहुत इन्वॉल्व्ड थे। हमारी पूरी जेनरेशन इन्वॉल्व्ड लोगों की थी। आज मैं उसको सब्जेक्टिव होकर देख सकता हूं कि साठोत्तरी पीढ़ी के लोग कितने इन्वॉल्व्ड लेखक थे। कुछ समय बाद मैंने साठ के बाद के लेखकों की कहानियों की पुस्तक संपादित की। उसमें 14 कहानियां चुनीं और एक भूमिका लिखी, जिसमें साठोत्तरी पीढी की विशेषताएं रेखांकित कीं। यह 68 की बात है। उस समय यह मेरा इंडिविजुवल वेंचर (व्यक्तिगत प्रयास) था। काशीनाथ सिंह, महेन्द्र भल्ला, ज्ञानरंजन, दूधनाथ सब हमउम्र थे। कामतानाथ भी थे। उस समय मैं टोटली इन्वॉल्व था। हम सब लोग पूरी तरह सक्रिय थे। उस समय कहानी की दुनिया बहुत ही सरचार्ज्ड (ऊर्जस्वित) थी। हम बहुत ही एजीटेटेड (उत्प्रेरित) फील करते थे, जबकि काशी और दूधनाथ के अलावा मैं किसी से मिला नहीं था। कई कहानीकारों को बस नाम से जानता था। कई तो अब इस दुनिया में नहीं हैं। अशोक सेक्सरिया कलकत्ता में और रवींद्र कालिया दिल्ली में थे, जिनसे मैं नहीं मिला था। मैं आरा मे था और वहीं कथा समारोह में कमलेश्वर आए थे और 'सारिका' के संपादक होनेवाले थे। इस रूप में देखें तो वह पूरा का पूरा दौर कहानी केंद्रित दौर था। 'नई कहानियां', 'कहानी' और 'ज्ञानोदय' जैसी पत्रिकाएं निकलती थीं। पहले शरद देवड़ा, बाद में रमेश बक्षी 'ज्ञानोदय' के संपादक बने। वहीं कलकत्ता मे कथा समारोह हुआ। दिलचस्प बात यह थी कि हिंदी की बहुत सारी पत्रिकाए

अहिंदीभाषी राज्यों से निकल रही थी। केरल से 'युग प्रभात', जिसमें मेरी कहानी 1956 में छपी, पूना से 'राष्ट्रवाणी', कलकत्ता से 'ज्ञानोदय' और हैदराबाद से 'कल्पना' आदि। और ऐसा था कि इन पत्रिकाओं में छपने से आप रिकग्नाइज्ड माने जाते थे। इनमें छपनेवाला लेखक अपने को मुख्यधारा में पाता था। मुझे याद है कि 1960 में 'ज्ञानोदय' में जब मेरी कहानी छपी, तब मैं आरा में था।

'नई कहानी' और उसके लेखकों को आपने कैसा पाया?

'नई कहानी' की बात करें तो इसमें मोहन राकेश, कमलेश्वर, राजेंद्र यादव का कोई खास योगदान नहीं है। उनका कोई खास मूवमेंट नहीं है। जैसे राजेंद्र यादव ने एक कहानी लिखी है 'जहां लक्ष्मी कैद है', वह जैनेंद्र की कहानी 'जान्हवी' से कहां भिन्न है। जैनेंद्र के यहां एक लड़की विक्षिप्त हो जाती है, वह रोते-रोते कहती है : " कौओ आओ, कौओ आओ।" कौओं से वह घिर जाती है। फिर लडकी कहती है : "कागा सब तन खाइयो ... दो नैना मत खाइयो" आदि। जैनेंद्र ने ऐसे सटीक ढंग से कहानी बुनी कि आज आश्चर्य होता है। 'जहां लक्ष्मी कैद है' शीर्षक भी कैद की बात करता है। यह कहानी जैनेंद्र की तुलना में कंट्राइव्ड है छायावादी भावुकता और भाषा 'नये कहानीकारों' मे प्रायः दिखाई देती है। ज्यो के त्यों छायावादियो जैसे शीर्षक भी मिलते हैं जैसे मोहन राकेश की कहानी 'आर्द्रा'।

उस दौर में आप किन कथाकारों को उल्लेखनीय मानते हैं?

उस समय के ऐतिहासिक परिदृश्य मे फणीश्वरनाथ रेणु की कहानिया आई। ठुमरी, पंचलाइट, तीसरी कसम आदि, जो नई कहानियों के परिदृश्य का अतिक्रमण करती हैं। और फिर निर्मल वर्मा की कहानियां 'परिंदे', 'लंदन की रात' आदि भी तथाकथित आधुनिकताबोध वाली कहानियों को पीछे छोड़ देती हैं। एक तरफ रेणु अपनी परंपरा, अपनी मिट्टी, अपनी धरती और अपनी जमीन से गहराई से जुडी श्रेष्ठ कहानियां लाते हैं तो दूसरी तरफ निर्मल वर्मा आधुनिकतावादी कहानियों के माहौल में सर्वोत्तम आधुनिकता और आधुनिकता बोध वाली कहानिया लेकर आ गए। इस तरह रेणु की परंपरा और जमीन तथा निर्मल की आधुनिकता बोध की कहानियों के बीच नए कहानीकार सैंडविच की तरह दब गए। रेणु और निर्मल के आगमन से 'नई कहानी' वाले लोग कहानीकार के रूप में अनावश्यक होने लगे। मोहन राकेश का 'एक ठहरा हुआ चाकू' जैसी कहानी लिखना इस बात का सुबूत है कि कहानीकार के रूप में वे चुक गए थे।

चुक गए थे, इसलिए मोहन राकेश तो नाटक की ओर चले गए, बाकी लोग चुप्पी मारकर बैठ गए?

एकदम ठीक बात कही तुमने। अच्छा ही हुआ। मोहन राकेश को संगीत नाटक अकादमी का एवार्ड मिला था। मुझे याद है कि हजारीप्रसाद द्विवेदी के पास निर्णय के लिए 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक आया था, कालिदास के प्रेम की थीम पर लिखा हुआ। वह किताब द्विवेदीजी ने नामवर सिंह को दी कि देखो कैसी है, तुम्हारी पीढ़ी का कथाकार इसका लेखक है। हम लोगों ने भी उस नाटक को देखा। भाषा संस्कृत की थी। सही रूप में देखें तो राकेश के इस नाटक के साथ हिंदी नाटक की दुनिया में महत्वपूर्ण बदलाव आया। उस समय दूसरी भाषाओं मे भी नाटक एक परिवर्तन लेकर आया। गिरीश कर्नाड के नाटकों और बादल सरकार के नाटक 'पगला घोड़ा' आदि से रंगमच का रिवाइवल-सा हुआ। ऐसी ही घटना कहानी की आलोचना मे हुई। नामवर सिंह ने कहानी पर किताब लिखने के बाद कहानी पर लिखना ही बंद कर दिया। यह सन् 64 की बात है। मतलब स्वयं नामवर सिंह भी कहानी आलोचना का मैदान छोड़कर 'नई कविता पर लिखने लगे। कविता की तरफ चले गए, जैसे मोहन राकेश नाटक की तरफ चले गए थे। मुझे लगता है कि राजेंद्र यादव के न लिखने के पीछे भी यही कारण रहा होगा। आपने देखा होगा कि एक तरफ तो रेणु इतना जमे हुए थे और दूसरी तरफ निर्मल वर्मा छा गए थे। दोनों ने दूसरे नए कहानीकारों को अनफिट कर दिया तो उन्होने लिखना ही बंद कर दिया : 'न हुआ, मीर का अंदाज नसीब। फणीश्वरनाथ रेणु के आने से शिवप्रसाद सिंह भी क्षीण हो गए, 'कर्मनाशा की हार' जैसी कई अच्छी कहानियां लिखने के बावजूद वे रेणु के स्तर तक नहीं पहुच सके, जबकि रेणु की कहानिया तथा 'मैला आंचल' और 'परती परिकथा' जैसे उपन्यास धड़ाधड आ रहे थे, एक भिन्न तरह की ताजगीभरी भाषा में। एक बार बनारस में मैं, केदारजी आदि कई लोग थे तो हमने शिवप्रसाद सिंह से पूछा कि इसका कारण क्या है? तब शिवप्रसाद सिंह ने कहा था कि रेणु तो कहानी की खान में पहुंच गया है। मतलब कि शिवप्रसाद सिंह और मार्कण्डेय अर्से से शहर मे रहते हुए गांव की कहानियां लिख रहे थे और गांव में आ रहे परिवर्तनों और भाषा को पकड़ नहीं पा रहे थे, जबकि रेणु तो प्रायः गांव में ही रहते थे और पटना भी कभी-कभी ही आते थे। आगे चलकर इन लोगों ने बहुत हाथ-पांव मारे, पर रेणु को नहीं छू सके। कमलेश्वर ने भी महानगर तथा कस्बे आदि सब तरह की कहानियां नारो के साथ लिखीं, पर बात बनी नहीं। मेरी नजर में जैसे जैनेंद्र ने हिंदी कहानी को एक नया 'डिक्शन' दिया, उसी तरह अपने समय में निर्मल वर्मा ने हिंदी कहानी को एक नया डिक्शन दिया। फिर नामवर सिंह ने निर्मल पर लिखा 'हंस' में, जब उनका सग्रह 'परिंदे' छपा। मैंने उसे पढ़ा। उसी में केदारजी

की एक कविता छपी। नागार्जुन का एक नाटक छपा। कृष्णा सोबती की 'डार से बिछुड़ी' उसी में छपी। उस समय 'हंस' का वह विशेषाक चर्चा का विषय बना। उस समय बनारस में नामवर सिंह हमारे यंग शिक्षक थे। मैं बिरला हॉस्टल मे रहता था। केदारजी गुर्टू हॉस्टल में थे। हम लोग नामवर सिंह के साथ निर्मल वर्मा और दूसरों की नई कहानियो की चर्चा करते। नई कहानी के लोग उस समय जैनेंद्र के बरक्स अपने आपको स्थापित कर रहे थे। निर्मल वर्मा पर भी विदेशी वातावरण और साहित्य का प्रभाव आरोपित किया जा रहा था। मैंने बनारस में ही 'पिक्चर पोस्टकार्ड', 'लंदन की एक रात' और 'माया दर्पण' जैसी उनकी बहुचर्चित कहानियां पढ़ीं तो अचानक हम लोगों का ध्यान उन पर केंद्रित हो गया। नामवर सिंह ने निर्मल की 'परिंदे' को पहली 'नई कहानी' घोषित किया। तो जब तक कोई कहानीकार एक 'डिक्शन' नहीं गढ़ता, तब तक वह कुछ नया नहीं दे पाता। जब मैं जैनेंद्र की ओर आकर्षित हुआ था तो उन्होंने भी एक खास तरह का बिम्ब, चित्रात्मकता और विचार दिया था। नामवर सिंह ने भी निर्मल वर्मा की बिम्बात्मक चित्रात्मकता और संगीतात्मक भाषा को रेखांकित किया था। तब निर्मल वर्मा के बारे मे लोग कहते थे कि उनके यहा संगीत और बिम्बवाली भाषा विदेशी नकल है, जहां बीयर की बोतलें हैं, बर्फ और विदेशी संगीत है, 'जलती झाड़ी' है। इसी नाम की कहानी और 'लंदन की रात' का लोग हवाला देते हुए कहते कि निर्मल वर्मा हमारी परंपरा के लेखक नहीं हैं।

आंचलिक कहानी आंदोलन को आप किस रूप में लेते हैं?

सौभाग्य और दुर्भाग्य से उसी समय आंचलिक कहानी का दौर आ गया। रेणु के साथ भारतीय परंपरा की आंचलिक कहानियां स्थापित हो गई। रेणु ने हिंदी कहानी को एक नया 'डिक्शन' दिया। रेणु और निर्मल वर्मा के बीच इन लोगों (मोहन राकेश, राजेंद्र यादव, कमलेश्वर, मार्कण्डेय और शिवप्रसाद सिंह) का आलोक धूमिल पड़ गया। ऐतिहासिक विडंबना कहिए या परिस्थिति का व्यंग्य रेणु और निर्मल का अन्य कहानीकारों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। फिर बचाव मे एक त्रयी बन गई : मोहन राकेश, राजेंद्र यादव और कमलेश्वर, पर सबको लगा कि रेणु ही परंपरा (ग्रामीण) की असली खान है और जिसे आधुनिकता कहते है उसकी खान निर्मल वर्मा हैं। 1969 में एक पेपर लिखा तो रेणु के योगदान के बारे में ख्याल आया। रेणु गांव मे ही थे, पटना आते-जाते रहते थे। शिवप्रसाद सिंह और मार्कण्डेय आदि शहर में रहकर गांव के बचपन की स्मृतियां कुरेद-कुरेद कर अतीत में जाकर लिखते थे। रेणु ने गाव मे रहकर मौजूदा परिस्थितियों को लिखा, जिसमें आजादी के बाद का गांव था। मार्कण्डेय आदि गांव की कथा के

नाम पर जो लिख रहे थे, उसमें मात खा गए ये शहरी ग्राम कथाकार। जो आधुनिकताबोध की कहानियां लिख रहे थे, वहा निर्मल वर्मा अच्छी कहानिया लेकर आए। कमलेश्वर कहानी में असफल होकर संपादक हो गए। राजेंद्र यादव ने दिल्ली आकर 'अक्षर प्रकाशन' खोल लिया। इनमें सबसे अकेले पड़ गए मार्कण्डेय (इलाहाबाद में) और शिवप्रसाद सिंह (बनारस में), जबकि इलाहाबाद मे ही मार्कण्डेय से बेहतर लेखक थे: शेखर जोशी और अमरकांत। तब मेनस्ट्रीम (मुख्यधारा) में इनकी स्थिति बड़ी प्रिकारियस हो गई तो ये निःशेष और शात हो गए या दूसरे धंधों की तरफ चले गए। नई कहानी का नारा समाप्त होने लगा। कहीं न कहीं धर्मवीर भारती की कहानी 'बंद गली का आखिरी मकान' नई कहानी की संकरी गली के बंद होने का प्रतीक लगती है।

जैनेंद्र और अज्ञेय में आपको कौन ज्यादा महत्वपूर्ण लगता है?

पिछले दिनों मैंने 'त्यागपत्र' और 'शेखर : एक जीवनी' को फिर पढ़ा तो मेरे सामने बड़ा संकट आया। को बड छोट कहत अपराधू। एक समय तो अध्यापकीय आलोचना इस बात पर केंद्रित हो गई थी कि 'त्यागपत्र' को उपन्यास मानें या नहीं। अज्ञेय और जैनेंद्र दोनों ने ही पीड़ा, दुःख और अकेलेपन का चित्रण किया है। 'शेखर : एक जीवनी' तो शुरू ही होता है घनीभूत पीड़ा के संदर्भ से, पर मेरी राय मे ज्यादा घनीभूत प्रभाव 'त्यागपत्र' का पड़ता है, अज्ञेय के लंबे उपन्यास का नही। इसीलिए 'शेखर : एक जीवनी' का दूसरा भाग बिखर गया। अज्ञेय की उपन्यास कला में ढलान आ रहा था। 'शेखर' का तीसरा भाग लिखने की हिम्मत ही नहीं हुई।

आपने लिखना कब और किन लोगों के साथ शुरू किया? कहानी आलोचना की ओर क्यों और कैसे मुड़ गए?

सन् 55 के आस-पास लिखना शुरू किया। मेरी पहली कहानी 56 में छपी 59 में काशी की छपी। ज्ञानरजन, रवींद्र कालिया, दूधनाथ सिंह आदि सभी ने लगभग इसी समय लिखना शुरू किया। उसी समय 'नयी कहानियां' में कमलेश्वर राजेंद्र यादव के साथ महेन्द्र भल्ला, रवींद्र कालिया तथा सुदर्शन चोपड़ा आदि की कहानियां देखीं। मैंने देखा कि ये लोग डिफरेंट किस्म की कहानियां लिख रहे हैं। ये कहानियां 'कहानी' तथा 'नई कहानियां' में छप रही थीं, पर वहीं छपी पुराने लोगों की कहानियों से अलग थीं। मैं देखने को विवश हुआ कि ये कहानिया क्यो और कैसे डिफरेंट हैं। इसी विवशता के चलते मैंने '60 के बाद की कहानिया सपादित कीं। अब लगता है कि यह काम मुझे करना नहीं चाहिए था। मक्खन की तरह समूची कहानियों से इन्हें निकाल लिया, लेकिन साहित्य के मूल्यांकन में इस

तरह का सर्वोत्तम सेलेक्शन एक गलत इतिहास और दृष्टि पैदा करता है फिर मै शिमला चला गया था। बीच में दिल्ली आया तो सुरेश शर्मा ने टीवी पर इंटरव्यू किया। यह 78 की बात है। मैं पहले से गाइडेड या एलर्ट नहीं था। सुरेश शर्मा ने बेलाग होकर पूछा कि ये 60 के बाद की कहानियां चुक क्यों गईं? प्रश्न सुनकर मैं चौंका। इस तरह के प्रश्न की उम्मीद नहीं थी। मैंने सोचा कि यह तो कड़वा सच है। काशी को छोड़कर कौन लिख रहा है। दूधनाथ, रवींद्र कालिया, ज्ञानरंजन, महेन्द्र भल्ला आदि क्या लिख रहे हैं? और उन्होंने यह भी पूछा कि खुद आप क्या लिख रहे हैं? लेकिन मैं 60 के बाद के कथाकारों को चुका हुआ नहीं मानता। ऐसा कह सकते हैं कि हमने रास्ते बदल लिये। मैंने कहा कि मैं आलोचना में सक्रिय हूं। काशी पुरअसर कहानियां लिख ही रहे हैं। हालांकि मैं जानता था कि मेरा जवाब बचाव का रास्ता भर है, लेकिन सवाल तो ठीक ही था। उस समय मेरा आदर्श हेमिंग्वे थे। 'कहानी नई कहानी' में नामवर सिह ने प्रशंसा की थी। 'किलर्स' कहानी का हवाला दिया था। चेखव हमारे आदर्श नहीं थे। हेमिंग्वे के यहां सीधा, साफ, निरलंकृत गद्य है। स्नोज लाइक व्हाइट एलीफैंट, कैट इन द रेन आदि कई कहानियों का मैंने अनुवाद किया था। हम रेसिप्रोकल थे। इस दृष्टि और धारणा ने मुझे उत्साहित किया कि मैं 60 के बाद की कहानियों को रेखांकित करूं। एक बदली हुई सामाजिक दृष्टि जैसे दूधनाथ की 'रीछ' और 'रक्तपात', ज्ञानरंजन की 'पिता', 'संबंध', 'घंटा', 'बहिर्गमन' तथा कालिया की 'नौ साल छोटी पत्नी' आदि में है। खासतौर से ज्ञानरंजन की 'सबंध' कहानी को देखें कि वहां संबंध कैसे बदल गए हैं। संबंध टूट गए थे। हमारे दौर के लेखक 'फेंस के इधर और उधर' दोनों ओर तटस्थ होकर देख सकते थे। बहुत बेबाक होकर एक ठंडी तटस्थता के साथ दूधनाथ और रवींद्र कालिया ने इंटरकोर्स का भी वर्णन किया। एक निस्पृह अलगाव। हम लोगो ने छायावादी भावुकता के आंचल को उलट दिया था। 'नई कहानी' में छायावादी भावुकता और रोमानियत थी।

'नई कहानियां' के तत्कालीन अंक (सन् 70-75) को देखने से पता चलता है कि आपकी पीढ़ी के रवींद्र कालिया, ज्ञानरंजन, दूधनाथ सिंह आदि का परिचय कमलेश्वर ने 'नई कहानी के हस्ताक्षर' के रूप में ही दिया था। साथ में साठ के बाद के इन कहानीकारों का वक्तव्य भी था, जबकि आपकी राय में ये लोग नई कहानी की रोमानियत से एकदम अलग थे। तो 'नई कहानी' और 'साठोत्तरी कहानी' में फर्क कहां है?

जब हम अपनी विधा (कहानी, कविता या उपन्यास) से बाहर जाकर बड़ी-बडी

घोषणाएं करते है तो उसका प्रभाव रचना पर भी पड़ता है, रही कमलेश्वर की बात, तो इनमें सबसे ज्यादा बडबोलापन कमलेश्वर में ही था, राजेंद्र यादव में भी, मोहन राकेश में थोड़ा कम था। जिसमें जितना ज्यादा बड़बोलापन था, उसकी रचनाएं उतनी ही छिछली थीं। कमलेश्वर बहुत आर्टीकुलेट थे, बहुत ज्यादा बोलनेवाले। लगातार सिद्धांत गढ़ने में विश्वास रखनेवाले। 'नई कहानियां' के संपादक बने तो नया गिरोह बनाया। इसी क्रम में ज्ञानरंजन, रवींद्र कालिया, दूधनाथ आदि को 'नई कहानी' का हस्ताक्षर घोषित कर दिया। जैसे समांतर आंदोलन के दिनो मे मधुकर सिंह, दामोदर सदन, इब्राहीम शरीफ, जितेंद्र भाटिया आदि की बडी चर्चा होने लगी थी, लेकिन आज इनके बारे में कौन गंभीरता से बात करता है। कमलेश्वर को बहुत पहले से, खासतौर से 'नई कहानियां' का सपादक बनते ही गुरूर हो गया था कि फलां–फलां तो लेखक ही नहीं थे। इनको तो मैंने कहानीकार बनाया। ये मेरे माध्यम से लेखक बने। काशीनाथ सिंह ने 'हंस' में आरा कथा सम्मेलन की चर्चा में भी उल्लेख किया था। 'हंस' में प्रेमचंद के माध्यम से जैनेंद्र आए, लेकिन प्रेमचंद ने कभी दंभ और आग्रह से नहीं कहा कि हमारे माध्यम से आप आए, लेकिन आरा में मेरे सामने कमलेश्वर ने चिल्ला-चिल्लाकर यही क्लेम किया था। यह गलत है। रवीद्र कालिया तो रोने लगा। वह तो बहुत ही शर्मीला चुपचाप लिखनेवाला, बहुत ही सेंसिटिव, मामूली-मामूली-सी चीजों पर लिखनेवाला लेखक है। ऑफिस का माहौल, बॉस के बारे में, नौ साल छोटी पत्नी के बारे मे। उसके यहां एक नयी भाषा, एक नया लहजा था, लेकिन उसके खिलाफ जानबूझकर कमलेश्वर ने यह किया था। 'नई कहानियां' में जो वक्तव्य की बात आपने कही तो एक अच्छी बात उस समय यह थी कि ये लेखक कुछ नया कर रहे थे, लेकिन इस बारे में ज्ञानरंजन या रवींद्र कालिया आदि कांशस नहीं थे, लेकिन योजना के तहत इनसे वक्तव्य दिलाए जाने लगे। जब ये जुमले आने लगे तो इन्हें 'नई कहानी' के जुमलों से देखा जाने लगा। मेरा कहना भी यही है बल्कि आग्रह है कि इन जुमलों और वक्तव्यों के नीचे साठ के बाद के लेखकों को देखने-समझने की कोशिश नहीं करनी चाहिए। इनकी कहानियां देखनी चाहिए। शमशेर की कविता 'बात बोलेगी, हम नहीं' की तर्ज पर कहानियों को बोलने दें, वक्तव्यों पर ध्यान न दें। इन कहानियों को 'नई कहानी' से अलग करते हुए व्याख्या करना जरूरी हो गया था। मेरी हालत यह हो गई कि कहीं न कहीं साठोत्तरी पीढी का प्रवक्ता बन गया था। मैंने देखा कि 'नई कहानी' के लोग सम्बन्धों को लेकर बहुत हद तक भावुक थे, एक आसक्ति रखते थे, जबकि सन् 60 के बाद की कहानियों में कोई आसक्ति नहीं थी। जैसे मोहन राकेश की

कहानी अपरिचित और की यात्रा ट्रेन मे जाते हुए राकेश की कहानी 'अपरिचित' में भावुकता और आसक्ति है, पर ज्ञानरंजन की 'यात्रा' मे स्थिति एकदम कोल्ड है। नायक मां की मृत्यु की सूचना पाकर घर जा रहा है। आराम से खा-पी रहा है। कोई अवसाद या दुःख नहीं है। एक तटस्थ, भावुकताहीन निर्विकार-सी दृष्टि है साठ के बाद की कहानियों में। लगता है कि ये लोग भावविह्लता से ऊपर उठ गए हैं। यह उनकी कमजोरियां या सीमाएं भी हो सकती हैं, यह बात भी मैंने स्पष्ट की थी। उस समय 'नई कहानियां' का प्रेम कहानियों का विशेषांक आया था। देवीशंकर अवस्थी ने एक लेख लिखा था कि आज के कहानीकार पुंसत्वहीन कथाकार हैं। स्त्री या सौंदर्य को देखकर इनके भीतर कोई उत्तेजना नहीं होती, जैसे 'रक्तपात', जिसमें पात्र ठण्डा पड़ा है बिल्कुल निर्वीर्य। मैंने कहा कि यही तो इनकी विशेषता है कि ये अपने संबंधो को तटस्थ और ठण्डे ढंग से देख सकते हैं। ये तो पत्नी और प्रेमिका को लेकर भी कहते हैं कि जहां प्रेम को 'नई कहानी' के लेखक इतना गौरवान्वित करते हैं, वहा प्रेम है ही कहां। तो वहां है डिटैच्ड होकर देखने की एक निस्संगता, जिसमे वे पत्नी, प्रेमिका, बॉस या पिता के संबंधों को देखते हैं। जैसे रवींद्र कालिया की कहानियों में 'बॉस' को लेकर कोई अपराधबोध नहीं है, जबकि कमलेश्वर की खोई हुई दिशाएं' में यह मौजूद है। जैसे काशीनाथ सिह की कहानी 'सुख' है आखिरी रात' है। मैंने 'आखिरी रात' का विश्लेषण किया था कि उसमे सुहाग रात गायब है। सारी रात प्रेम प्रसंग कहीं नहीं होता। बाद में खुद काशीनाथ सिह की कहानियों में बहुत मोड आए। अब तक आते जा रहे है। नई कहानी से अलग ज्ञानरंजन की 'घंटा' तथा 'बहिर्गमन' स्लैंग्स में लिखी कहानियां हैं।

उस समय किसी विचारधारा से भी आपका जुडाव हुआ क्या? बनारस के दिनों में आप नामवर सिंह के साथ थे। कहानी के लिए किसी विचारधारा से जुड़ना जरूरी है क्या? सन् 68-69 में नक्सलाइट मूवमेंट का प्रभाव बनारस के कुछ लेखकों पर पड़ा, धूमिल और काशीनाथ सिंह तो बाकायदा इस राजनीतिक चेतना से काफी समय तक जुड़े रहे। राजनीतिक विचारधारा का सीधा उपयोग कहानी को शक्ति देता है या कमजोर करता है?

साठ के बाद के कहानीकारों पर यह आरोप नहीं लगाया जा सकता। जितने कहानीकार थे, इन्क्लूडिंग माइसेल्फ, उनका संबंध किसी राजनीतिक विचारधारा से नहीं था। 67-68 मे काशीनाथ सिंह पहले आदमी थे, जो नक्सलाइट विचारधारा से जुडे और कहानियां लिखीं। बाद में ज्ञानरंजन भी मार्क्सवादी विचारधारा से जुड

गए उस समय भारत ही नहीं सारे विश्व मे एक युवा आदोलन चल रहा था फ्रास के छात्र आंदोलन में ज्यां पाल सार्त्रे थे। यहां भी हिंदी भाषा का आंदोलन था जिसमें प्रमुख भूमिका युवा वर्ग की थी। यहां लोहिया की विचारधारा का प्रभाव था। उस समय मैं बनारस में मौजूद था और देखता था कि अंग्रेजी की नेमप्लेटे उखाड़ी जा रही हैं और हिंदी की लगाई जा रही हैं। वह युवा आक्रोश का समय था। व्यवस्था पर अटैक किया जा रहा था। इसके पीछे निश्चित रूप से युवा आक्रोश और लोहिया की समाजवादी विचारधारा थी। मैंने उस समय धूमिल की एक कविता का शीर्षक लेकर 'मुनासिब कार्रवाई' लेख लिखा तो मेरे ऊपर अटैक भी हुआ। धूमिल गुस्से में था। धूमिल पर लोहिया का असर था, जबकि वह युवा आक्रोश से प्रभावित था। रघुवीर सहाय, श्रीकात वर्मा आदि सभी लोहिया की विचारधारा से प्रभावित थे, लेकिन यहां मैं कहना यह चाहता हूं कि मैंने कहानियो की जो बंचिंग की, अपने समय की चुनी हुई कहानियों को अलग किया, उससे नुकसान क्या हुआ? उस बंचिंग में कौन लोग थे? काशी थे, बनारस में, दूधनाथ, रवींद्र कालिया इलाहाबाद में, महेन्द्र भल्ला दिल्ली में, विजय चौहान, प्रबोध कुमार सागर में थे। अशोक वाजपेयी की पीढ़ी में नामवर सिंह ने सागर में साहित्य चेतना पैदा की थी, जिसमें अशोक, विजय चौहान (लोहियाइट) आदि थे। प्रबोध कुमार (एन्थ्रापोलाजिस्ट) ने 'डाइनासोर का दिमाग' जैसी कहानी लिखी। 'आखेट' कहानी को मैंने विश्लेषित किया था, जिसमें एक लड़का है, जो अपनी परचून की दुकान पर बैठा रहता है। वहां एक लड़की आती है, वही उसका आखेट है, बिल्कुल बगुले की तरह। कहीं रोमानियत, लाग-लपेट नहीं है। उसे बस लड़की पटाना है। बहुत ही निस्संग, निर्विकार ढंग से वह आखेट कर रहा था। साठ के बाद की कहानियों में इसीलिए इस कहानी की मैंने व्याख्या की थी।

और आपके समय में ही जिन कथाकारों ने राजनीतिक चेतना की कहानियां लिखीं, उनके बारे में क्या सोचते हैं?

राजनीतिक चेतना की कहानियों को अब कोई याद नहीं करता। वे तात्कालिक प्रभाव रखती हैं। अब कहां गईं काशीनाथ सिंह की 'मुसई चा', 'सुधीर घोषाल' जैसी कहानियां? अब भी काशी की 'सुख', 'चायघर में मृत्यु', 'संकट' और 'आखिरी रात' आदि कहानियों को याद किया जाता है। अभी दिल्ली में ही एक दिन मैं यह बात किसी से कह रहा था। इधर मैं शिमला के अनुभवों की कहानी लिख रहा था तो किसी ने कहा कि इसमें मार्क्स कहां आया? अपनी पीढ़ी मे सबसे अधिक विचारधाराओं का अध्ययन किया है मैंने, मार्क्सवाद को गंभीरता से पढा, पर कहानियां लिखते वक्त वह सीधा-सीधा नहीं आया। वह हमारी संवेदना

और भावबोध का हिस्सा बनकर आया जिन लोगो ने विचारधारा को जबरदस्ती लाने की कोशिश की, उनकी कहानियां अब कहीं चर्चा में दिखाई नहीं देतीं।

सन् 1980 तक कहानियों की चर्चा होती थी। लेखकों में संवाद था, लेकिन अस्सी के बाद एक आपाधापी का माहौल आया। लेखकों के ग्रुप बन गए और आपस में उनके बीच साहित्य चर्चा बंद हो गई। आप इस स्थिति के बारे में क्या सोचते हैं?

मुझे तो लगता है कि अब हरेक लेखक-आलोचक के अपने-अपने रचनाकार-आलोचक हो गए हैं। पिछले दिनों मैने इस पर सोचा और इस स्थिति पर व्यग्य भी लिखा। अब किसी से मिलने जाने से पहले हमें पता करना होता है कि अमुक के सामने किस लेखक का नाम लें। यह बहुत ही फनी (हास्यास्पद) है। यहा तक कि अपनी-अपनी पसंद की किताबें हो गई हैं। अपने-अपने लेखक हो गए है। नए-पुराने सभी में यह प्रवृत्ति बढ़ी है। मुझसे लोग कहते हैं कि आज के लोगों पर आप आलोचना क्यों नहीं लिखते? जब पहले के लोगों पर लिखा तो आज जो अच्छा लिखा जा रहा है, उस पर क्यों नहीं लिखते? मुझे इसमें बड़ा जोखिम नजर आता है। इधर लेखकों में असहिष्णुता बढ़ी है। कोई मीन-मेख निकालें, कमजोरी बताए तो नाराज हो जाते हैं। उसे रचना की बजाय व्यक्तिगत तौर पर लेने लगते हैं।

आप रचना और आलोचना दोनों में सक्रिय रहे हैं। रचना से जब आलोचना में जाते हैं तो रचना पर क्या प्रभाव पड़ता है?

यदि मैं आलोचना में न जाता तो और भी कहानियां लिखी होतीं। मुझे इसका नुकसान हुआ। यदि सन् 59 से देखें तो हम दूसरों की कमजोरियों को पकड़ लेते हैं कि इसमें सेंस ऑफ एंड नहीं है, नैरेशन कैसा है, कितना तक वर्णन करना चाहिए आदि। जब आप खुद कहानी लिखते हैं तो एक डॉक्टर की तरह खुद कांशस हो जाते हैं। आलोचक होने के नाते आप खुद अपनी कहानियों के भी आलोचक हो जाते हैं। ऐसा नहीं है कि इस बीच मैंने कहानियां नहीं लिखी। सैकड़ों कहानियाँ लिखीं। कुछ अधूरी हैं, कुछ पूरी, कुछ पिछले दिनों छपीं, कुछ छपेगी आगे। कहीं कुछ छूटा है, कहीं कुछ, कहीं मैं अच्छा एंड नहीं कर पाया। इसीलिए काफी दिनों तक मेरा उपन्यास आधा-अधूरा पड़ा रहा, जो अब जाकर छपा है। मैं मानता हूं कि ज्ञान और चिंतन रचना में सहायक होता है। टी.एस इलियट, जिसने कितने महत्वपूर्ण लेख लिखे और 'वेस्ट लैंड' जैसी कविता भी लिखी। तोल्स्तोय बहुत बड़े थिंकर थे, 'अन्ना कैरेनिना' भी लिखा। हमारे यहा भी श्रीहर्ष, भर्तृहरि, राजशेखर आदि शास्त्रकारों ने महत्वपूर्ण काव्य भी लिखा है।

आप दिल्ली के बाद शिमला गए एक लेखक के रूप मे शिमला प्रवास कैसा रहा?

शिमला में मैंने देखा कि वहां एक रॉ मैटीरियल था, जो मेरे विद्यार्थी थे। उनको पता नहीं था कि बाहर साहित्य में क्या हो रहा है। तमाम नए कहानीकार उनके लिए लगभग अपरिचित थे। छात्रों में कुछ वक्त–बेवक्त मेरे घर पहुंचते थे। कभी-कभी मुझे बड़ा अजीब-सा लगता था। वे बहस में रिएक्ट भी करते थे। उनमे कुमार कृष्ण वगैरह तो अब जाने-पहचाने लेखक हो गए हैं। यूनिवर्सिटी के कोर्स में मैंने निर्मल वर्मा, मोहन राकेश, धर्मवीर भारती, केदारनाथ सिह, धूमिल आदि को रखवाया। उनको बड़ा अजूबा लगता था कि नामवर सिंह, केदारनाथ सिंह मेरे यहां आते है, निर्मल वर्मा आते हैं। धीरे–धीरे वहां के छात्र नए साहित्य से परिचित होने लगे, जबकि पहले ऐसा नही था। मैं खुद लिखता था, यह बात लोग नहीं जानते थे। जब उनको निर्मल वर्मा, मोहन राकेश के बारे में नहीं पता था तो मेरे बारे में क्या होता।

82 में 'एक बंगला बने न्यारा' आया, 'टट्टू सवार' के लगभग 12 साल बाद। इस पर बहुत आरोप भी लगे। काशीनाथ सिंह ने भी इन्हें सामंती मोह की कहानियां कहा। मैंने भी 'रविवार' में उस पर तल्ख टिप्पणी लिखी। यह सब उस समय आपको कैसा लगा?

'एक बंगला बने न्यारा' कहानी सन् 78 में छपी, लेकिन इसके पहले शानी ने शिमला चिट्ठी लिखी। विष्णु खरे ने भी लिखा कि इस बार आप साहित्य अकादमी में कोई कहानी पढ़ेंगे। वहां पढकर कहानी छापने के लिए शानी को दे दी। उसी साल मई के आस-पास काशीनाथ सिंह का पत्र आया कि सपरिवार आ रहा हूं। काशी मेरे घर ठहरे। मैंने कहानी सुनाई और कहा कि इस कहानी में एक डिपार्चर लग रहा है। काशी ने सुना। कहानी में एक नया मुहावरा, डिक्शन था। एक सरचार्ज्ड व्यंग्यात्मक एहसास था : गांव में वह एक घर बनाने के लिए जाता है। सारा पैसा शराब और खाने–पीने में लुटा देता है और हारकर लौटता है तो सिर्फ एक कमोड लेकर। काशी कहानी के इस व्यंग्य को नहीं पकड़ सके। पकड़ा तो यह कि यह सामंती मोह के टूटने का दर्द है, जबकि यह व्यंग्यात्मक कहानी है। यह तो सामंती मोह के विध्वंस की कहानी है। काशी को जानना चाहिए कि किसी चीज के प्रति शुद्ध घृणा के साथ कहानी नहीं लिख सकते। कहानी में एक पैथॉस, टूटने का दर्द आना ही चाहिए, जैसे तोल्स्तोय की 'अन्ना कैरेनिना' में एक अद्भुत ऊर्जा के साथ स्थिति को खोला गया है, उसमें 'पैथॉस' है, अन्ना तो अन्त मे आत्महत्या ही कर लेती है। इधर बालजॉक का एक नावेल पढ़ा। 'ए पेयर ऑफ गोल्डेन आइज', एक बेहद खूबसूरत लड़की की कहानी। एक आया उसके साथ

हमेशा' जाती है बाजार या पार्क मे बाद मे उसे घर मे बद कर दती है एक आदमी हमेशा उसकी झलक पाने के लिए पीछा करता है। एक दिन मिल जाने पर शादी की बात करता है, लेकिन लड़की कहती है कि इससे तुम खतरे में पड जाओगे। लड़की हमेशा इतनी गाइडेड, इतनी अंडर प्रोटेक्शन में रहती है कि वहा खुली हवा की गुंजाइश ही नहीं है। वह आत्महत्या कर लेती है। बालजॉक ने घर का चित्रण एक जेल की तरह किया है। इस एक छोटी-सी कहानी द्वारा फ्रांस के घुटन भरे माहौल का चित्रण किया गया है। एक पैथॉस की कहानी है। अगर यो देखा जाए तो 'घृणा' के बड़े खतरनाक निष्कर्ष निकलते हैं। जैसे सामंती व्यवस्था मे 'हरिजन' हैं। उन पर अच्छा न लिखने का एक कारण घृणा है। तो यह आकस्मिक नही था कि काशी ने ऐसा सोचा और उसको आउटराइटली रिजेक्ट करने की कोशिश की, जैसे वह कोई विषय ही न हो। लोगों की अलग राय हो सकती है, लेकिन 'एक बंगला बने न्यारा' के दौरान मैंने धैर्य से सोचने–समझने की कोशिश की। काशी को पता है कि मैं सामंती परिवार से निकला हूं। अपने घर में पहला आदमी मै था, जिसने नौकरी की। मेरा परिवार नौकरों पर डिपेंड रहनेवाला परिवार रहा। नौकरों-चाकरों के प्रति बचपन से ही एक वितृष्णा थी। बडा हुआ तो मुझे लगा कि ऐसा क्या कि इनसे लोग वितृष्णा करते हैं। मैंने उसे लिखना शुरू किया। मेरी ज्यादातर कहानियां सामंती वातावरण की कहानियां हैं। मेरी कहानी 'ऋषि' में सामंती समाज में रहनेवाली लड़कियां, औरतें और पुरुष है। आज हमने लेखन के दायरे को सीमित कर लिया है। आज के लेखन मे हल्की-सी रक्ताल्पता दिखती है। खासतौर से प्रगतिशील-जनवादी तथा मार्क्सवाद से प्रभावित लोगों ने दायरे को अति सीमित कर दिया है। सुधीश पचौरी कह रहे थे कि इतनी हत्याएं हो रही हैं और कहानी में वे नहीं हैं? भयानक आतंकवाद है और कहानी पर कोई असर नहीं। नक्सलाइट प्रभाव से कभी अच्छी-बुरी कहानिया लिखी तो गई थीं। आज जो नार्थ-ईस्ट में, झारखण्ड, कश्मीर या पंजाब में हो रहा है कहानी में उसका कोई उल्लेख नहीं। आपने एक खूंटा गाड दिया, जहां तक रस्सी जाएगी, वहां तक जनवादी टाइप के लेखक जाएंगे। हमारे समय में लोग सत्रास और भय की बात करते थे, लेकिन सही संत्रास और खौफ़ तो इस समय है। इसका दबाव कहानियों मे कहां है, जबकि हम संत्रासवाले समाज में रहते हैं, पर कहानियों में से समय और समाज का संत्रास गायब हो गया? रचनाओं में हम वही पुरानी बातें लिख रहे हैं। क्यों नहीं यह लिख रहे हैं कि आज संत्रास और डर के माहौल में माता और पिता अपने बेटे का इंतजार कर रहे हैं? दुबारा दिल्ली आया तो वसंत विहार में रहना हुआ। इन दस सालों में समाज में असुरक्षाबोध

और बढ गया है लेकिन यह कहानी मे कहा है? साहित्य सबसे पहले इडिकेट क्यो नहीं करता। लोग कह सकते हैं कि जो अखबार में आ सकता है, जरूरी नहीं कि वह साहित्य में भी आए। हिमालय की कुछ जनजातियों में मैंने देखा है कि बहुत सारे सांप निकलते ही वे समझ जाते हैं कि भूकम्प आनेवाला है। साहित्यकार तो पहले सूंघता है, वह पहला इंडिकेटर होता है तो इस खौफनाक और हौलनाक स्थिति के बारे में लोग क्या सोचते हैं? जब से मैं दिल्ली आया हू, यह सवाल मुझे परेशान करता है। हो सकता है कि यह अखबारों में आने लायक हो, रचनाओ मे आने लायक न हो। आज अखबार कोई सुखद सूचना नहीं देता। सुखद खबरो का न होना या असुरक्षा हमारी संवदेना पर कोई असर नहीं करती, ये जो 'चन्ना दी रात' का कवि है, यह पजाब का बड़ा कवि है। उसने इंदिरा गांधी को ऐसा-वैसा कुछ कह दिया तो क्या गजब कर दिया। अगर हिंदू साइकी चार सौ साल बाद भी अयोध्या के राम मंदिर की घटना को नहीं भुला सकी तो सिक्ख साइकी (मानसिकता) आपरेशन ब्लू स्टार को कैसे भुला सकती है। जब मैं भोपाल मे था तो अशोक वाजपेयी के घर पर एक दिन एक सरदारनी बैठी थी, वह विदेश मे रहनेवाली आधुनिक स्वतंत्र महिला थी। उसी समय ब्लू स्टार की खबर आई तो वह बेसाख्ता रोने लगी। उसने पूछा, "क्या गुरुग्रंथ साहब को सैनिकों ने बूटो से रौंदा।" उस औरत की मानसिकता देखिए, उसने कैसे रिएक्ट किया? सिक्ख साइकी पर इसका कितना भयंकर प्रभाव पड़ा है। तो आप उनसे क्यों उम्मीद करते हैं कि वे उसे भूल जाएं।

इस उम्र में पहुंचकर अपने लेखन के बारे में क्या सोचते हैं, इन दिनों क्या लिख रहे और क्या लिखने की योजनाएं बना रहे हैं।

भोपाल जाने पर दस-बारह साल अपने लेखन को लेकर परेशान रहा। इन वर्षों में मुझे लगा कि अपने भीतर जितनी ऊर्जा थी, लिखने की ललक थी, उसका एक बहुत छोटा हिस्सा ही रचना में उतर सका। भोपाल छोड़ने की योजनाए लगातार बनाता रहता था। वहां तो हमेशा मार भीमसेन, मार कुमार गंधर्व, मार नाटक, संगीत, नृत्य, कविता समारोह चल रहा था। यह सब मै आयोजित कर रहा था, लेकिन मुझे लगता था कि यहां मेरा रचनाकार कहां है। निकोनार पारा, अर्नेस्तो कार्देनाल आदि बड़े-बडे लोगों के साथ शराबें पी लीं, खाना खा लिया तो मुझे लगा कि ये आकर मुझे छोटा करे दे रहे हैं। मैं डिस्टर्ब और असंतुष्ट था। उस समय लिखता भी था। तब की बहुत-सी अधलिखी कहानियां पड़ी हैं। दिमाग मे उपन्यासों के प्लाट्स हैं। उन्हें लिखने की कोशिश कर रहा हूं। इधर फिल्म और दूसरी कई चीजों के बारे में भी लिखता रहा हू। इस वक्त जब मैं बात कर

रहा हूं, लिखने की प्रक्रिया में हूं। अभी कोरियाई शार्ट स्टोरी पढ़ी। यह जो डायरी है, इसमें कहानियां नोट कर रहा हूं। एक कहानी लिखी है, दूसरी लिखी जा रही है। जब आप चालीस के पार पहुंचते हैं तो एक घबराहट का दौर शुरू होता है। इसे साइकोलॉजिस्ट भी मानते हैं कि मनुष्य के पूरे मेटाबोलिज्म में परिवर्तन आता है। आदमी सब कुछ पूरा करना चाहता है, लेकिन मैं कह सकता हूं कि जीवन मे खास तौर से फुरसत और आराम जरूरी है। यदि आप हमेशा दिन-रात इन्वाल्व हैं तो थोड़ा-सा डिटैचमेंट जरूरी है लिखने के लिए। इसका दूसरा पक्ष श्रीकांत वर्मा में देखा है। एक पत्रकार के रूप मे उन्होंने बहुत-सी कविताएं लिखी हैं। खबरों पर कहानियां-कविताएं लिखते थे। यह बडा अजीब लगता है कि वह उन चीजों से अपने को डिटैच कर लेते थे। कांग्रेस महासचिव वाले दौर में वह 'मगध' लिख रहे थे और सत्ता के परखचे उड़ा रहे थे, जबकि खुद सत्ता में बैठे हुए थे। मेरे पास कोई गरिमा या गर्व की बात नहीं है। मैं सचमुच एक सकट के दौर से गुजर रहा हूं। आत्महीनता भी नहीं है और ऐसा भी नहीं लगता कि मैं इस सकट में से कोई महान रचना लेकर आ ही जाऊंगा, जबकि प्रसाद अड़तालीस साल में मर गए थे। 'कामायनी' जैसा महाकाव्य और कई नाटक लिखे। 'कामायनी' से पहले बहुत-सी कविताएं लिखीं। दो महत्त्वपूर्ण उपन्यास, पाच कहानी संग्रह। प्रेमचंद से कम नहीं हैं प्रसाद। प्रसाद के कंट्रीव्यूशन (योगदान) को लोग भूल गए। सचमुच वे प्रेमचंद से ज्यादा विजनरी लेखक थे। एक बड़ा जीवन दर्शन था उनके पास, एक समानांतर जीवन दर्शन 'कामायनी' में दिया है। नामवरजी से मेरी बहस होती है कि बनारस में प्रसाद भी थे, लेकिन प्रेमचंद के आगे आप लोग उनका महत्व नहीं देखते। आप लोगों ने एक महान लेखक की उपेक्षा करने का पाप किया है।

आपको किसी भी विचारधारा से जुड़ना अच्छा नहीं लगा, क्यों?

मैं फिजिकली शामिल होना और मार्क्सवादी विचारधारा स्वीकार करने मे अपने को असमर्थ पाता रहा। काशीनाथ मार्क्सवाद से प्रभावित हैं, पता नहीं कैसे, जबकि उनका मार्क्सवाद का कोई सिस्टेमेटिक अध्ययन नहीं है, लेकिन मैंने मार्क्सवाद अस्तित्ववाद सभी का सिस्टेमेटिक अध्ययन किया है। सार्त्र को पढ़ा है। 'प्रॉब्लम्स ऑफ मेथड्स' डायलेक्टिक्स पर बहुत अच्छी किताब है। साइकोलॉजी में फ्रायड, युग को पढ़ा। फिर हेडेगर को पढ़ा। असल में होता यह है कि लोग मार्क्स के विचारों को कहीं से निकालकर पढ़ते हैं, जबकि ऐसा नहीं होना चाहिए, जैसे 'लुई बोनापार्ट' किस संदर्भ में क्यों लिखा, यह जानना भी जरूरी है। पूरे संदर्भ को जाने बिना हम सही निष्कर्ष तक कैसे पहुंच सकते हैं।

कहा जा रहा है कि साहित्य सकट मे है आपको किस रूप मे साहित्य संकट में लग रहा है?

साहित्य के संकट में होने की बात पचास साल से सुन रहा हूं, पर मुझे वह कभी संकट मे नहीं लगा। युगानुकूल रचना कर सकने के संकट हर पीढी के सामने होते हैं और वह उससे जूझती है, पार भी पाती है और कभी-कभी नही भी पा पाती, पर उससे साहित्य संकट में नहीं पड़ता। हां, कालजयी कृतियों की सर्जना किसी भी युग में बहुत अधिक नहीं होती। इसी से लोगों को लगने लगता है कि साहित्य संकट में है। मैं तो देख रहा हूं कि इधर प्रकाशकों की संख्या बहुत बढ गई है और लेखक भी बढ़े ही हैं। नए से नए लेखक को भी तत्काल प्रकाशक मिल जा रहे हैं। पुरस्कारों की संख्या इतनी ज्यादा हो गई है कि जिसे देखो, वही लखपती, बल्कि अब तो कुछ लेखक करोड़पती तक हुए चले जा रहे हैं। फिर मै कैसे मान लूं कि साहित्य संकट में पड़ गया है। पारिश्रमिक भी अब काफी-काफी मिलने लगा है, पहले की तुलना में। फिर प्राब्लम क्या है?

मुझे लगता है कि आज का साहित्य लोगों की नजर में उतना प्रभावशाली नहीं रहा, जितना पहले के लेखकों का है। आपको क्या लगता है?

प्रभाव से आपका तात्पर्य क्या है? साहित्य क्या समाज को बदल देता है? यह एक भ्रम भर है। दुनिया में कहीं भी साहित्य ने क्रांति नही की। साहित्य का समाज पर उस तरह से प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं पड़ता। उसका प्रभाव मनुष्य के विचार और चेतना पर पड़ता है और बहुत धीरे-धीरे पड़ता है। यह काम नया-पुराना, दोनों तरह का साहित्य सदियों से करता आया है, आगे भी करता रहेगा। इसमे आज के या कल के साहित्य के प्रभावी या अप्रभावी होने का प्रश्न ही कहां है। वह कुछ अधीर और अपढ़ दिमागों की उपज है, जिनके अध्ययन, मनन और चिंतन में गहराई नहीं है। हां, तेजी से बदल रहे समाज में साहित्य को अपना स्थान नए सिरे से तय करना अभी शेष है। बात साहित्य के प्रभावशाली या प्रभावहीन होने की उतनी नहीं है, जितनी कि उससे हमारी अतिरिक्त अपेक्षाओ की है, जिस पर वह, तय है कि खरा नहीं उतरता तो हम उसके प्रभाव के घटने की बात करने लगते हैं। इसलिए बातचीत शब्द के महत्व और उसकी शक्तियों-सीमाओं पर होनी चाहिए, उसके प्रभाव के कम या ज्यादा होने की नहीं। वैसे आज जो टीवी में इतने सारे सीरियल आ रहे हैं, वह भी तो साहित्य ही है एक तरह का और आज वह एक साथ करोड़ों लोगों को प्रभावित कर रहा है। अब वह स्तरीय साहित्य है या नहीं है, यह दूसरा सवाल है, पर वह है। साहित्य का विस्तार ही, जो नए युग की देन है। इस युग को शायद अब साहित्य

इसी रूप में मिलेगा। वह कागज पर कम, सेल्यूलाइड पर अधिक लिखा जाएगा और अधिक से अधिक लोगों को प्रभावित करेगा। इस तरह देखें तो पुराने साहित्य के मुकाबले आज का साहित्य कहीं ज्यादा लोगों को प्रभावित कर रहा है। इसीलिए मैंने कहा कि यह सवाल ही बेमानी है और खाली बैठे दिमागों की उपज है या चुके हुए लोगों का शग़ल, ताकि इसी बहाने वे आज के साहित्य की चिंता करते हुए बड़े भारी चिंतक नजर आएं, पर ऐसा होता नहीं है।

कहकर विजयमोहनजी उठे और लड़की को आवाज दी। लड़की को शायद पता था कि बाबूजी ने आवाज क्यों दी है। कुछ पल में ही नागेंद्र और मेरे लिए ब्रेड-बटर तथा उनके लिए अंकुरित मूंग टेबल पर सज गई। हमारे विस्मय को भांप कर बोले, "मुझे थोड़ी हार्ट प्राब्लम है। कोलेस्ट्राल को नियंत्रित रखने के लिए अंकुरित मूंग उत्तम आहार है और लहसुन उत्तम दवा। मैं यही लूंगा, आप लोग ब्रेड लीजिए।"

सुनकर हमारा संकोच टूटा और हमने ब्रेड ले ली और फिर चाय। विजय मोहनजी अंकुरित मूंग टूंगते रहे, धीरे-धीरे। हम उनका मूंग टूंगना देखते रहे और फिर विदा लेकर फ्लैट से बाहर आ गए, गाजीपुर की तरफ जानेवाली सडक पर। उन दिनों मैं गाजीपुर में रहता था और नागेंद्र की पोस्टिंग अरुणाचल प्रदेश के किसी कॉलेज में थी। उन्हें अरुणाचल वापस लौटने के लिए अपनी टिकट का इंतजाम करना था। इसलिए बस पकड़कर वे नई दिल्ली रेलवे स्टेशन की तरफ चले गए और मैं घर आ गया। मुझे अवधेश कुमारजी को लेकर वृज विहार पहुंचना था, जहां अपने जन्मदिन का केक काटने को तैयार शालूजी मीरा भाभी के साथ उनका इंतजार कर रही थीं, बेसब्र इंतजार। □

ढाई घर की जुगलबदी के सफल

गिरिराज किशोर

विदेशियों ने उजाड़ डाला हमारा विज्ञान

उत्तर प्रदेश के मुजफ्फर नगर जनपद के एक जमींदार परिवार में 8 जुलाई, 1937 को पैदा हुए गिरिराज किशोर को कला एक तरह से विरासत में मिली। पर्दा जैसी रूढ़ियों के बावजूद संगीत और गायन में इनकी मां की खासी रुचि थी। न जाने क्यों गिरिराज किशोर ने अंग्रेजी या फारसी की बजाय पहले दर्जे से ही हिंदी को चुना, जबकि घरवालों की इच्छा थी कि अंग्रेजी या फारसी ले। 'जुगलबंदी', 'परिशिष्ट', 'यथा प्रस्तावित', 'तीसरी सत्ता' तथा 'ढाई घर' जैसे उपन्यास लिखनेवाले गिरिराज किशोर उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, मध्य प्रदेश साहित्य परिषद समेत साहित्य अकादमी से पुरस्कृत-सम्मानित हैं। गांधी के दक्षिण अफ्रीका प्रवास पर लिखा इनका उपन्यास 'पहला गिरमिटिया' अखबारो और पत्र-पत्रिकाओं की सुर्खियों में रहा।

अपने लेखन की शुरुआत को याद करेंगे?

मां के आंचल की छाया न होने की वजह से एक तरह का बेगानापन शुरू से ही मेरी जिंदगी में आ गया था और सातवीं-आठवीं क्लास से ही मैं उपन्यास पढने लगा था, जिसका घरवालों ने विरोध किया, पर मैं छिप-छिपकर पढ़ता रहा। यही वजह रही कि दर्जे में मैं कभी अच्छा विद्यार्थी नहीं रहा। प्रेमचंद और शरत के प्रभाव में शुरू से ही कहानियां लिखने लगा था। मेरी पहली कहानी 1959 मे आगरा के साप्ताहिक अखबार 'सैनिक' में छपी थी। 'हिंदुस्तान' दैनिक के साप्ताहिक परिशिष्ट तथा 'मध्यप्रदेश संदेश' के बाद जब रचनाएं 'कादंबिनी' और साप्ताहिक हिंदुस्तान' में छपीं तो मेरी विधिवत साहित्य-यात्रा शुरू हो गई।

सुना है कि नौकरियों में आपने काफी पापड़ बेले हैं?

पापड़ तो क्या बेले, पर परेशानियां खूब आईं। सोशल वर्क में एम.ए. कर एक फैक्ट्री में लेबर ऑफीसर हो गया। वह छूटी तो डेढ़ वर्ष तक इलाहाबाद मे

इम्प्लायमेंट ऑफीसर रहा और प्रतिकूल 'स्थितियो मे वहा से इस्तीफा' दे दिया तो ढाई वर्ष तक फ्रीलांसिंग करनी पड़ी। बाद में इलाहाबाद में प्रोबेशन अफसर हो गया। वह नौकरी भी छूट गई तो कानुपर विश्वविद्यालय में असिस्टेंट रजिस्ट्रार हो गया और फिर डिप्टी रजिस्ट्रार। वहां से रजिस्ट्रार के पद पर आई.आई.टी. आ गया। यहां के तानाशाह निदेशक ने निलंबित कर दिया, पर मैं मानता रहा कि सच्चाई मेरे साथ है। सच्चाई में ठोकरें भी खानी पड़ती हैं और आदमी गिर-गिरकर उठने के अवसरों का धनी होता है। वही हुआ और अंततः मेरी जीत हुई।

रचनाओं में व्यवस्था का विरोध होने के कारण कभी आपको प्रताडित भी किया गया?

हां, 'चिड़ियाघर', 'रिश्ता' और 'मवेशी' को लेकर चिल्ल-पों मची, तब मै कानपुर विश्वविद्यालय में था। भक्तदर्शन कुलपति थे। मित्रों ने शिकायतें कीं तो उन्होंने बुलाकर पूछा। मैंने जब कहा कि आप लिखकर पूछ लें तो अच्छा हो। भक्तदर्शन साहित्यिक व्यक्ति थे, चुप लगा गए। यह उनका बड़प्पन ही था कि साहित्यकार का मान भी रख लिया और प्रशासनिक दायित्व भी निभा दिया।

विचारधारा और कलात्मकता में से आप किसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण समझते हैं? रचना में समकालीन सवाल उठाए जाने चाहिए या नहीं?

सामाजिक विसंगतियों का पर्दाफाश करते हुए और कमजोर पक्ष का साथ देते हुए मैं रचना के कला पक्ष पर ज्यादा ध्यान देता हूं। लेखक अगर समकालीन सवालों को मानवीय संवेदना के स्तर तक पहुंचा सके तो अवश्य उठाए।

अपने उपन्यास 'दो' में आपने नारी जीवन के जिस पक्ष को उजागर किया है, यह क्या भारतीय जीवन का आम दृश्य है?

हां, भारतीय समाज के निम्न वर्ग में यह बात आम है, पर उच्च वर्ग में ऐसा कम होता है। मेरे यहां की कई औरतों ने ऐसा किया है, निम्न जातियों में इसे उस तरह नहीं लिया जाता, जिस तरह हम लोग लेते हैं। इंसान की जरूरत का वे हमसे ज्यादा सम्मान करते हैं।

अपने वृहद् उपन्यास 'जुगलबंदी' में आपने जिस तरह के अश्लील शब्दों का प्रयोग किया है, क्या उनसे बचा नहीं जा सकता था?

रचना एक बच्चे के समान होती है। उसके हाथ, पैर, आंख, कान और नाक बनाने के बाद, जिसे आप अश्लील अंग मानते हैं, उसे छोड़ दिया जाए तो क्या बच्चे को पूर्ण मान सकेंगे? इसी तरह किसी कृति में जो चीज जरूरी है, उससे बचने का मतलब है पलायन और 'जुगलबंदी' में मैंने पलायन नहीं किया। बच्चे

की तरह उसे प्राकृतिक और सपूर्ण रूप दिया है। ऐसी रचना का विकास आर्गेनिज्म की तरह होता है और होना भी चाहिए।

इतने जिम्मेदारीपूर्ण पदों पर रहते हुए साहित्य रचना में व्यवधान महसूस नहीं करते रहे?

नौकरी को नौकरी की तरह धर्म समझकर निभाया और अपने बाकी समय मे साहित्य-सृजन को अपना धर्म मानकर ईमानदारी से निभाता रहा। मुझे कोई खास व्यवधान नजर नहीं आया।

अपने उपन्यास 'परिशिष्ट' के बारे में कुछ बताएंगे?

'परिशिष्ट' में समाज के अनुसूचित वर्ग के लोगों का संघर्ष चित्रित किया है। अनुसूचित कोई जाति नहीं होती, एक मानसिकता होती है। जिसे अभिजात वर्ग ने अलग कर दिया, वही अनुसूचित हो गया। ऐसे लोग क्रमशः पिछड़ते चले जाते है और सरकार कहती है कि अभिजात वर्ग से कंपटीशन करें। कैसे कर पाएग ऐसे लोग किसी भी तरह का कंपटीशन, लेकिन व्यवस्था ऐसी है कि कंपटीशन तो करना ही पड़ेगा। आई.आई.टी. या जे.एन.यू. जैसे संस्थानों में पढनेवाले अनुसूचित जाति के छात्रों के संघर्ष को मैंने 'परिशिष्ट' का विषय बनाया है।

II

देश का बड़े से बड़ा नेता कहता है कि विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में विदेशी भाषा का प्रयोग करके कोई भी राष्ट्र सही ढंग से विकास नही कर सकता। फिर भी, इन क्षेत्रों में अंग्रेजी ही क्यों छाई हुई है?

इस संदर्भ में मैं दो बातों का जिक्र करना चाहूंगा, जिससे यह स्पष्ट हो जाएगा कि विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में ही नहीं, हर महत्वपूर्ण क्षेत्र मे अग्रेजी का बोलबाला क्यों है? पहली बात तो यह है कि जिनके पास विज्ञान और प्रौद्योगिकी है, वे इसे अपने और अपने वर्ग तक सीमित रखना चाहते हैं। दूसरी बात यह कि नौकरशाही की तरह विज्ञान और प्रौद्योगिकी भी अभिजात वर्ग के शिकजे मे कसती चली जा रही है। जैसे कि देश की नौकरशाही चाहती है कि अंग्रेजी बनी रहे, वैसे ही विज्ञानशाही भी चाहती है कि अंग्रेजी बनी रहे। इससे इन लोगो को विदेश से विज्ञान और प्रौद्योगिकी आयात करने के अवसर और सुविधाएं मिल जाती हैं। इन्हें डर है कि विज्ञान यदि भारतीय भाषाओं के माध्यम से विकसित होना शुरू हो गया तो उसमें रचनात्मकता और मौलिक अन्वेषण की संभावना बढ जाएगी। इससे विज्ञान प्रबंधकों को नुकसान होगा। सामान्य जन और राजनीतिज्ञो को उनकी भाषा में विज्ञान का महत्व मालूम हो जाने पर विज्ञानशाही उन्हें मूर्ख

नहीं बना पाएगी। अंग्रेजी का प्रयोग कर विज्ञान को सामान्य जन से अलग तो रखा ही जा रहा है, खुद को बुद्धिजीवी और आधुनिक कहलाए जाने का अवसर भी मिलता है।

अंग्रेजी को हटाकर विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में हिंदी और भारतीय भाषाओं को स्थापित करने का रास्ता क्या हो सकता है?

सबसे पहली बात तो यह हो कि हाई स्कूल तक मातृभाषा में ही विज्ञान पढाया जाना चाहिए। इससे छात्रों में मौलिक चिंतन और रचनात्मकता का मजबूत आधार बनेगा। इसके बाद विज्ञान की पढ़ाई का माध्यम राष्ट्रभाषा को रखा जाए, और यदि संभव हो तो त्रिभाषा सूत्र को लागू करते हुए कुछ समय तक हिंदी और अंग्रेजी मिश्रित रूप से विज्ञान की भाषा बनाई जाएं। शब्दावली कुछ समय तक अंग्रेजी चल सकती है, जब तक कि हिंदी की प्रामाणिक शब्दावली न बन जाए, लेकिन अभिव्यक्ति का माध्यम या तो हिंदी हो या मातृभाषा। अंग्रेजी का प्रयोग ठीक उसी प्रकार किया जाना चाहिए, जैसे जर्मन, रसियन तथा फ्रेंच का प्रयोग शोध के लिए होता है। अंग्रेजी को विज्ञान की भाषा बनाए रखने से देश को बड़ी हानि हुई है। यहां के मेधावी छात्र विदेश चले जाते हैं, जिससे उनका देश के विज्ञान और प्रौद्योगिकी से कभी साक्षात्कार ही नहीं हो पाता।

विज्ञान और प्रौद्योगिकी को ध्यान में रखकर सरकार द्वारा निर्मित शब्दकोशों को आप कितना उपयोगी और व्यावहारिक मानते हैं। प्रचलित भारतीय शब्दों को कितना उचित समझते हैं?

कोशों के लिए जो शब्द बनाए गए हैं, उनका उपयोग तो हो नहीं रहा है, इसलिए उन शब्दों की घिसाई भी नहीं हुई है। इसी से उनकी मानकता संदिग्ध है। शब्दावली तभी प्रामाणिक बनती है, जब प्रयोग में आए और प्रयोग में तब आती है, जब संबंधित भाषा व्यवहृत हो। इसलिए मैं शब्दावली को दोष नहीं देता। जब तक प्रयोग में नहीं आएगी, वह कृत्रिम शब्दावली बनी रहेगी। जहा तक समाज में प्रचलित शब्दों के प्रयोग का प्रश्न है, उसमें किसी विवाद की गुंजाइश नहीं। जितने मिस्त्री और कारीगर हैं, अपना काम देसी भाषा की अपनी शब्दावली में चलाते हैं। ऐसे शब्दो का प्रयोग होना ही चाहिए, उन्हें शब्दावलियों में भी स्थान मिलना चाहिए।

टी.वी. जैसे संचार माध्यमों के जरिये प्रौद्योगिकी के भाषा और साहित्य पर पड़े प्रभाव को आप किस रूप में लेते हैं?

जहां तक दूरदर्शन का प्रश्न है, उसका उद्देश्य किसी भी वैचारिक सभ्यता का विकास करना नहीं, उसका उद्देश्य तो उपभोक्ता संस्कृति को जुबान देना है। इसीलिए दूरदर्शन भाषा या साहित्य की समस्या पर विचार नहीं करता। उससे हम अगर किन्हीं वैचारिक या साहित्यिक मूल्यों की आशा या अपेक्षा करते हैं तो वह

हमारी मूर्खता है सरकार भी उसका उपयोग मात्र अपने प्रचार के लिए करती है

प्राचीन भारत में विज्ञान के अत्यन्त उन्नत होने के मिथ को आप किस रूप में देखते हैं? यदि वह इतना ही उन्नत था तो फिर विलुप्त कैसे हो गया?

सत्रहवीं शताब्दी से पूर्व के एशिया में, जिसमें भारत, चीन तथा अरब आदि देश आते हैं, विज्ञान की स्थिति योरोपीय देशों से कहीं ज्यादा अच्छी थी। औद्योगिक क्रांति के बाद एशिया में विज्ञान की स्थिति डावांडोल होती चली गई और वह योरोप में मजबूत होती गई। इसके कई कारण हैं। पहला कारण तो यह है कि भारत का जितना भी विज्ञान था, वह या तो पांडुलिपियों में था या फिर कंठ में। जो कंठ में था, वह उन्हीं के साथ चला गया, जिनके पास था। पांडुलिपिया इधर-उधर बिखर गईं। भारतीयों में अपनी संस्कृति के प्रति अरुचि इसलिए उपजी, क्योंकि गत सात सौ वर्षों में जो भी राजा आया, उसने अपनी संस्कृति और भाषा का सिक्का चलाया और उसे रोजी-रोटी से जोड़ दिया। इसलिए अपने देसी ज्ञानी-विज्ञानी उपेक्षित होते चले गए। हमारा पूरा विज्ञान पुराण कथाओं के रूप में सामने आया, जो कालांतर में गल्प मात्र मान लिया गया, जबकि विंध्याचल पर्वत को अगस्त्य मुनि द्वारा बढ़ने से रोकना एक वैज्ञानिक प्रक्रिया थी। इसी प्रकार संपाती का सूर्य की ऊर्जा का आकलन करने के लिए उड़ना एक वैज्ञानिक उत्कंठा थी। इससे अधिक एक वैज्ञानिक का समर्पण क्या हो सकता है कि यह जानते हुए भी कि 'जल जाएगा' वह उड़ता है। हम संपाती को भूल जाते हैं, जब हम उन वैज्ञानिकों की प्रशंसा करते हैं, जिन्होंने पोटेशियम साइनाइड चखने मे अपने प्राण गवां दिए। कुछ दिन पहले एक समाचारपत्र में मैंने पढ़ा कि तिरुपति मे 'बाराहमिहिर' की वृहत्संहिता के आधार पर जामनगर (गुजरात) जैसे सूखे स्थान पर 51 जगह पानी के स्रोतों का पता लगाया गया और उनसे पानी निकला भी। इसी प्रकार सिविल इंजीनियरिंग में आज भी अनेक भारतीय ग्रन्थ उपलब्ध हैं। प्रासाद मंडन, रूपमंडन, समरांगण सूत्रधार, वास्तु रत्नावली, मयमत आदि लेकिन इन पर आज तक शोधकार्य नहीं हुआ। हां, गणित के क्षेत्र में वैदिक गणित का प्रसार हो रहा है और उसमें दिए गए सूत्रों के माध्यम से गणित संबंधी कठिन से कठिन समस्याएं चुटकी बजाते सुलझ जाती हैं।

साहित्य के स्तर पर हिंदी में विज्ञान कथा का क्षेत्र खाली पड़ा है। इसके पीछे आप क्या कारण देखते हैं?

भाषा का प्रश्न यहां भी बड़ा महत्वपूर्ण है। जो बड़ी भाषाएं होती हैं, उनका

फैलाव हर क्षेत्र में होता है, लेकिन अपने यहां बांग्ला और किसी हद तक तमिल को छोडकर सभी भाषाओं के साथ यह दुर्भाग्य रहा है कि उनको मात्र बोलचाल या साहित्य की भाषा तक सीमित कर दिया गया। आपको यह जानकर ताज्जुब हो सकता है कि संस्कृत की समकालीन या आगे-पीछे की भाषाएं जैसे अरबी, फारसी या यूनानी आज तक प्रासंगिक बनी हुई है, लेकिन यह हमारे देश में ही संभव है कि संस्कृत जैसी बड़ी भाषा को मृत भाषा घोषित कर दिया गया है। जगदीश चद्र बसु ने अपना सारा विज्ञान लेखन बांग्ला में किया। मेघनाद साहा अपनी भाषा मे धाराप्रवाह बोल सकते थे, लेकिन हिंदी के साथ यह दुर्भाग्य है कि उसे घसखुदो और खोमचेवालों की भाषा कहा जाता है। उसे विज्ञान की भाषा नहीं माना जाता जबकि सस्कृत के बाद सबसे वैज्ञानिक भाषा हमारी हिंदी ही है। भारत की इस भाषा, राष्ट्रभाषा हिदी से लचीली भाषा और कौन हो सकती है, जिसमें संसार की न जाने कितनी भाषाओं और बोलियों का मिश्रण है। मैं तो दावे के साथ कहता हू कि भाषा विज्ञान और प्रौद्योगिकी के लिए हमारी हिंदी सर्वथा उपयुक्त भाषा है।

विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में हिंदी की मौलिक किताबें नहीं हैं। जो हैं, वे भी बड़े-बड़े शिक्षा संस्थानों से बहिष्कृत क्यों हैं?

इसका कारण यह है कि विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में भारतीय भाषाओं में किसी भी स्तर पर चिंतन आरंभ नहीं हुआ है। भारत के जनमानस को यही समझाया गया कि विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में अगर उन्नति करनी है तो अंग्रेजी की पुस्तकें ही सहायक हो सकती हैं। पूर्व राष्ट्रपति डॉ. शंकरदयाल शर्मा ने एक बार बताया था कि आजादी के बाद लखनऊ विश्वविद्यालय के सभी डीन्स और प्रोफेसर इस बात का विरोध कर रहे थे कि हिंदी को भी विज्ञान की भाषा बनाया जाए, लेकिन प्रसिद्ध जीव विज्ञानी बीरबल साहनी ने सबसे पहले हिदी में विज्ञान पढ़ाना शुरू किया। इसी प्रकार इलाहाबाद विश्वविद्यालय मे प्रोफेसर सत्य प्रकाश, डॉ. गोरखप्रसाद तथा कई बंगाली प्रोफेसरों ने विज्ञान हिदी मे पढ़ाना शुरू किया, लेकिन बाद में सरकार का निर्देश आया कि 'गो स्लो' और तब से हिंदी की प्रगति 'स्लो से स्लो' है। पुस्तकें तो हिंदी मे हैं, लेकिन उनका कोई महत्व नहीं, क्योंकि उन्हें पढ़नेवाले नहीं हैं, लिखने या पढ़ानेवाले अध्यापक को क्रेडिट नही मिलता। ऐसी हालत में किताबें बहिष्कृत ही होंगी पुस्तकालयों से और नई किताबें लिखने का कोई व्यक्ति इरादा ही क्यों करेगा भला?

III

लेखन में आप विचारधारा को महत्त्व देते हैं या नहीं। अगर देते हैं तो कितना और नहीं देते हैं तो क्यों?

दो प्रकार की विचारधाराएं हैं एक-दक्षिणपंथी, दूसरी-वामपंथी। वामपथी विचारधारा जन साधारण और सामान्यजन की सोच के साथ जुड़ी विचारधारा है। दक्षिणपंथी विचारधारा धन को सीधे जनसाधारण तक न आने देने और हरेक के समान होने के रास्ते में बाधक इस दृष्टिकोण से है कि वह सोचती है कि व्यक्तियों और इकाइयों को समृद्ध करके सामान्य व्यक्ति को समृद्ध किया जा सकता है। इसलिए वे समान होने की मानसिकता के पक्ष में नहीं हैं। रचनाकार राजाओं और महाराजाओं की बात नहीं करता, बल्कि सामाजिक यथार्थ की बात करता है। उसके पात्र भी सामाजिक संघर्ष की प्रक्रिया से ही उपजे हुए होते है। न उन्हें कोई दैवी शक्ति बनाती है, न ही वे किसी आनुवंशिक प्रक्रिया की देन है। जब रचनाकार इसके विरोध में लिखता है, वह चाहे नाटक हो, कहानी हो या कविता, तो वह निश्चित रूप से सामान्य आदमी की चिंता और सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया पर जोर डालता है, लेकिन मैं उस तरह से विचारधारा की परपरा का पक्षधर नहीं हूं, जहां उन लेखकों और रचनाकारों की रचनाओं का अनादर होता है, जो संघर्ष की प्रक्रिया की देन होते हैं। अपनी श्रेष्ठता, अपनी वैचारिक प्रतिबद्धता को किसी दल विशेष से जोड़ देनेवाले कुछ लेखक-आलोचक अपने व्यवहार और जीवनचर्या में पूर्णतः बुर्जुआ हो जाते हैं, लेकिन कहने के लिए वामपंथी बने रहते हैं।

आप किस विचारधारा को ठीक मानते हैं?

मैं लेखन के स्तर पर समाज के संघर्ष को उजागर करके इतिहास की पहचान करानेवाली विचारधारा को ही सर्वोपरि मानता हूं, क्योंकि अन्ततः इतिहास की प्रक्रिया ही लेखक-पाठक को समझने-समझाने में काम आती है।

लेखक को किसी राजनीतिक पार्टी से जुड़ना चाहिए या नहीं? यदि जुड़ना चाहिए तो किस सीमा तक?

लेखक के लिए पहली आवश्यकता इस बात की होती है कि सबसे पहले वह अपने समाज के परिवर्तन की ऐतिहासिक-प्रक्रिया, उसके विरोधाभास और यथार्थ को समझे। इसको समझने के लिए यदि किसी लेखक को यह जरूरी लगता हो कि वह किसी पार्टी का सदस्य हो जाए तो इसमें किसी को एतराज नहीं होना

चाहिए मेरे बारे मे वामपंथी आलोचक और मेरे समकालीन लेखक मित्र कई बार यह कहते हैं कि मैं लिखने के स्तर पर भले ही प्रगतिशील मुद्दे उठाता हूं, किन्तु मेरी समझ उन्हें साम्यवादी नहीं लगती। यह बात सही भी हो सकती है, लेकिन मै जानता हूं कि पार्टी या मंच का सदस्य होते ही यह आरोप बहुत हद तक कम हो जाएगा और मुझे एक खास तरह के अनुशासन के फ्रेमवर्क में आना पड़ेगा। मै लेखक के लिए इस तरह की अनिवार्यता नहीं समझता। यदि कोई लेखक पार्टी मे रहते हुए लेखन को महत्व दे सकता है और यशपाल की तरह से मुक्त होकर लिखता रह सकता है तो शायद पार्टी का सदस्य होना सार्थक हो सकता है। यदि उसका लेखन दूसरे या तीसरे नंबर पर आ जाता है तो उसे स्वभावत लेखक की बजाय राजनीतिज्ञ कहा जाना चाहिए। कई बार यह देखने में आया है कि बहुत से सक्षम लेखकों के लिए लेखन की दृष्टि से पार्टी रेगिस्तान साबित हुई।

विचारधारा के आधार पर कई लेखक संगठन बने हुए हैं। उनकी उपयोगिता पर आपकी राय क्या है?

किसी भी मंच या संगठन का उद्देश्य तभी सार्थक होता है, जब वह एक से बढकर एक अच्छे लेखक दे, जैसा कि किसी जमाने में प्रगतिशील लेखक सघ ने किया, लेकिन यदि कुछ लेखकों को सदस्य बनाकर और अधिकांशतः पूर्व लेखकों का ढिंढोरा पीटकर कोई संगठन अपने आपको महत्वपूर्ण घोषित करना चाहता है तो शायद मंच की सार्थकता समाप्त हो जाती है। वर्तमान समय में जो मच हैं, वह चाहे प्रगतिशील लेखक सघ हो, जनवादी लेखक संघ हो, उनकी साख इसी बात पर निर्भर करती है कि वे कितने नए लेखकों को सामने लाते हैं। एक जमाने में प्रगतिशील लेखक संघ ने यह काम बहुत अच्छे ढंग से किया था।

एक समय कानुपर का प्रगतिशील लेखक संघ दो हिस्सों में बट गया था। तब आप एक हिस्से से जुड़ गए थे। क्या आप आज भी प्रगतिशील लेखक संघ में हैं?

कानपुर में प्रगतिशील लेखक संघ एक जमाने में स्वर्गीय ललित मोहन अवस्थी के इर्द-गिर्द घूमा करता था, लेकिन उनकी क्रियाशीलता और विविधता समाप्तप्राय थी। उस समय सर्वश्री हृषीकेश, सिंदूर, नरेशचंद्र चतुर्वेदी तथा कई अन्य स्थानीय लेखकों ने तय किया कि प्रगतिशील लेखक संघ को सक्रिय किया जाए। चूकि मैं लखनऊ से संबद्ध रहने के कारण यशपाल से जुड़ा रहा था और कहीं दूर तक उनसे प्रभावित भी था। मुजफ्फर नगर में था, तब भी प्रगतिशील लेखक सघ से जुडा हुआ था। अतः साथी लेखकों का प्रस्ताव मुझे भी पसद आया ओर

IV

प्रेम की दो दृष्टियां हैं - वैयक्तिक निष्ठावाली दृष्टि, जिसका प्रतिनिधित्व जयशंकर प्रसाद करते हैं और दूसरी सामाजिक निष्ठावाली दृष्टि, जिसका प्रतिनिधित्व प्रेमचंद करते हैं। आप इन दोनों में से किसे उचित मानते हैं?

जहां तक प्रेम का प्रश्न है, उसमें यदि यह किसी स्त्री और किसी पुरुष के बीच है, दोनों का भावनात्मक रूप से जुड़े होना या जुड़ना उसकी पहली शर्त है। इसके बाद प्रेम के अगले आयाम खुलते हैं। यदि वह प्रेम बिखर जाता है तो अगले आयामों की संभावना भी बिखर जाती है। वैसे भी प्रेम के लिए कोई आरोपित स्थितियां तैयार नहीं की जातीं। स्त्री और पुरुष के बीच वह हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता है। अगर होता है तो उसका पहला उद्देश्य या अर्थ दोनों गें भावनात्मक तादात्म्य के होने में निहित है। प्रेमचंद के साहित्य मे यदि प्रेम की स्थितियां उत्पन्न हुई हैं तो उसकी दो ही स्थितियां हैं-या तो लेखक ने उनके बीच अपने दृष्टिकोण को आरोपित किया है या फिर प्रेम हो जाने के बाद उसका उपयोग सामाजिक उद्देश्यों को विस्तार देने के लिए किया है। दूसरी स्थिति पहली स्थिति से बेहतर है। जहां तक जयशंकर प्रसाद के साहित्य का प्रश्न है, उसमें प्रेम स्त्री और पुरुष के बीच एक स्वाभाविक प्रक्रिया के रूप मे आया है। उसके बीच लेखक कहीं अपने दृष्टिकोण को उपस्थित नहीं करता और उसका उपयोग भी वह किसी उद्देश्य के लिए नहीं करता। हां, एक उद्देश्य अवश्य ढूढा जा सकता है-राष्ट्रधर्मिता का प्रक्षेपण। शायद यह इसलिए है कि उस जमाने मे आजादी की लड़ाई चल रही थी और प्रसाद उससे प्रभावित थे। चाहे उनके नाटक हों या कहानियां, नायिका उसी वीर पुरुष को प्रेम करती है, जो उसकी स्वतंत्रता की लड़ाई में भागीदार हो। उदात्त चरित्रों को प्रेम करने की यह परंपरा है तो पुरानी, परंतु उसका उपयोग प्रसाद ने आजादी के सामाजिक उद्देश्य को पुष्ट करने के लिए किया है। प्रेमचंद और जयशंकर प्रसाद के प्रेम की तुलना करे तो मुझे जयशंकर प्रसाद के साहित्य में वर्णित प्रेम अधिक स्वाभाविक और आत्मीय जान पड़ता है।

विवाह के बाद भी क्या प्रेम जस का तस रह पाता है या फिर तब जैनेंद्र का 'प्रेयसी मन में, पत्नी घर में' वाला सिद्धांत लागू होता है?

विवाह के बाद प्रेयसी के साथ रोमांस के स्तर वाला प्रेम तो नहीं ही

रहता। प्रेम के साथ धीरे-धीरे उनके अनुभव, सकारात्मक और नकारात्मक स्थितियां, पारिवारिक संबंध, सामाजिक स्तर तथा अपेक्षाएं आदि जुड़ने लगती है। अतः प्रेम के रोमैंटिक स्वरूप में अंतर आना स्वाभाविक है, लेकिन वह समय की माग और परीक्षणों से गुजरकर स्थायित्व तक पहुंचता है तो उसका रूप अधिक सकारात्मक हो जाता है। रोमांस प्रेम की आरंभिक प्रवृत्ति या स्थिति हो सकती है लेकिन वह प्रेम का अंतिम रूप नहीं होता। अंततः उसे हटना पडता हे, क्योकि वह शारीरिक और भौतिक प्रक्रिया अधिक है। जहां तक जैनेंद्र का प्रश्न है, उन्होने ये बात अपने अनुभव से कही या चमत्कार उत्पन्न करने के लिए, यह तो मैं नहीं कह सकता, लेकिन ऐसे लोग भी हैं, जिन्हें हमेशा एक प्रेमिका दिल में बसाए रखने का शौक होता है और ऐसे भी हैं, जो बाद में संपर्क में आने से प्रेम की नई स्थितियां उत्पन्न करने के लिए बाध्य हो जाते हैं, लेकिन जैनेंद्र का यह वक्तव्य कोई नियम नहीं बनाया जा सकता।

प्रेम में सेक्स की भूमिका को आप किस रूप में देखते हैं?

आज का जमाना प्लैटोनिक लव का तो है नहीं। जिस वातावरण में हम रह रहे हैं, उसमें सेक्स की भूमिका महत्वपूर्ण है। सिनेमा, टी.वी., विज्ञापन, पोस्टर्स, पाठ्य सामग्री इन सबमें सेक्स की पूर्व निर्धारित योजनाएं प्रदर्शित होती हैं। परिवारों में भी बावजूद उन सब वर्जनाओं के माता-पिता तथा अन्य संबंधियो के परस्पर व्यवहारों मे यौन संबंधो की निष्पत्ति होती है। ऐसी स्थिति में यदि ये कहा जाए कि प्रेम में सेक्स नहीं होना चाहिए तो यह बहुत व्यावहारिक नहीं होगा। वैसे भी प्रेम की जो पूर्व या आरंभिक स्थिति होती है, जिसे रोमांस कहा जाता है, के पीछे भी सेक्स का स्फुरण होता है। अतः सेक्स को काटकर प्रेम को देखना गलत होगा। खासतौर से तब, जबकि आधुनिक संसार फ्रायड को अपना सेक्स-गुरु मान चुका है।

विवाह के बाद दो में से कोई एक बेवफा हो जाए तो उसका इलाज आपकी दृष्टि में क्या होना चाहिए: तलाक या कुछ और?

जंहां तक बेवफाई का प्रश्न है, यह एकतरफा कभी नहीं होता। इसके बहुत से सामाजिक, व्यक्तिगत और मनोवैज्ञानिक कारण होते हैं, लेकिन स्थिति यदि यहां तक पहुंच जाए कि पति-पत्नी का साथ रहना असंभव हो जाए और दोनो के बीच मानसिक तनाव बढ़ने लगे तो पहले अलग रहकर यह देखना चाहिए कि क्या अभी भी कुछ ऐसे अंकुर बाकी हैं, जिनसे अच्छे संबध पुनः विकसित हो सकते है। इस दृष्टि से मैं मुस्लिम पद्धति में 'तलाक' से पहले के समय को अलग-अलग

बिताने की विधि को ज्यादा वैज्ञानिक मानता हूं, जिससे दोनों पक्षों को अपना मूल्यांकन करने का अवसर मिल जाता है। फिर भी, यदि दोनों इससे सहमत हो कि साथ नहीं रहा जा सकता तो फिर तलाक ले लेना चाहिए, लेकिन यदि बच्चे हो तो उस स्थिति में प्राथमिकता बच्चों को देनी चाहिए।

तलाक की वर्तमान कानूनी पेचीदगियों में दोनों पक्षों के सालोंसाल तक अटके रहने की स्थिति को लेकर आप क्या सोचते हैं? क्या कनाडा जैसे पश्चिमी देशों की तरह 'कामन लॉ' जैसे सरल कानून को समर्थन देना पसंद करेंगे?

कोर्ट-कचहरी में सालोंसाल तक अटके रहने की स्थिति वहीं आती है जहां संबंध बहुत खराब हो जाते हैं और आर्थिक पहलू उलझ जाते हैं। दरअसल हमारा समाज अभी तलाक की मानसिकता से पूरी तरह जुड़ा नहीं है, अन्यथा स्वस्थ परंपरा तो यह होनी चाहिए कि अंतर्विरोध यदि इतने बढ़ गए हों कि साथ रह सकना असंभव हो गया हो तो शत्रुओं की तरह अलग होने की बजाय मित्रो की तरह अलग हो जाएं, लेकिन हमारा समाज एक तो आर्थिक दृष्टि से कमजोर है दूसरे हमारी मानसिकता तलाक को अभी समाधान के रूप में स्वीकार नहीं कर पाती। फिर बच्चे हमारे समाज में एक महत्त्वपूर्ण भावनात्मक आधार होते है। उनके प्रति हमारा दायित्व धर्म से जुडा हुआ है। इस पृष्ठभूमि में तलाक से पहले का समय एक तरह की शत्रुता निर्मित करने की प्रक्रिया से गुजरता है। इसे सामान्य होने में अभी समय लगेगा। यह तभी होगा, जब हम पाश्चात्य देशों की तरह इसके आदी हो जाएं।

आपको नहीं लगता कि प्रेम में जो गहराई पहले की पीढ़ी में होती थी, अब अपेक्षाकृत कम दिखती है। इसका कारण आप पाश्चात्य संस्कृति के फैलाव में देखते हैं या कहीं और?

प्रेम को लेकर मूल्य तो बदले ही हैं। ऐसा नहीं कि प्रेम में पहले निराशा गलतफहमियां या अलगाव आदि नहीं होते थे। जो हमारे आदर्श पुरुष हैं, उनके जीवन में भी इसके उदाहरण मिलते हैं, जहां प्रेम की स्थिति निरापद नहीं थी। दुष्यंत और शकुंतला का उदाहरण भी इसी मे आता है। राम और सीता प्रेम के बावजूद सामाजिक कारणों से अलग हुए। आज भी ऐसे बहुत से उदाहरण है जिनमें स्थितियां महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती हैं, लेकिन बीसवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध आते-आते प्रेम व्यावहारिक होने लगा। उसकी अपेक्षाएं भी पहले से ज्यादा हो गई। पुरानी बातों को एक दकियानूसी स्थिति माना जाने लगा। इसके बावजूद ऐसे भी उदाहरण हैं, जो प्रेम को जीवन में महत्व देते हैं, लेकिन कुल

मिलाकर आज का प्रेम उपभोक्ता संस्कृति से प्रभावित हुआ है। इसीलिए कई बार प्रेम विवाहों में अपेक्षाकृत बिखराव जल्दी आता है।

V

आपकी पहली किताब कैसे छपी? नए लेखकों को अपनी किताबें छपाने के लिए तब क्या दिक्कतें उठानी पड़ती थीं?

नए लेखकों की किताबें छपने में तब इतनी दिक्कतें नहीं थीं। उन दिनो मैं इलाहाबाद में था। मेरी पहली दो किताबें लगभग एक साथ छपीं। 'नीम के फूल' किताब महल ने छापी तो 'चार मोती बेआब' भारती भंडार से छपी। तब प्रकाशक नए लेखकों को प्रोत्साहन देते थे। उनकी छोटी-छोटी किताबें छाप देते थे। उन दिनों किताबों के मूल्य एक-दो से लेकर चार-पाच रुपये तक होते थे। अब शायद लागत ज्यादा आती है। इसलिए नए लेखकों को छापने का जोखिम उठाने को प्रकाशक आसानी से तैयार नहीं होते। इस मामले मे शायद हर शहर का अपने किस्म का एक वातावरण होता है। इलाहाबाद में बडे लेखक कह देते थे तो प्रकाशक नए लेखक की किताब आसानी से छाप देते थे। छोटे शहरों के लेखकों को, हो सकता है कि तब भी परेशानी होती रही हो, पर मुझे नहीं हुई।

नए लेखकों को रायल्टी देने में प्रकाशक प्रायः आनाकानी करते हैं। आप अपने अनुभव के आधार पर इस संदर्भ में रोशनी डालेंगे।

प्रकाशक उन दिनों ईमानदारी से 15 प्रतिशत रायल्टी लेखकों को देते थे। मुझे भी दी। इस मामले में मैं सौभाग्यशाली रहा कि किसी भी प्रकाशक ने कभी भी मेरी रायल्टी नहीं मारी। देर-सवेर भुगतान कर ही दिया।

किताबों के दूसरे-तीसरे संस्करण कम ही छप पाते हैं। आपकी किताबो के साथ भी ऐसा ही हुआ। इसका क्या कारण लगता है आपको?

दोनों प्रारंभिक किताबों के संस्करण नहीं हुए। उन संग्रहों की कहानिया मेरी सारी कहानियों के संग्रह में अब फिर से छप रही हैं। कई उपन्यासों तक के सस्करण नहीं हुए। इसकी वजह मेरा कानपुर में रहना रहा या कि बार-बार प्रकाशकों से मेरा आग्रह न कर सकना, कुछ कह नहीं सकता। मेरे बहुचर्चित उपन्यास 'यथाप्रस्तावित' तक का रिप्रिंट नहीं हुआ। हां, 'जुगलबंदी' तथा 'लोग के चार-चार संस्करण जरूर छपे। दो संस्करण 'दो' के हुए और दो ही संस्करण 'प्रजा ही रहने दो' के हुए। आत्माराम एंड संस ने दो खंडों में मेरे आठ उपन्यास छापकर किसी हद तक इस कमी को पूरा कर दिया है, लेकिन पता नहीं क्यो, प्रकाशक किताबों के रिप्रिंट करने से हिचकिचाते और कतराते हैं और किसी के

पीछे पड़ना मेरी आदत नहीं है। बार-बार आग्रह करता तो संभव था कि प्रकाशक रिप्रिंट कर देते, पर मैं ऐसा नहीं कर सका।

आपको पहला पुरस्कार कब, कहां से और किस किताब पर मिला और राशि कितनी मिली थी?

1978-79 की बात है शायद। मेरे नाटक 'चेहरे-चेहरे किसके चेहरे' को उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान का सात हजार रुपये का भारतेंदु पुरस्कार प्रदान किया गया था।

आपके उपन्यास 'जुगलबंदी' या 'परिशिष्ट' को साहित्य अकादमी पुरस्कार मिलना चाहिए था, जबकि उससे कमजोर किताब 'ढाई घर' पर आपको वह दिया गया। इसका क्या कारण समझते हैं आप, उम्र या कोई और बात?

उम्र की इसमें क्या बात है। 'जुगलबंदी' या 'परिशिष्ट' को लोगों ने उपयुक्त नहीं समझा होगा, इसलिए नहीं दिया। यशपाल, जैनेंद्र और अज्ञेय को बहुत बाद में पुरस्कार मिले और उनकी कमजोर किताबों पर मिले। मुझे तब न देकर बाद मे क्यों दिया, क्या कह सकता हूं। पता चला था कि किसी को नहीं देना चाहते थे, इसलिए मुझे देकर बला टाल दी। इसी तरह जिस वर्ष विनोद कुमार शुक्ल के उपन्यास को अकादमी पुरस्कार मिला, उस वर्ष मंजूर एहतेशाम का उपन्यास 'दास्ताने-लापता' ज्यादा डिजर्विंग था। मंजूर एहतेशाम को इसलिए भी दिया जाना चाहिए था कि अभी तक किसी मुस्लिम हिंदी लेखक को अकादमी पुरस्कार नहीं मिला है। राही मासूम रजा का 'आधा गांव' और शानी का 'काला जल' अकादमी पुरस्कार के हकदार थे, पर उन्हें नहीं मिला तो फिर नहीं ही मिला। अब यही मंजूर एहतेशाम के साथ हो रहा है। अब्दुल बिस्मिल्लाह की 'झीनी-झीनी बीनी चदरिया' को क्यों नहीं मिलना चाहिए था अकादमी पुरस्कार? किसी महिला लेखक को इस बार दे सकते थे। मैत्रेयी पुष्पा का 'चाक' प्रबल दावेदार था। उम्र को ध्यान में रखने पर किसी लेखक की श्रेष्ठ कृति पुरस्कृत होने से रह जाती है और बाद में उसकी कमजोर कृति पुरस्कृत हो जाती है और पुरस्कृत कृति का ही भारत तथा विश्व की और भाषाओं में अनुवाद होता है। ऐसा हिंदी की ही नहीं, सारी भारतीय भाषाओं की कृतियों के साथ होता है। इससे अततः साहित्य का नुकसान होता है। साहित्य अकादमी को अपनी इस रीति और नीति पर पुनर्विचार करना चाहिए और अनुवाद लेखक की मर्जी से उसकी श्रेष्ठतम कृति का ही करवाना चाहिए, यदि वह वर्ष की सर्वश्रेष्ठ कृति की बजाय

बाहर न भीतर बल्कि इधर उधर

गंगाप्रसाद विमल

एक त्रासदी की शुरुआत भी है ग्लोबलाइजेशन

उत्तर काशी में 3 जून, 1939 में जन्मे गंगाप्रसाद विमल की प्रमुख कृतियां हैं : 'मृगांतक', 'मरीचिका', 'बाहर न भीतर', 'अतीत में कुछ', 'इधर-उधर' तथा 'बोधिवृक्ष'। इटली के कला विश्वविद्यालय, उत्तरप्रदेश हिंदी संस्थान तथा बिहार सरकार, भारतीय भाषा परिषद, कलकत्ता आदि के पुरस्कारों, सम्मानों तथा अलंकरणों से सम्मानित-पुरस्कृत। दुनिया के अनेक देशों की यात्राएं कर चुके डॉ. गंगाप्रसाद विमल जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में प्रोफेसर तथा केंद्रीय हिंदी निदेशालय के निदेशक रह चुके हैं।

लेखन की ओर झुकाव कब और कैसे हुआ?

आज इसकी ठीक-ठीक स्मृति नहीं है। बहुत मुमकिन है कि घर में किताबों की, लेखकों की चर्चाओं ने इस ओर मोड़ा हो। जब अक्षर ज्ञान मिला, तब अक्षरों को जोड़ने का जो खेल था, वह अल्मारियों मे रखी किताबों के शीर्षकों को पढने से जुड़ गया और अपने बराबर एवं अपने से बडे लोगो से जल्दी पढ़ डालने की आदत ने किताबों में लिखे को भी पढ़ने के लिए प्रेरित किया, परन्तु लेखन की ओर झुकाव का एक और पक्ष यह भी है कि हिमालय के जिस इलाके में हम रहते थे, वहां प्रकृति रूप न केवल विलक्षण और विरल था, अपितु वह निरन्तर परिवर्तनशील भी था। उसे संरक्षित करने की कोई विधि नहीं थी। बस, स्मृति में ही उसे सुरक्षित रखा जा सकता था। शब्दों से उसे चित्रित करने की कला से मै अनभिज्ञ था। चित्रों द्वारा अंकित करने की कला में दक्ष न होने के कारण मैं अक्सर ऐसी तस्वीरों की तलाश में रहता था, जिनमें देखे हुए दृश्यों की समानता हो। आज विचित्र लगता है, किन्तु धुर बचपन में अपने चचेरे भाई को मैं तस्वीरें बनाने के लिए विवश किया करता था, परन्तु हर तस्वीर, चाहे कितनी भी अच्छी क्यों न बनी हो, अपेक्षाओं को पूरा नहीं कर पाती थी। फलतः एक किस्म की

निराशा हाथ लगती थी। यही एक बिन्दु है, जिसने मुझे लिखने की ओर प्रेरित किया। मुझे अच्छी तरह याद है कि बहुत मेहनत से पिता के सरकारी पैड के कागजों को जोड़कर एक कापीनुमा मोटी-सी लेखन पुस्तिका बना ली थी। पहले पन्ने पर खेतों में लहलहाती पीली सरसों की एक कविता था। उसके बाद गद्य-पद्यनुमा दूसरी चीजें। अब वह सामग्री उपलब्ध नहीं है, परन्तु इतना याद है कि बहुत गोपनीय दस्तावेज की तरह उसे सहेजकर रखने की कोशिश थी। बाद मे जब ग्रीष्म में फिर गांव जाना होता था तो एक निपट एकान्त में कुछ न कुछ लिखने की तीव्र इच्छा जागती थी। इतनी तीव्र कि वह इच्छा लालटेन या गैस के हण्डे की रोशनी में रात को भी कुछ न कुछ लिखवा डालने के लिए विवश करती थी। आज जब लिखने के आरंभिक दिनों को याद करता हूं तो एक खुशनुमा-सी याद किसी हल्की रोशनी की तरह, एक अजानी-सी खुशबू का अनुभव देती है।

एक दूसरा कारण भी लिखने की ओर मुड़ने का है। और वह है अच्छे साहित्य का सामना। अच्छे से मेरी मुराद एक ऐसे सूचनात्मक ज्ञानवर्धक साहित्य से है, जो मन को परितृप्त करता था। उस साहित्य में प्रेरणादायी साहित्य भी शामिल है। हालांकि आज वय के इस पड़ाव में वह प्रेरणादायी साहित्य बेहद उबाऊ, कृत्रिम और अर्थहीन जरूर लगता है, परन्तु आरंभ के दिनो मे उसकी शैली, उसमें वर्णित जोखिम के प्रसंग जीवन की अद्‌भुत चीजें लगती थी। कुछ नाटक, कहानियां, उपन्यास और न समझ में आने वाले आध्यात्मिक साहित्य से भी आरंभ के लेखन के दिनों में सामना हुआ था। धीरे-धीरे बदलती हुई दुनिया के साथ जवान होना, शहरों-कस्बों में नए-नए मित्रों के साथ खुली आंखो से आधी दुनिया पर चर्चा करना और अपने एकान्त में कुछ चेहरों के साथ बात करना आदि कुछ ऐसे नए प्रसंग थे, जो लेखन की आद्य सामग्री थे। मैं इन्हीं के साथ बड़ा होने की कामना से भरा था और लेखन की दुनिया मे आकर एक वृहद सवाद से जुड़ने के उत्साह से भी भरा था। शायद यही उत्साह था, जिसने मुझे बराबर बल दिया।

पहली रचना कब और कैसे लिखी गई और वह कब, कैसे और कहां छपी?

1954 में अपनी शिक्षा के आरंभिक चरण में इलाहाबाद के एक कॉलेज मे प्रवेश मिला था, वहा अपने साथियों के बीच पंजाबी, बिहारी मूल के ऐसे लोग मिले, जिन्हें संस्कृति से इस हद तक लगाव था कि पढते तो हम लोग विज्ञान थे, किन्तु कविता, नाटक और चित्रकला पर बहसें करते थे। उन्हीं लोगों के बीच मैने अपनी आरंभिक छंदोबद्ध रचनाएं सुनाई थीं। बाद में गद्य रचनाएं भी लिखी गईं।

उन दिनो मेरे निकटस्थ मित्र जगदीश श्रीवास्तव प्रवासी (जो स्वय एक सिद्धहस्त गीतकार थे) बराबर प्रेरित करते रहते थे कि मेरी रचनाए छपनी चाहिए। उन्होने कुछ रचनाएं लेकर, उन्हें संशोधित कर कुछ पत्रिकाओं को भेजा भी था। वे सब की सब प्रकाशित हो गई थीं। उन रचनाओं में प्रवासी का हस्तक्षेप कमाल का था। छंदहीन कविताओं को छंदबद्ध रूप मे रूपान्तरित करने मे वे सक्षम थे। जहा तक मुझे याद है, मेरी पहली रचना 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' जैसी एक छंदयुक्त लबी कविता थी और महज संयोग था कि यह कविता थोड़े-थोड़े अंतराल के बाद तीन जगह प्रकाशित हुई थी। उस समय की साहित्यिक और गैर-साहित्यिक पत्रिकाओं में छपने का सिलसिला जारी हो गया था, परन्तु मैं सोचता था कि लिखा वह जाना चाहिए, जो लिखा नही गया हो। और इस आग्रह के रहते मैं एक तरह का प्रयोगधर्मी सृजन करने लगा। उसमें बहुत से जोखिम थे। पहला जोखिम तो यही था कि हिंदी के आलोचक किसी नई कृति को समझने का विवेक विकसित नहीं कर पाए थे। उनके लिए अज्ञेय और इलाचन्द्र जोशी को पचाना ही मुश्किल काम था। 1964 में जब मैं अपना पहला उपन्यास 'अपने से अलग' पूरा कर चुका तो उसे कुछेक लोगों को पढाना चाहता था। उसे कुमार विकल ने पढ़ा था। कुमार ने उसमे कुछ परिवर्तन सुझाए थे। मैंने जिद में उनकी सलाह नहीं मानी, परन्तु कुमार को वह उपन्यास इसलिए पसन्द था कि उसके कुछेक सच्चे विवरणों के वे स्वयं गवाह थे, तथापि उसका प्रकाशन इसलिए कुछ बरस रोकना पड़ा कि वे सच्चे विवरण उन मित्रों से जुड़े थे, जिनसे अभी तक चर्चा नही हुई थी। नए लेखक के लिए तरह-तरह की अड़चनें होती हैं। जमे हुए आलोचक नए लेखकों की ओर उपेक्षा का भाव रखते हैं। यही कुछ मेरे प्रारंभिक लेखन के साथ होना तय था, किन्तु मैंने लिखने की अपनी रणनीति कुछ ऐसे बदली कि मेरी प्रारंभिक रचनाओं पर लोगों का ध्यान गया और उस पर चर्चाएं हुईं, परन्तु जैसा कि प्रयोगधर्मी कृतियों के साथ होता है, एक जोखिम तो बराबर बना ही रहता है कि उसे पढ़ने की पारंपरिक आदत हमेशा बाधा के रूप में ही सामने आती है।

पहली किताब कब और कैसे छपी?

पहली किताब तो मै उपन्यास ही देना चाहता था, किन्तु उससे पहले प्रेमचन्द संबंधी एक किताब डॉ. इन्द्रनाथ मदान ने मुझसे तैयार करवा ली थी। उस पर कुछ समीक्षाएं तत्काल प्रकाशित हुई थीं। राजकमल प्रकाशन ने उस समय जो प्रतिष्ठा हासिल की थी, उसका ही यह प्रतिफल था। वे सदैव पत्रिकाओ को नई-नई कृतिया समीक्षार्थ भेजते थे। यह परंपरा प्रकाशकों की धनलोलुप

प्रवृत्ति के रहते अब नष्ट हो गई है प्रकाशन प्रतिष्ठानो की खरीद फरोख्त की नई प्रवृत्ति ने हिंदी प्रकाशन का स्तर तो गिराया ही है, उसे इस बिन्दु पर सीमित कर दिया कि फायदा पहुंचाने वाले लोगों पर ही ध्यान केन्द्रित किया जाए और खराब साहित्य को प्रचारित करने का काम किया जाए। कुल मिलाकर आज स्थिति बहुत दयनीय है। प्रकाशक के पास बाजार के बारे में कोई ज्ञान नहीं है। पाठको से वह कुछ भी 'फीड बैक' नहीं लेते। संपादक नाम का विज्ञ पुरुष किसी भी प्रकाशक के पास नहीं है। हिंदी प्रकाशन जिस प्रगतिशील तेवर के साथ आगे बढ रहा था, अब वह एकदम आदिम अवस्था की ओर जाता प्रतीत हो रहा है। पहली किताब के प्रकाशन की ऊष्मा और ही ढंग की थी। उस पर आरंभिक चर्चाएं एक तरह के रचनात्मक संवाद की-सी अनुभावना देती थीं। आज वह स्थिति स्वप्न जैसी लगती है।

पहला पुरस्कार किस किताब पर मिला?

पहला पुरस्कार, जो थोडा महत्वपूर्ण है, वह उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा मेरी पुस्तक 'आधुनिकता' पर प्राप्त हुआ था। वह राशि बहुत ज्यादा नहीं थी। दूसरी पुस्तक पर मिले पुरस्कार की राशि मैंने परिजनों के बीच बांट दी थी।

आलोचकों ने आपकी कृतियों के साथ न्याय नहीं किया। आपको कैसा लगता है?

मुझे आलोचकों से शिकायत नहीं है। असल में आलोचक मेरी समस्या नहीं हैं। आलोचक एक परजीवी जमात है। परजीवी की अपनी सीमाएं होती हैं। वह जिन पर आश्रित होता है, उनकी नमकहलाली करता है। हिंदी आलोचक ने अपनी जो हास्यास्पद स्थिति बना ली है, वह अवश्य चिंतनीय है। इस पर बात होनी चाहिए। आलोचना के विविध पक्षों पर लंबी बहसें होनी चाहिए ताकि आलोचना को अपने अल्प विकास से मुक्ति मिले।

क्या कारण है कि प्रगतिशील होते हुए भी आपको कुछ लोगों की सूचियों में नहीं गिनाया जाता?

सूचियों में नाम जुड़ने की मेरी समस्या नहीं है। इसके बारे में तो वे धुरंधर ही बता सकते हैं, जो कई दशकों से सूचियां बना ही नहीं रहे हैं, बल्कि उनमे बार-बार फेरबदल भी कर रहे हैं। समस्या केवल यह है कि घोषित प्रगतिशीलो का आचरण कैसा है, उस पर खुलकर कभी प्रगतिशीलों ने चर्चा ही नहीं की। आज स्थिति ज्यादा विकट इसलिए हो गई है कि वामपंथी दलों की अन्यान्य शाखाएं हो गई हैं। वे उन्हीं को प्रगतिशील कहते हैं, जो उनके दल में हैं। यह एक भयंकर दुर्घटना है। मेरी दृष्टि में राजनैतिक दलों से संबद्ध लोग राजनैतिक

कार्यकर्ता हैं। उनमें और सृजनशील लेखकों में अंतर करना होगा। सच्चे अर्थों मे हर लेखक, यदि वह लेखक है तो प्रगतिशील होता है। वह हमेशा सत्ता के प्रतिपक्ष मे रहता है, क्योंकि उसकी चिंता 'मनुष्य' है, जबकि सत्ताएं किसी न किसी तरह से आदमी को सताती हैं। विचारधाराएं भी जब सत्ता बन जाती हैं तो वे भी व्यक्ति की स्वतंत्रता का अपहरण करती हैं।

इस संदर्भ में जरूरी है कि आप प्रगतिशीलता की अपनी अवधारणा का थोड़ा खुलासा करें।

प्रगतिशीलता एक सतत प्रक्रिया है। जब भी व्यवस्था विरूप हो जाती है और अमानवीकरण तेज होता है तो एक प्रगतिशील स्वर उसके विरोध में आ जाता है। कबीर ने अपने समय में राजसत्ता और धर्मसत्ता दोनों का विरोध किया था। आज भी प्रगतिशीलता की यही कसौटी खरी मानी जा सकती है। आधुनिक समय में प्रगतिशीलता एक वैज्ञानिक दृष्टि के रूप में स्वीकार की गई है। मै सोचता हूं कि प्रगतिशील दृष्टि निरंतर मनुष्य को परिष्कृत करती चलती है। इसलिए जिस कठमुल्ला प्रगतिवादी आचरण को हम प्रगतिशीलता मान बैठे हैं, वह ठहरी हुई, बीते जमाने की चीज है। मनुष्य इस सृष्टि का सबसे विलक्षण निर्माण है, उसका सर्वांग विकास जिस चिंतन का विषय है, वही प्रगतिशील दृष्टि है।

कभी आप पर यह आरोप लगा था कि आपने बाएं बाजू से बाएं बाजू पर हमला किया है। यह क्या चक्कर था?

आज साम्यवादी खेमे में जिस उदारतावाद का अवतरण आप देख रहे हैं, वह पहले नहीं था। इसलिए हर उस स्वर को 'हमले' की संज्ञा दी जाती थी, जिससे विरोध की 'बू' आती हो। वर्षों पहले मैंने एक वक्तव्य में यह कहा था कि 'मैनिफेस्टो सृजनशील लेखक का आदर्श नहीं है'। मेरा आशय यह था कि आप रचना के लिए शर्तें नहीं लगा सकते। हो सकता है कि अच्छी रचना, व्यवस्था के तिरस्कार में लिखी जाए। साम्यवादी साहित्य में जो एकरसता दिखाई देती है, आज उसका खुलकर विरोध हो रहा है। जब तक यह विरोध न था, सृजन का धारदार पैनापन गायब था। मेरा ख्याल कि अपने आप में यह मानना कि 'सृजनात्मकता' पक्षधरता नहीं है, स्वयं स्पष्ट कर देता है कि आप सृजन को अपनी जरूरतों के अनुरूप, मांग के अनुसार नहीं ढाल सकते। मुझ पर तरह-तरह के आरोप लगे हैं। मैं उन्हें संकीर्ण दृष्टिवालों की नादानी समझता हूं और उनके लिए एक ग्लानिपूर्ण दया के भाव से खुद को अपराधी समझता हूं। प्रश्न मेरे व्यक्तिगत विचारों का नहीं है। सवाल है कि हमने बाए बाजू को इतने वर्षों क्यों इतना कमजोर बनाए रखा?

लेकिन ऐसा भी कुछ हो गया था कि प्रगतिशीलता कुछ साम्यवादी देशो की बपौती-सी बन गई थी। उनका पक्षधर होते ही आपको उसका सर्टिफिकेट मिल जाता था?

अगर कोई लेखक ऐसे 'सर्टिफिकेट' से गौरवान्वित होता है तो मुझे उस पर संदेह होता है। हिंदी में प्रगतिशील बनने की होड में बहुतेरे लोग इस किस्म की गलतफहमी के शिकार होते रहे हैं। प्रगतिशीलता किसी देश की बपौती नही है न किसी पार्टी से संबंधित लोगों की। निराला को मैं एक प्रगतिशील लेखक मानता हूं। उन्हें किसी प्रमाणपत्र की जरूरत नहीं है।

निराला की बात न करें, लेकिन आज किसी भी नए या पुराने लेखक को अचानक आकाश में उठाकर सितारे की तरह बिठाने और फिर गिराने का चक्कर चलता तो है ही, उसे लेकर आप क्या सोचते हैं?

मैं सोचता हूं, यह बहुत ही गलत तरीका है और इससे लगता है कि चद लोग एक गिरोह के रूप में सक्रिय है। एक अच्छे लेखक को लगातार ऐसे लोगो से लड़ना चाहिए। नए लेखक के सामने कुछ वास्तविक दिक्कतें हैं। उन दिक्कतो का वह सामना करने के लिए अभिशप्त है, पर उसे उन लोगों की परवाह नहीं करनी चाहिए, जो संरक्षण की मुद्रा में उसका 'प्रमोशन' करते हैं।

हवा में लाठी भांजने की बजाय यदि आप उनके नाम लें तो नए लेखको को ऐसे लोगों से सावधान रहने में आसानी होगी।

छोड़ो यार, ये सोए हुए लोग हैं। इन्हें सोता ही छोड़ देना चाहिए। इनका नाम लेकर इन्हें महत्व देना अब उपयुक्त नहीं है, जबकि अच्छे रचनात्मक लेखक बहुत आगे बढ़ गए हैं। श्रीकांत वर्मा और निर्मल वर्मा भी तो कभी उन सोए लोगो की लिस्ट में थे, लेकिन इन दोनों की रचनाओं ने उन गिरोहबाजों को पीछे छोड दिया। इसीलिए मैं अपनी बात रचनात्मकता पर केंद्रित करता हूं, लिस्टबाजों पर नहीं।

वामपंथी पार्टियों से जुड़े लेखकों के सामने आनेवाले संकटों पर अपने अनुभवों के आधार पर क्या कहना चाहेंगे?

वामपंथी दलों में काम करना बुरी बात नहीं है। अच्छे-अच्छे लेखक बुद्धिजीवी वामपंथी विचारधारा के पक्षधर रहे हैं। दक्षिणपंथी खेमे में आप बुद्धिहीन कठमुल्लों का जमावड़ा देखेंगे। प्रगतिशीलता एक मूल्य है, उससे जुडकर कीमत भी चुकानी पड़ती है लेखकों और बुद्धिजीवियों को, जिसके लिए उन्हे हमेशा तैयार रहना चाहिए। वहां अच्छे सोच-विचार वालों की जरूरत है

लेखक एक तरह का सास्कृतिक दूत है। उसे बहुत गंभीरता से 'पार्टी' में अपनी भूमिका के बारे में सोचना चाहिए। उसे बराबर 'पार्टी' के उन प्रस्तावों के बारे मे अपने विचार रखने चाहिए, जो जनता की सांस्कृतिक विरासत के बारे में दबाव डालते हैं। हिंदी लेखकों (जो पार्टियों से जुड़े हैं) की दयनीयता तो देखने के काबिल है। उन्होंने वामपंथी दलों के बीच राहुल सांकृत्यायन जैसे लेखकों का साहस भी नहीं दोहराया। लेखक और पार्टी कार्यकर्ता दो अलग-अलग चीजें हैं। एक व्यक्ति पार्टी लेखक हो सकता है, पर यदि कोई लेखक मुक्त ही बना रहना चाहे तो मेरा ख्याल है कि उस पर पार्टी कभी दबाव नहीं डालेगी और अगर कभी पार्टी दबाव डालती है तो यह मार्क्सवाद का विरोध करना है। पार्टी सबद्ध पार्टी लेखकों का कार्य 'प्रोपेगेंडिस्ट' का है। अतः उन्हें बहुत संकट नहीं है, परन्तु एक स्वतत्र लेखक (सृजनशील लेखक) का पार्टी संपर्क यदि उसके लेखन पर हस्तक्षेप बनता है तो मेरी राय है कि उसे पार्टी छोड़ देनी चाहिए।

बीसवीं सदी के बीतने के साथ परिवर्तन की गति और भी तेज हो गई है। भारत में हिंदी और हिंदी के साहित्य को लेकर आप कितने चिंतित या निश्चिंत हैं?

बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में सुधार, स्वाधीनता और समता के जबरदस्त आदोलन हुए हैं, किंतु वे धीरे-धीरे विचित्र किस्म के मायाजाल में फंस गए। स्थिति यह है कि बीसवीं शताब्दी के आरंभिक नारे आज नाकाफी लगते हैं। स्पष्ट है कि परिवर्तन का चक्र कुछ ज्यादा ही तेजी से घूमा है। सदी के अंत में उनका आकलन कर जो निष्कर्ष हाथ लगते हैं, वे डरावने भी हैं और खूंखार भी। डरावने इस अर्थ में कि शब्द की पवित्रता केवल कट्टरपंथियों के हिंसक आचरण की चौहद्दी में गिरफ्तार हो चुकी है। साहित्यकार 'शब्द' की मार्फत जिस नैतिकता और पवित्रता का हामी था, वह हवाई-सी चीज़ प्रतीत होने लगी है। खूंखार इसलिए कि साहित्य जिस धीमी गति से संसार के क्रियाकलापो के बारे में विमर्श करता है, उससे यह प्रतीति होती है कि शायद साहित्य अब अतीत का संग्रहालयो को सुशोभित करने वाला वृतांत होकर रह जाएगा। इस आलोक में हिंदी साहित्य की परीक्षा करें तो हम पाएंगे कि रचनात्मक शिखर को स्वीकृति दिलाने के लिए जो यत्न होने चाहिए थे, वे विचारधाराओं, धर्म-विश्वासों और कतिपय निजी कारणों से स्थगित हो गए हैं और नया रिवाज यह चल निकला है कि जिससे तात्कालिक लाभ हो सके, उसी पक्ष का पक्षधर बन लिया जाए। नामीगिरामी आलोचक और संस्थाओं के स्वामी रचनात्मक लेखकों के गोल प्रमाण के तौर पर

देखे जा सकते हैं। सृजनात्मक ऊष्मा सूखकर बहुत ही सीमित हो गई है। अत निश्चित रूप से तो यही कहा जा सकता है कि अंग्रेजीदां लोगों ने भारतीय भाषाओं को पछाड़ने के लिए उन्हें पिछड़ा घोषित करने में कोई कसर नहीं छोडी जिसके चलते साहित्य में नया हस्तक्षेप कम दिखाई पड़ता है। कभी-कभी एक प्रदत्त समय में सन्नाटा अर्थवान भी होता है। शायद इस परिवर्तन से कोई नई रचना नए तेवर के साथ आकर हतप्रभ करे।

इन दिनों आपका लेखन किस हालत में हैं? लिख क्या रहे हैं और आगे क्या लिखने के इरादे हैं?

मैं निहायत आलसी आदमी हूं। थोडा-थोडा लिखकर एकदम यह कहने की स्थिति में नहीं हूं कि कोई बडी चीज़ आएगी। शायद मेरे पाठकों को आश्चर्य भी न होगा कि एक लंबी चुप्पी के बाद मैं एक बड़ी कथाकृति के साथ उपस्थित हो जाऊं। अभी मैं कुछ कविताओं पर काम कर रहा हूं और इनका क्षेत्र हिमालय है। इरादे बहुत नेक हैं। कई चीज़ें सामने हैं, मसलन नए ढंग की कुछ कहानिया लिखने का मन है। देखो, कब पूरा कर पाता हूं।

एक परिवार जो आपको अपने पिता से मिला था और एक ग्लोबलाइज्ड परिवार, जो आपको अपने बच्चों से मिला, इन दोनों परिवारों के लोगों के बारे में, उनके आपसी रिश्तों और रहन-सहन के बारे में थोडा विस्तार से बताएं तो पाठकों को शायद बदल रहे भारतीय समाज की एक मुकम्मल तस्वीर मिल सके...

यह बहुत बेचैनी पैदा करने वाला सवाल है। मेरे शब्दों पर जरूर ध्यान दे। पिता से एक बड़ा परिवार मिला था। एक बड़े परिवार की अपनी समस्याए थीं, पर उसमें एक खास किस्म की ऊष्मा थी। एक भरापूरापन था, पर वह धीरे-धीरे जब बिखरता है तो लगता है कि परिवर्तन ने संवेदना के केन्द्र विस्तृत कर दिए हैं या फिर ऐसे बदल दिए हैं कि उन्हें पकड़ने की हौंस बनी रहती है। मैं पिता की मृत्यु पर एक चौथाई शताब्दी पहले जब अपने गांव गया था तो अभी वहां गांव था। वहां परंपराओं का एक अपना अलग संसार था। मनुष्य के आचरण मे जो सस्कार था, वह एकदम मिट्टी से, हवा से, हिमालय पर्वतमाला के निष्कपट उजाले भरे अनुताप से गहरे में जुड़ा था। अब जो नए लोग आ गए हैं, वे अपनी दुनिया कैसी बनाएंगे, नहीं मालूम, पर यह नई दुनिया बहुत खुली नहीं है। आश्चर्य यह है कि जब हम दुनिया में बहुत खुलेपन मे आ गए हैं, तभी यह विचित्र सकोचन शुरू हुआ है। समाजशास्त्रियों का विषय है वे ही निर्णय दें तो ठीक।

मेरे लिए यह एक त्रासदी की शुरुआत है मै इसे ऐसा ही देखता हू आपने मुझे परेशानी में डालने वाले सवाल में फंसा दिया। मैं आपको कभी माफ नहीं करूंगा।

सच बोलता हूं तो कष्ट होता है, झूठ बोलता हूं तो क्या, ऐसा तो करता ही आया हूं। यह झूठ मुझे मेरे दोस्तों, मेरे समाज, मेरे वातावरण ने सिखाया है। मै इसमें लिप्त हूं। इससे छूट नहीं सकता। इस पर हंसता हूं। ठीक वैसे ही जैसे साहित्य की दुनिया के महंतों की कारगुजारियों पर हसता हूं। सच यह है कि जिस परिवार में हमारी हर इकाई 'इकलौती' थी, उस एकाकीपन ने सबसे पहले गहरे परिताप से सामना करवाया। मनोलोक के हिस्से-हिस्से को उसने प्रताडित किया। एकदम निजी दुनिया से आपको परिचित कराने के पीछे इरादा यह है कि लोग समझें कि 'ग्लोबलाइज्ड' होने की क्या कीमत चुकानी पड़ती है। उसके भौतिक हिस्सों का स्पर्श नहीं करूंगा, केवल संकेत देता हूं कि उसके चलते यानी दुनिया में फैलने के चलते अपनी इकलौती इकाई के एक बिंदु को मानसिक रूप से रुग्णता का विचित्र त्रास सहना पड़ रहा है और बाकी... अगर आप मेरी हसी, मेरे बेखौफ अंदाज से अर्थ निकाल पाएं तो शायद गुत्थी सुलझ जाए। सार यह है कि पिता के बाद के परिवार के उदार स्वरूप ने यह एहसास दिया है कि अब अपना सलीब खुद ढोना पड़ेगा और इसका हुक्म बाहर से नहीं, भीतर से आएगा। और सपने में ही सही, सत्यवादियों के झूठ से घायल कौरवी संस्कृति के ध्वजवाहकों की खौफनाक चीखें सुननी ही पडेंगी। शायद बीसवीं शताब्दी के हर सचेत के प्रारब्ध में यही संचित है।

कहकर विमलजी रुक गए, जैसे मैं एक दिन उदय प्रकाश की कहानी 'वारेन हेस्टिंग्ज का सांड़' पढ़कर रुक गया था, 'इंडिया टुडे' की साहित्य वार्षिकी मे। और मुझे तत्काल याद आया था विमलजी का उपन्यास 'मृगांतक', जैसे कुछ और लोगों को उदय प्रकाश की यह कहानी पढ़कर विभूतिभूषण वंद्योपाध्याय की कुछ कृतियां याद आई होंगी, जिनमें 'सांड़' वाले तथ्य प्रस्तुत किए गए हैं, पर मुझे 'मृगांतक' के संदर्भ में उदय प्रकाश का 'सांड़' उस तरह याद नहीं आया था, मुझे याद आया था इस तरह कि हिंदी में 'सांड़' की कोई परंपरा कहीं से बनती दीखती है क्या? मुक्तिबोध के 'ब्रह्मराक्षस', कमलेश्वर के 'जार्ज पंचम की नाक', रमेश उपाध्याय के 'देवी सिंह कौन' तथा कमल गुप्त के 'मैकाले का भूत' के अलावा और कुछ तो तत्काल याद नहीं आया था, पर 'मृगांतक' तत्क्षण याद आ गया था, जैसे प्रियंवद की कहानी 'बोधिवृक्ष' पढकर भीष्म साहनी की 'वांग्चू' याद आई थी, लेकिन उदय प्रकाश की 'टेपचू' पढकर 'वांग्चू' की नहीं, लूशुन की आ क्यू की सच्ची कहानी' याद आई थी और संजीव की 'आपरेशन जोनकी' भी इनके

पास में कहीं खडी है, मगर उनकी 'मानपत्र' पढ़कर कुछ याद नही आया था सिवा इसके कि संजीव भी अब शायद देरिदा के कायल हो गए है। सुधीश पचौरी की निगाह, ताज्जुब है कि संजीव की 'कथादेश' में छपी कहानी 'मानपत्र' पर क्यो नहीं गई, जबकि गंभीरसिंह पालनी का 'मेढक' उन्होंने तत्काल पकड़ लिया था अपनी प्रयोगशाला में उसकी चीरफाड़ करने के लिए, पर 'मानपत्र' छूट गया है शायद। हो गया न वही रेणु वाला हाल, विषयांतर कर देने का, क्या कहना था और क्या कह गया। उदय प्रकाश ने वारेन हेस्टिंग्ज का विस्तृत वृत्तांत दिया है 'साड' में, पर 'मृगांतक' में मेटकाफ का वैसा वृत्तांत नहीं है सिवाय इसके कि मेटकाफ जैसे अंग्रेजों को पौर्वात्य देशों के क्षितिज के तमाम रहस्यों को समझने की अजीब सनक थी। वारेन हेस्टिंग्ज को भी थी। कुछ लोगों का कहना है कि अग्रेज कौम का यह खोजी स्वभाव एक किस्म का शौक था, पर ज्यादातर लोगो का मानना है कि सूचनाएं एकत्र करना, चीजों का गहराई से अध्ययन करना लोक विश्वासों के जरिये उनकी कमजोर नब्ज पकड़ना और बाद में उन इलाको पर अपना आधिपत्य जमा लेना आदि इस शौक के पीछे के छिपे मंसूबे थे। उदय प्रकाश की कहानी में भी ऐसे वृत्तांत हैं। गंगाप्रसाद विमल की भोक्षु विद्या आदमी को बाघ बनाती है और वह बाघ जब रक्तपान करता है तो फिर से मनुष्य बनकर अमर हो जाता है, जिसे फिर कोई मार नहीं सकता। तब वह कोई भी संभव-असभव काम कर सकता है तो उदय प्रकाश ने 'सांड़' से 1857 में भारत का स्वाधीनता सग्राम शुरू करवा दिया। यह काम वह तिब्बत की आजादी के लिए भी कर सकता है यानी वही, हर असंभव को संभव कर देने की भोक्षु कला। उदय प्रकाश के 'टेपचू' को भी यह कला आती है, लेकिन विमलजी का 'मृगांतक' इस तरह की आने वाली हिंदी कथाओं का संकेत था, एक अग्रिम संकेत। बाद में कुछ और लोगों ने इस कला में पारंगत होने का प्रयास किया, जिनमें सुरेश उनियाल प्रमुख हैं और यहां मुझे उनकी कहानी 'खोह' की याद आ रही है, पर उदय प्रकाश का 'साड़' फिलहाल शिखर पर है, बशर्ते यह दूधनाथ के 'रीछ' की नियति की राह पर न बढ़ जाए। एक समय 'रीछ' शिखर पर लगता था, संजीव के 'अपराध' और सृजय के 'कामरेड का कोट' की तरह, पर फिलहाल शिखर पर प्रियंवद के 'बोधिवृक्ष' की छांव में बैठे 'सांड' के गले में संजीव का 'मानपत्र' पड़ा हुआ है और वह 'साड' गगाप्रसाद विमल के 'मृगांतक' को देख रहा है . एकटक, अपलक, घूरता हुआ। □

हिंदी के प्रथम कुलपति और कवि आलोचक

अशोक वाजपेयी

मनुष्य के स्थाई प्रजातंत्र हैं साहित्य और कलाएं

1941 में सागर (मध्य प्रदेश) में जन्मे अशोक वाजपेयी 1966 में जब अपना पहला कविता संग्रह 'शहर अब भी संभावना है' लेकर पाठकों के सामने प्रस्तुत हुए तो कोई नही जानता था कि हिंदी का यह नया कवि क्या-क्या करेगा, लेकिन इक्कीसवीं सदी की दहलीज पर सबको पता है कि यह हिंदी कवि अतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय का प्रथम कुलपति है, जिसे साठ का होने से पहले ही कविता पर साहित्य अकादमी पुरस्कार मिला और फिर दयावती मोदी कवि शेखर सम्मान भी। 'पहचान' सीरीज और कलावार्ता, पूर्वग्रह, समास तथा बहुवचन जैसी पत्र-पत्रिकाओं के संस्थापक-संपादक एव एक दर्जन से अधिक कविता संग्रहों के सर्जक इस कवि की कई आलोचना कृतियां उसे कवि-आलोचक का सम्माननीय दर्जा दिलवा चुकी हैं, लेकिन सर्जक को चैन कहां। सो, कुछ न कुछ करते और कहते ही नहीं रहना है, बल्कि 'कभीकभार' के मायाजाल से 'जनसत्ता' के नाम पर अभिव्यक्ति की 'अपनी सत्ता' भी बनाए रखनी है। खुद को साहित्य अकादमी पुरस्कार मिला, कवि शेखर सम्मान मिला, महात्मा गाधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय के कुलपति का पद मिला, वह तो सब जायज है, लेकिन 'नए इलाके में' अरुण कमल को साहित्य अकादमी पुरस्कार मिल गया तो... आज कौन-सा पुरस्कार ऐसा बचा है, जहां राजनीति और तिकड़मबाजी नहीं चल रही है। जिनकी चली, उन्होंने अरुण कमल को दिलवा दिया और फिर विनोदकुमार शुक्ल को। महात्मा गांधी और तोल्स्तोय को नोबेल पुरस्कार न मिलने और रवींद्रनाथ ठाकुर को मिल जाने में क्या कोई राजनीति नहीं थी? नित नए बवालों को जन्म देते रहनेवाले साहित्यिक योद्धा डॉ. नामवरसिंह की तरह हिंदी के सबसे अधिक विवाद और विनोदप्रिय रचनाकार और संस्कृतिकर्मी अशोक वाजपेयी से एक बातचीत।

आपकी आलोचना कृति 'फिलहाल' और 'पूर्वग्रह' की टिप्पणियो से लगता है कि आप आलोचक के दोटूक फैसले के विरोधी हैं?

सच्चे विरोध का, वैचारिक असहमति का मैं बेहद सम्मान करता हू। मुझे लगता है कि साहित्य और कलाएं मनुष्य का एकमात्र स्थायी प्रजातंत्र हैं, जहां दृष्टियों की बहुलता ही अस्तित्व का मूलाधार है। निर्णय का दोटूकपन अक्सर या तो तानाशाही का लक्षण है या विज्ञान की प्रवृत्ति। जैसा आस्कर वाइल्ड ने कहा : 'कलात्मक सत्य वह है, जिसका विलोम भी सच है।' इसलिए न तो लेखक और न ही आलोचक 'हां या नहीं' में जवाब देता या दे सकता है। दुनिया लेखक के फैसले का और साहित्य आलोचक के फैसले का इंतजार करते नही पड़े हैं। फैसले देनेवाला ऊपर और अलग होता है। दुनिया और साहित्य मे बीचोबीच घुसे लेखक या आलोचक फैसला नहीं देते। अक्सर दूसरी कोटि के लोग अपने सच या रुख के बारे में बिल्कुल आश्वस्त होते हैं, सच्चे और खरे लोग संशयग्रस्त होते हैं, कम से कम बीसवीं सदी में तो अवश्य ही।

भारत भवन में लोककला के 'रूपंकर' तथा 'रंगमंडल' के नाटकों में क्षेत्रीय कला रूपों और बोलियों के उपयोग से ऐसा लगता है कि एक तरफ धुर आधुनिकता और दूसरी तरफ धुर परंपरा के बीच आप किसी समन्वय और सामंजस्य की तलाश करते रहे हैं,क्या वह उचित, संभव और प्रासंगिक है?

हमारे यहां आधुनिकता और परंपरा में वैसा विरोध है ही नहीं, जैसा सतही ढग से पश्चिमी सोच-विचार से प्रभावित लोग मानते हैं। भारत भवन में प्रयत्न इस अवास्तविक द्वैत को लांघने का रहा है : शहर का चित्रकार तो 'कलाकार' है, लेकिन गाव का चितेरा या जंगल-पहाड़ों का आदिवासी कलाकार निरा 'कारीगर', इस धारणा का हम प्रतिकार करते रहे हैं। ये सभी समकालीन हैं, और समकालीनता के वैध संस्करण हैं। इसलिए यह कोई सदाशयी समन्वय की तलाश नहीं, भारतीय जीवन में विविध कला रूपों के सहअस्तित्व का स्वीकार है। यही बात बोलियों की है। उनकी विपुल संपदा का रंगमंच के लिए उपयोग हिंदी रंगभाषा को अधिक जीवनोन्मुखी और काव्यमय बनाने की कोशिश का हिस्सा है। देश के अनेक कलाकार और बुद्धिजीवी इस बात को पहचान रहे हैं कि भारतीय आधुनिकता पश्चिममुक्त आधुनिकता ही हो सकती है, जिसमें हमारी जातीय दृष्टियां, शैलिया जीवनानुभव और रूपाकार पश्चिम से सच्ची और सृजन-सार्थक मुठभेड़ कर सकते हैं। भारत भवन उसी प्रयत्न का एक सास्थानिक रूप है।

बड़ी पत्रिकाओं और समाचारपत्रों के जरिये आए साहित्य के बारे मे आपकी राय?

उनकी नजर ज्यादातर सच पर नहीं, सनसनी पर है, यथार्थ पर नही विवाद पर है। हिंदी में तो यह हाल है कि बड़ी पत्रिकाएं और समाचारपत्र हिदी पाठक को सब बताते हैं, राजनेताओं की व्यक्तिगत जिंदगी, सांप के बीच रहनेवाली लड़की की कथा, गोभी का अचार बनाने की विधियां, लेकिन साहित्य और पुस्तकों के बारे में नहीं बताते। जैसे न साहित्य और पुस्तकें लिखी जा रही हैं न ही उनके बारे में बताना कोई जरूरी है। उत्तरदायी मानसिकता, प्रबुद्धता या गहरी समझ बनाने-फैलाने में उनकी भूमिका अत्यंत अनमनी, लगभग संदिग्ध रही है।

आप पर अक्सर यह आरोप लगाया गया है कि आपने एक मंडली बना ली है, जिसे लोग 'पूर्वग्रह मंडली' के नाम से पुकारते हैं। यह मंडली सरकारी धन से प्रगतिशील और जनवादी विचारधारा को अपदस्थ कर रूपवादी विचारधारा को साहित्य की केंद्रीय धारा बनाने का प्रयास कर रही है?

कोई मंडली नही है, न बनाई गई है, न उसकी जरूरत है। जिन्हें मंडली दिखाई देती है, दरअसल मंडली उन्होंने बनाई है और परस्पर प्रशंसा और परनिंदा संसार की वैचारिक दिग्विजय के दिवास्वप्न में वे गिरफ्तार हैं। दूसरो के लिए कठघरे बनाना हमेशा ही अनैतिक है और साहित्य तथा कलाओं की दुनिया मे तो एक सर्वथा अक्षम्य अपराध। एक लेखक को यह हक नहीं है कि वह दूसरे लेखक को कठघरे में खड़ा करे। 'पूर्वग्रह' न तो किसी रूपवाद का समर्थक है, न ही प्रगतिशील और जनवादी विचारधारा का विरोधी। उसके लेखकों की संख्या दो सौ से कम नहीं है और उसमें अनेक प्रगतिशील भी शामिल हैं। रूप या शिल्प पर कोई अतिरिक्त आग्रह भी 'पूर्वग्रह' ने नहीं किया है। हालांकि मुझे व्यक्तिगत रूप से यह लगने लगा है कि सारे साहित्य को उसके तथाकथित विचार मे रिड्यूस कर उसे ही सार तत्त्व मानने का जो मूर्ख उत्साह आज दृश्य पर छाता-सा लगता है, उसके संदर्भ में रूप पर आग्रह एक रेडिकल बात हो सकती है। हमें कलावादी तो शायद सिर्फ इसलिए कहा जा रहा है कि हम साहित्य के साथ-साथ अन्य कलाओं का भी आग्रह कर रहे हैं। हिंदी के बहुत से लेखकों की सामंती मानसिकता साहित्य को विप्र मानती है, अन्य कलाओं को शूद्र। अपने अज्ञान में वे शास्त्रीय संगीत, नृत्य या ललित कलाओं को हिकारत से देखते हैं। यह कहना अनावश्यक है कि संस्कृति में यह वर्णवाद न तो वैज्ञानिक है, न ही

ृति को साहित्य केंद्रित मानना अतिचार तो है ही, उस यथार्थ
रना भी है, जिसकी दुहाई ये लोग देते हैं। जीवन पर साहित्य
, यह माना ही नहीं जा सकता। न ही यह कि साहित्य मे जीवन
ओं में कम। ऐसे अबोध हिसाब-किताब का हमारा जीवन ही
र्वग्रह' ने किसी के विरुद्ध अभियान नहीं चलाया, बल्कि अभियान
 चलाया गया था। खासकर उन्होंने, जिनके लिए सारे प्रश्न
 संतुलन के प्रश्न बन गए हैं। उन्हें लगता है कि मध्यप्रदेश मे
पूर्वग्रह' और भारत भवन से शक्ति संतुलन गडबडा रहा है। ऐसे
 तरस खाने के अलावा और क्या किया जा सकता है? हिंदी मे
 नहीं रह गया है। लेखक अपनी कृतियों का रचयिता होने के
 किसी संगठन का सदस्य होने के कारण पहचाना जा रहा है।
समर्थकों और विरोधियों की दाखिल-खारिज सूचियां जारी करके
क उद्यम का अवमूल्यन कर रहे हैं। बीस-पचीस बीज-शब्दों की
से आंख बंद करके गद्गद भक्तिभाव से वे जप रहे हैं और समझ
य और क्रांति उन्होंने स्वायत्त कर ली है। इस तुमुल जयनाद मे
ी आवाज को बचाए रखने की कोशिश ऐतिहासिक होगी और
 मानता हूं। किसी केंद्रीय धारा को अपदस्थ करने या स्थापित
हिंदी में सोचना भी व्यर्थ है। हमारी सारी परंपरा और संस्कृति
ारित रही है।

की सांस्कृतिक गतिविधियों के संदर्भ में आपको लेकर देशभर पत्रिकाओं में अच्छा-बुरा अक्सर छपता ही रहा है। इसका गतिविधियों पर कोई फर्क नहीं पडता?

को लेकर जितना विवाद हुआ, गैरमुद्दों को लेकर हुआ। उसे
रस हो गए और हमने जानबूझकर उसके बारे में उठाए इन
दों का कभी उसके पृष्ठों में कोई नोटिस ही नहीं लिया। हमारी
व बने रहने की रही है कि जो भी कही साहित्य या कलाओ मे
कर रहा है, उसे यह भरोसा और उम्मीद हो सके कि सिर्फ अपने
पर उसका नोटिस लेने की एक जगह अभी भी भोपाल में बची
दावा कर सकते हैं कि 'पूर्वग्रह' को और हमारे कार्यों को देशभर
कों, कलाकारों और बुद्धिजीवियो का सुविचारित समर्थन और
, उतना शायद ही देश की किसी और संस्था या मंच को होगा।
नहीं, कड़ी मेहनत से संभव हुआ है, मगर विरोध से आतंकित

होकर अपना कारोबार समेटकर घर भाग गए होते तो यह पराजय होती और संस्कृति में अपनी खुली दृष्टि की उत्तरजीविता में अविश्वास भी।

इसीलिए आप डटे हुए हैं?

अपने समय की सार्थक कृतियों और सार्थक कलाकारों को, भले ही उनसे आपकी कितनी ही वैचारिक असहमति क्यों न हो, बचाने के लिए सब कुछ करना एकमात्र कर्त्तव्य है। संस्कृति की दुनिया एक ऐसा कसाईखाना है, जहां सारी चकाचौंध और रंगीनी से लैस होकर भी प्रतिभाहीन या अल्पप्राण प्रतिभा अंततः मारी जाएगी और किसी चोर दरवाजे से आने भर से आप बच नहीं सकते, भले ही वह राजद्वार ही क्यों न हो। एक सर्वग्रासी-सर्वव्यापी अपसंस्कृति के विरुद्ध सच्ची संस्कृति के लिए समाज में जगह बचाए रखने के लिए हमारी लड़ाई एक छापामार लड़ाई है। इसलिए अगर इस अपसंस्कृति के समर्थक तत्त्व बौखलाते और प्रत्याक्रमण करते हैं तो यह स्वाभाविक ही है। उनके अलावा जो अपने ही विचार का एकाधिपत्य चाहते हैं, वे भी चौंकते-बौखलाते हैं।

संस्कृति के क्षेत्र में सरकारी दखलंदाजी को लोग अच्छा नहीं समझते। वे इसे एक साजिश मान कर आरोप लगाते रहे हैं कि लेखक और कलाकार खरीदे जा रहे हैं?

अव्वल तो कोई दखलंदाजी नही है। अगर साहित्य और संस्कृति के लिए सार्वजनिक साधन जुटाना दखलंदाजी है तो यह संसार के सारे देशों, वे चाहे समाजवादी हों या तथाकथित प्रजातंत्र, सब में होती है। बिना सरकारी मदद के न तो रॉयल शेक्सपीयर कंपनी चलती है, न बोलशोई बैले। संसार के आदर्श और सबसे पुराने प्रजातंत्र इंग्लैंड में 'लंदन रिव्यू आव बुक्स', 'लंदन मैगजीन', 'एजेंडा', 'एनकाउंटर', 'आर्टस्क्राइब' जैसी पत्रिकाएं उठाकर देखिए : सब सरकार द्वारा स्थापित और अनुदान प्राप्त आर्ट्स कौंसिलों से सहायता पाती हैं। अमेरिका मे नेशनल एंडाउमेंट आव् आर्ट्स एंड ह्युमेनिटीज है। सरकार भाखड़ा नंगल पर एक विराट बांध बनाकर लाखों लोगों की जीवन शैली में बुनियादी परिवर्तन कर डालती है तो इसे किसी ने दखलंदाजी नहीं कहा, वह तो विकास है, प्रगति है। सरकार के पैसे से लेखक या कलाकार को उसका पारिश्रमिक दिया जाए तो यह खरीदना हुआ, लेकिन सोवियत सरकार के पैसे से लोटस पुरस्कार पाना या बैनेट कोलमैन या आनन्द बाजार पत्रिका के प्रकाशनों में अपनी रचनाओ के लिए पारिश्रमिक पाना खुद को बेचना नहीं हुआ, यह कैसा तर्क हुआ? साहित्य और कलाओं के लिए राज्य समर्थन तभी आपत्तिजनक हो सकता है, जब राज्य कोई

दिशा-निर्देश देने की कोशिश करे या लेखकों, कलाकारों और विशेषज्ञों के अलावा कोई और नीति निर्णय करे। मध्य प्रदेश में दो सौ से अधिक ऐसे सृजनधर्मी और विशेषज्ञ ही सब निर्णय करते और नीति निर्धारण करते हैं। पुरस्कारों के साथ-साथ जूरी सदस्यों के नामों की भी खुली घोषणा अकेले मध्य प्रदेश में ही होती है। इस सारे साक्ष्य से अगर कोई मध्यप्रदेश में दखलंदाजी का निष्कर्ष निकालता है तो यह निश्चय ही दुष्ट और तर्क-विरुद्ध निष्कर्ष ही है।

जहां लोगों को भरपेट अन्न न मिलता हो, पीने का पानी तक उपलब्ध न हो, वहां क्या इसे फिजूलखर्ची नहीं कहा जाएगा?

भूखे और गरीब लोग भी कला रचते-चाहते हैं। गरीबी की रेखा से कोसों नीचे रह रहे आदिवासी अपना घर-बार सुंदर-स्वच्छ रखते और सजाते हैं नाचते-गाते और सुंदर कला रूप गढ़ते हैं। संस्कृति तृप्त–संतुष्ट का विलास है यह अभिजात धारणा बेहद गलत है। उदाहरणार्थ देश के सभी राज्यों की संस्कृति की छठी पंचवर्षीय योजनाओं का योगफल छप्पन करोड़ रुपये था, जिसमें से मध्य प्रदेश अकेले की योजना आठ करोड़ से अधिक की थी, देश में सबसे बड़ी। हर वर्ष मध्य प्रदेश में अब लगभग तीन करोड़ रुपये संस्कृति पर खर्च होते हैं, लेकिन यह भी उतना ही सही है कि मध्य प्रदेश का वार्षिक बजट लगभग तीन हजार करोड़ रुपये का है, जिसका कुल 0.1 प्रतिशत ही संस्कृति पर खर्च होता है। अकेले शिक्षा पर खर्च की जा रही राशि का भी यह एक प्रतिशत ही है। संस्कृति में पूंजीनिवेश भविष्य में पूंजीनिवेश है। देश में भयानक गरीबी है तो इसका यह आशय तो नहीं है कि सबका लिखना-पढ़ना या नाचना-गाना सीखना, संस्कृति मात्र फिजूल है उनके लिए, उस पर इतना कम खर्च भी क्या फिजूलखर्ची ही होगी?

सांस्कृतिक क्षेत्र में आपकी इतनी उपलब्धियों का राज?

उपलब्धि कुछ है भी या नहीं, कह सकना मुश्किल है। संस्कृति में प्रायः हर चीज दीर्घ सूत्री होती है। जो चीज बाद तक टिक जाए, उसे ही उपलब्धि कहा जा सकता है। हमारा सारा दर्शन यहां और अभी का है, कुछ अधीर से लोग हैं हम। हमारी रणनीति एक साथ आठ-दस मोर्चे खोलने की है ताकि अगर एकाध में कुछ रुकावट भी आए तो बाकी में आगे बढ़ जाएं। यों मैं दुर्दमनीय आशावादी माना जाता हूं, लेकिन मन में घोर निराशा होती है, जिसे ऊपर नहीं आने देता गलत समझे जाते रहने और पता नहीं, अंत तक यह सब बच पाएगा या नहीं, से उपजने वाली निराशा।

मध्य प्रदेश में पुस्तक खरीद योजना क्यों शुरू हुई थी?

बुनियादी तौर पर तो यही कि स्कूल के छात्रों और अध्यापकों को पाठ्य पुस्तकों की उबाऊ एकरसता से मुक्त कर समकालीन ज्ञान और साहित्य के सपर्क में लाया जाए। मन में यह भी बात थी कि हिंदी में प्रकाशन व्यवस्था कुछ ऐसी विकसित हुई है कि बीसियों महत्त्वपूर्ण कवियों और लेखकों की समर्थ कृतियां प्रकाशित ही नहीं हुई थी। मैं जब उन्नीस वर्ष का था तो उन दिनों कहे जा रहे नई कविता के प्रथम नागरिक शमशेर बहादुर सिंह का पहला कविता सग्रह तब प्रकाशित हुआ था, जब उनकी आयु लगभग पचास वर्ष की थी और मुक्तिबोध तो अपने जीवनकाल में अपना कविता संग्रह प्रकाशित देख ही नही पाए। तभी मैंने यह संकल्प किया था कि जीवन में भरसक ऐसे प्रयत्न करूंगा कि हमारे समय के महत्त्वपूर्ण लेखक, विशेषत. कवि पुस्तकें प्रकाशित करने के अपने मौलिक अधिकार से वंचित न रहें। पुस्तक खरीदी के पहले अपने निजी साधनो से मैंने चार वर्ष 'पहचान' सीरीज निकाली थी, जिनमें पंद्रह युवा कवियों के सबसे पहले कविता संग्रह प्रकाशित हुए थे और उनमें से अनेक आज महत्त्वपूर्ण कवि माने जाते हैं। लेखक और कलाकार को समाज में उसका योग्य स्थान मिले और उसके मौलिक अधिकार की रक्षा हो, एक तरह से इसे ही आप मेरा जीवन संघर्ष कह सकते हैं।

संस्कृतिकर्मियों को सम्मान दिलाकर करना क्या चाहते हैं?

एक ऐसे समाज में, जिसमें तीन किस्म के लोग ही नायक माने जा रहे हैं यानी नेता, अभिनेता या खिलाड़ी। कलाकार, लेखक और बुद्धिजीवी को वैकल्पिक नायक बनाने की कोशिश उस लड़ाई का हिस्सा है, जो संस्कृति को बचाए रहने के लिए की जानी जरूरी है। हम अपने जमाने से कह रहे हैं कि साहित्य और कलाएं महत्त्वपूर्ण हैं और उन पर ध्यान दिया जाना चाहिए और हम कलाकारों और लेखकों से कह रहे हैं कि समाज में आपकी भूमिका महत्त्वपूर्ण है। मध्य प्रदेश के छोटे–छोटे शहरों में इन कलाकारों, लेखको को जो प्यार, सम्मान मिलता है, मैं समझता हूं कि उसका गहरा सामाजिक आशय है। अपने समय का श्रेष्ठ सृजन और विचार देखने, समझने का हक बैतूल, सरगुजा, सीधी, खरगौन के लोगों को भी है, सिर्फ मुंबई, इलाहाबाद या दिल्लीवालों को ही नहीं।

संस्कृति और कला पर टेक्नॉलाजी के प्रभाव को आप किस रूप में देखते हैं?

बीसवीं सदी में टेक्नॉलाजी से बचना मुमकिन नहीं है। जाहिर है कि टेक्नॉलाजी ने सृजनात्मक अभिव्यक्ति के लिए बिल्कुल नई संभावनाएं भी पैदा की हैं, लेकिन दूसरी ओर उसने नये खतरे भी पैदा किए हैं। टेक्नॉलाजी मात्र को क्रातिकारी मानना एक तरह की मूढ़ता है। छापेखाने को ही लें। उसकी वजह से साहित्य का इतना प्रचार–प्रसार संभव हुआ है, लेकिन क्या यह भी सच नही है कि उसने सृजनात्मक अभिव्यक्ति के क्षेत्र में एक नई वर्ण व्यवस्था भी लागू कर दी है। चार सौ साल पहले कबीर और रैदास जैसे हरिजन कवि न केवल साहित्य मे अपनी अभिव्यक्ति करने में समर्थ थे, बल्कि उन्हें सारा हिंदीभाषी समाज महाकवि भी मानता था। अब हाल यह है कि कम से कम हिंदी में एक भी महत्त्वपूर्ण हरिजन लेखक नहीं रह गया है। क्या मौखिक परंपरा की प्रजातांत्रिकता को इस तरह छापेखाने की टेक्नॉलाजी ने नष्ट नहीं कर दिया और क्या करोडो लोगों को साहित्याभिव्यक्ति के मौलिक अधिकार से वंचित नहीं कर दिया? टेक्नॉलाजी की इस प्रतिक्रांतिकारी भूमिका को नजरंदाज नहीं करना चाहिए ओर हर हालत में सृजनात्मक शब्द की रक्षा की जानी चाहिए। यह कठिन समय है जब समाजशास्त्रीय वृत्तान्त या राजनेताओं के संस्मरण और जीवनियां उपन्यास को अपदस्थ कर रही हैं। सृजनात्मक साहित्य, अंतर्दृष्टि के साहित्य को, तथ्यो के विवरण पीछे धकेल रहे हैं और वह भी टेक्नॉलाजी के सहारे। खबर के सत्याभास से अगर कविता का सच अधिक प्रामाणिक है तो इस समाज मे उसे ग्रहण करने और उसके पक्ष में खड़े होने को कितने लोग तैयार हैं?

भोपाल के वल्लभ भवन में अशोक वाजपेयी से हुई इस बातचीत में हमारे साथ थे प्रदीप कुमार, जैनेंद्र कुमार के कनिष्ठ पुत्र, जो हमें वहीं भोपाल में मिल गए थे और अशोकजी से मिलना चाहते थे। वे तो हमारे साथ जाकर मिल आए थे, पर मनीष छिंदवाड़ा से भोपाल नही आ पाए थे, जबकि मेरे साथ उनके भोपाल आने और अशोकजी से मिलने की बात तय हुई थी। आज सोचता हूं तो दुख से भर उठता हूं कि काश! मनीषराय भोपाल आ पाए होते और उस दिन अशोकजी से हमारे साथ उनकी मुलाकात हो गई होती और उनसे होती रहती अगली मुलाकातें उनके बीच मैत्री भाव पनपा गई होतीं तो शायद वे जिस करुण अंत को प्राप्त हुए, उससे बच जाते। बच जाते तो कुछ और भी रच जाते। रच जाते और व्यक्ति के साथ रचनाकार के तौर पर भी बचे रहते। कुछ अधिक समय तक। □

भारतीय लोकनाट्य के ध्वजवाहक

हबीब तनवीर

और पश्चिम को भा गया 'चरनदास चोर'

प्रख्यात रगकर्मी हबीब तनवीर जब 'नया थियेटर' की अपनी टीम के साथ योरोप यात्रा पर गए तो उनकी यात्रा पश्चिमी नाट्य जगत पर भारतीय लोकनाट्य की विजय-यात्रा साबित हुई। छत्तीसगढ जैसे पिछड़े इलाके के लोक कलाकारों द्वारा प्रस्तुत उनके नाटक 'चरनदास चोर' ने 'स्काट्समैन' अखबार के 'प्रिंज फर्स्ट प्राइज' की सप्ताहांत में होनेवाली घोषणा-परंपरा तुड़वाकर उसे सप्ताह के मध्य मे प्राप्त किया, जो इस पुरस्कार के जीवन काल की पहली और अनोखी घटना थी। लंदन के अखबार 'गार्जियन' ने 'चरनदास चोर' की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए लिखा था : 'हबीब तनवीर पूर्व और पश्चिम के बीच की खाई को पाटने के लिए आदर्श व्यक्ति हैं।' हबीब तनवीर फेस्टिवल ऑफ इडिया के लिए अपना यह नाटक लेकर ब्रिटेन गए थे, बाद में जर्मनी, फ्रांस और आयरलैंड में भी इसकी धूम मची। वे इस मुकाम तक कैसे पहुंचे, आइए उनके बचपन से ही शुरू करते है।

मध्यप्रदेश के रायपुर कस्बे में छह-सात साल का हबीब अहमद खान 'मोहब्बत का फूल' नाटक देखने इसलिए गया था कि उसमें उसका बड़ा भाई रोल कर रहा था। नाटक में हंसानेवाले दृश्य आते तो हबीब ताली बजा-बजाकर हसता और जब कारुणिक दृश्य आते तो जार-जार रोता। उस नाटक में रोल कर रहे जर्रीन अहमद खान को तब क्या पता रहा होगा कि 1 सितंबर, 1923 में जन्मा उसका वह भाई भारतीय नाट्य आकाश में एक दिन हबीब तनवीर बनकर किसी सितारे की तरह चमकेगा और न ही होनेवाले बहनोई मोहम्मद इसहाक ने कभी सोचा होगा कि उनके लिखे नाटक में पहली बार कोई रोल करने वाला यह लडका एक दिन 'चरनदास चोर' लेकर योरोप जाएगा और पश्चिम में भारतीय लोकनाट्य की विजय पताका फहराएगा, न हाफिज मोहम्मद अयाज खान ने कभी सोचा होगा कि किसी अच्छी नौकरी में लगकर भलामानुष बनने की उनकी बात

न माननेवाले उनके बेटे हबीब को एक दिन न सिर्फ [illegible] का मेंबर बनाया जाएगा, बल्कि पद्मश्री से भी अलकृत किया जाएगा। हां, मोनिका मिश्रा नाम की लडकी को जरूर यह अंदाज हो गया था कि हबीब नाम के इस युवक में विलक्षण प्रतिभा और अद्भुत किस्म की लगन है, तभी तो उसने सड़क पर खड़े हबीब अहमद खान को गले लगाया और फिर उससे विवाह कर उसे हबीब तनवीर के रूप में दुनिया के सामने सीना तानकर खडा कर दिया। गलत नहीं कहा जाता कि हर मशहूर आदमी के पीछे एक औरत खड़ी होती है, त्याग और बलिदान की प्रतिमूर्ति बनकर। मोनिका मिश्रा हबीब तनवीर के लिए वैसी ही औरत साबित हुई और उन्हें नगीन जैसी बेटी भी दी, एक भरापूरा दांपत्य और सुखी पारिवारिक जीवन, पर सुख इतनी आसानी से नहीं मिलते, उनके लिए कठिन मेहनत और लगन की दरकार होती है। हबीब अहमद खान को भी हबीब तनवीर बनने के लिए कड़ी मेहनत करनी पड़ी, लगातार। अस्सी पार करने की ओर अग्रसर हबीब तनवीर आज भी मेहनत से घबराते नहीं, न ही संघर्षों से, क्योंकि संघर्षों की आग मे तपकर ही तो आज वे खरा सोना बने हैं।

बचपन मे रायपुर में नाटकों के रोल तो करते ही हबीब, चोरी-छिपे फिल्मे भी खूब देखते, हिंदी फिल्में। विदेशी फिल्में देखने को तब मिलीं, जब उन्हें नागपुर के मौरिस कॉलेज में दाखिला मिला। फिर उर्दू में एम.ए. करने के लिए अलीगढ मुस्लिम यूनिवर्सिटी भेजे गए तो बमुश्किल पहला साल पास किया और नौकरी के इंटरव्यू के बहाने मुंबई पहुंच गए और पढ़ाई अधूरी छूट गई। वहां मेट्रो मे पहली फिल्म देखी 'द पिक्चर ऑफ डोरियन ग्रे' और वहीं फिल्म 'आपके लिए मे मुख्य भूमिका मिल गई। कुछ समय आकाशवाणी के लिए काम किया और फिर 'फिल्म इंडिया' के सहायक संपादक बने। बाद में बेडेकर ने अपनी फिल्म 'लोकमान्य तिलक' में ले लिया। 1947 में पिता ने पाकिस्तान जाने का इरादा किया, लेकिन हबीब के मना करने पर भारत में ही रह गए।

'इप्टा' से जुड़े और प्रगतिशील लेखक संघ से भी। 'नया अदब' में छह गजलें एक साथ छपीं तो शायर के रूप में सामने आए। बलराज साहनी और दीना पाठक के निर्देशन में कई नाटकों में काम किया। बाद में अभिनय छूटा और सिर्फ निर्देशक बन गए। दिल्ली आए और जामिया मिलिया इस्लामिया के लिए 'आगरा बाजार' किया, जिसे अनीस किदवई और बेगम कुदसिया जैदी अलीगढ ले गईं। फिर क्या था, हबीब तनवीर मशहूर हो गए एक निर्देशक के रूप मे। इग्लैंड जाकर प्रशिक्षण पाने के लिए स्कॉलरशिप मिली, पर जाने के पैसे न थे। जाकिर हुसेन ने मदद की तो किसी तरह इंग्लैंड पहुंच पाए। 'रॉयल एकेडमी

ऑफ ड्रामेटिक आर्ट्स' में दाखिला मिला, पर एक साल में ही उसे छोड़ दिया। बडी कठिनाई झेलकर ब्रेख्त से मिलने बर्लिन (जर्मनी) पहुंचे, पर तब तक उनका निधन हो चुका था। बेगम कुदसिया जैदी ने 'हिंदुस्तानी थियेटर' खड़ा कर वापस भारत बुलाया। आकर 'मृच्छकटिकम्' किया, जिसे देखकर जाकिर हुसेन भावविभोर हो उठे। बेगम जैदी से लोक कलाकारों के मुद्दे पर मतभेद हुए और हबीब तनवीर सडक पर आ खडे हुए। तब मोनिका मिश्रा ने उनका साथ दिया और 'नया थियेटर' स्थापित हुआ।

राज्यसभा की सदस्यता मिलने से 'नया थियेटर' को गति मिली। 'गाव का नाम ससुराल, मोर नाम दमाद' नाटक रायपुर, भोपाल और फिर दिल्ली में खेला गया तो उसने सफलता के झंडे गाड दिए। इसके बाद आए 'चरनदास चोर' और 'बहादुर कलारिन' । फिर तो मध्यप्रदेश सरकार से 'शिखर सम्मान' ही नहीं मिला भारत सरकार से पद्मश्री भी मिली, साथ मे नेहरू फेलोशिप। इसी दौर मे 'चरनदास चोर' लेकर योरोप की यात्रा पर गए। फिर किए 'मोटेराम का सत्याग्रह', 'कामदेव का अपना, बसंत का सपना' तथा 'हिरमा की अमर कहानी' आदि चुनौतीपूर्ण नाटक, जो हिट हुए। नाटक के क्षेत्र में हबीब तनवीर की इन सेवाओं के लिए उन्हें मध्यप्रदेश सरकार ने 'कालिदास सम्मान' प्रदान किया तो केंद्रीय संगीत नाटक अकादमी ने फेलोशिप देकर सम्मानित किया। यहां प्रस्तुत है 'चरनदास चोर' के जरिए अंतर्राष्ट्रीय ख्याति पाकर योरोप से लौटने के बाद उनसे हुई एक वार्ता। साथ में थे कथाकार-मित्र शिवमूर्ति।

मुंबई में अच्छी तरह पांव जमा लेने के बाद अचानक दिल्ली क्यों चले आए?

फिल्मों में काम करते और इप्टा के नाटकों में भाग लेते हुए मैंने पाया कि मेरी रुचि नाटकों में कुछ ज्यादा ही बढ़ गई है और मेरा मन होने लगा है कि नाटकों का होलटाइमर हो जाऊं। मुंबई में रहता तो फिल्मों का लालच मुझे उन्ही मे फंसाए रखता। नाटक को प्रोफेशनली अपना सकने के लिए मुंबई और फिल्मो के लालच से दूर होना जरूरी था। इसलिए आगे-पीछे की कोई चिंता न करते हुए मैंने मुंबई छोड़कर दिल्ली की राह पकड़ ली, क्योंकि यहां मेरी मादरी जबान बोली जाती है। अपनी जबान के साहित्य, खासकर नाटक को समृद्ध करने का मिशन लेकर मैंने मुंबई छोडी थी।

फिल्म जैसे सशक्त माध्यम से इस तरह अरुचि क्यों हो गई?

फिल्म मुख्यतः पैसेवालों का खेल है जिसमें प्रोडयूसर ही खुदा होता है

थोडी बहुत निर्देशक की चल जाती है बाकी सब कठपुतलिया होती है हम जो कुछ कहना चाहते थे दर्शक से, उसके लिए फिल्मों में अवकाश ही नहीं था। कहानी लेखक तक की कोई औकात नही है वहां। अधिकांश प्रोड्यूसरों की रुचियां प्रायः कलात्मक नहीं होतीं, न साहित्य का उन्हें कुछ अता-पता होता है। बड़े-बड़े लोग जाकर वहां खो गए। जो समझदार थे, भाग आए : प्रेमचद अमृतलाल नागर, भगवतीचरण वर्मा... मै भी खुद को प्रोफेशनली बचाए रखने के लिए मुंबई से भाग आया। भाग आया तो बच गया, नहीं तो औरों की तरह वही मर-खप जाता।

आपका पहला सफल नाटक 'आगरा बाजार' किन हालात से गुजर कर मंच तक पहुंचा?

फिल्मों के लिए नहीं, मुझे नाटकों के लिए जीना है, मुंबई में यह फैसला लेते ही लगा कि अगर फिल्मों के लिए काम नहीं करना है तो फिर क्यों मुंबई मे पडे रहना चाहिए। क्यों नही, रायपुर, भोपाल या दिल्ली जाकर काम करना चाहिए? सो, दिल्ली की राह पकडी। यहां आकर अलीगढ़वाले दिनों के साथी अतहर परवेज मिले, जिन्हें नजीर अकबराबादी के जन्मदिन के लिए कुछ चाहिए था। नजीर का साहित्य छान मारा। एक फीचर तैयार किया, जो बाद मे दो घटे का नाटक बन गया' आगरा बाजार'। दिल्ली में खेला गया जामिया के छात्रों के बीच और फिर प्रबुद्ध दर्शकों के बीच भी पसंद किया गया खूब। फिर अलीगढ मे इसका शो होते ही मैं सफलता की राह पर बढ़ गया।

और योरोप में सफलता के झंडे गाड़कर लौटा आपका यह नाटक 'चरनदास चोर'? यह कैसे पहुंचा मंच तक? इसकी भी अलग से कोई कहानी है क्या?

है क्यों नहीं? यह तो कहानी से ही बना। भिलाई में एक महीने का वर्कशाप किया। वहा मेला चल रहा था सतनामियों का। वे लोग भी हमारी वर्कशाप में आते और हमारे कलाकार भी मेले में आते-जाते रहते। फलतः उनके नाच-गाने, उनके गीत-संगीत और कपड़ों-लत्तों तक का उपयोग हम अपने नाटक मे करते। गगाराम और स्वर्णकुमार कुछ गाने खुद बनाते। इस तरह एक नाटक उभरने लगा, जिसका नाम हमने 'अमर दास' रखा, पर सतनामियों के गुरू का नाम होने के कारण उन्होंने इस नाम का विरोध किया। एक और नाम सामने आया, पर वह भी एक गुरू का नाम था। अंत में हारकर 'चरनदास चोर' रख दिया, जो किसी भी संप्रदाय के गुरू का नाम नहीं हो सकता।

फिर तो कोई लफड़ा नहीं हुआ?

लफड़ा! लफड़े ही लफडे हुए। क्या-क्या बताएं। यह एक लोककथा पर आधारित है। बाद में पता चला कि राजस्थान में भी यह प्रचलित है और विजयदान देथा ने इसे लिख भी रखा है। मेरे नाटक में चोर मर जाता है, लेकिन देथा की कहानी में नहीं मरता। वे इस परिवर्तन से बहुत नाराज हुए और हम लोगों पर उल्टे-सीधे आरोप लगाने लगे।

विजयदान देथा क्योंकर नाराज हुए भला?

देथा की आपत्ति यह थी कि चोर की मौत दिखाकर मैंने नाटक को रोमांटिसाइज कर दिया है। हो सकता है कि साहित्य के मानदंडों के आधार पर वे सही रहे हों, पर मेरी परेशानी यह थी कि मेरे सामने सुकरात का किस्सा था मेरे सामने ईसामसीह का उदाहरण था, मीराबाई थीं, अब्राहम लिंकन थे, महात्मा गांधी थे। मैं विश्व इतिहास से इन्हें कैसे मिटा देता। इन्होंने सच के लिए अपनी जान दे दी कि नहीं, जबकि देथा की कहानी में रानी उस गुरू से शादी कर लती है। देथा को साहित्य के मानदंडों की चिंता थी, मुझे जीवन के यथार्थ की। मैंने यथार्थ से 'चरनदास चोर' में नजरें नहीं चुराई, शायद यही मेरा कुसूर था उनकी नजर में। इसके लिए लेकिन मैं क्या कर सकता था?

नाट्य जीवन का सबसे यादगार क्षण, जो आज भी कभी-कभी आपको हांट करता हो?

तेलंगाना आंदोलन पर आदिल ने एक नाटक लिखा था, जिसके निर्देशन का जिम्मा सौंपा गया था बलराज साहनी को। काफी मुश्किल नाटक था वह। मुझे भी उसमें रोल करना था। रात-दिन रिहर्सल चलती। जिस दिन यह नाटक खेला जाना था, उससे पहले की रात 2 बजे तक रिहर्सल चला। एक दृश्य में मुझे रोते हुए डायलाग बोलने थे, लेकिन रुलाई थी कि आ ही नहीं रही थी। अचानक एक जोरदार चांटा मेरे गाल पर पड़ा और... बलराज साहनी का वह चांटा मैं कभी नहीं भूल सकता। लगता है कि जैसे अभी-अभी मेरे गाल पर पड़ा है।

प्रशिक्षण के लिए इंग्लैंड जाने पर ब्रेख्त से मिलने के लिए आपने भारी कठिनाइयां झेलते हुए बर्लिन तक दुस्साहसिक यात्रा की थी, क्यों?

हां, मैं गया था ब्रेख्त को देखने कि वह कैसा शख्स है, जिसने नाटक को इतने प्रभावशाली ढग से इतना कुछ देकर उसकी दुनिया ही बदल दी, पर मेरा दुर्भाग्य कि उनसे भेंट ही न हो सकी। ब्रेख्त हमारे बहुत करीब हैं, क्योंकि उन्होने चीन, भारत, म्यांमार (बर्मा), कंबोडिया, मलयेशिया आदि पूर्वी देशो से बहुत कुछ

लिया है। इसीलिए ब्रेख्त हमे अपने जैसे लगते है। उनकी अभिव्यक्ति का तरीका पूर्वी लगता है, भाव संसार भारतीयों जैसा है और वे धनिकवर्ग के विलास के परखचे उड़ाते और सामान्यजन के साथ न्याय करने की पैरवी करते नजर आते है। वे आम जनता को अन्याय का प्रतिकार करने के लिए प्रेरित भी करते हैं। सो योरोप गया तो लगा कि नाटक के बादशाह को सलाम करता चलूं, पर शायद उनसे मिलने का सुयोग मेरे जीवन में नहीं था।

लोकनाट्य के पुराने रूप क्या आज भी पहले जितने ही प्रासंगिक हैं?

ग्रामीण लोग थोड़ा–बहुत पढ़ने-लिखने के बाद एलिनिएट होते हैं और अपने वर्ग से कटकर दूसरे वर्ग से जुड़ते हैं, लोकनाट्य का ही क्या, सारा का सारा विकास इसी से जुड़ा हुआ है। जैसे कि आज गांव का हर लड़का हीरो बनना चाहता है, लेकिन पैसे आने का कोई तरीका नहीं है, इसी से क्राइम बढता है लड़कियों के साथ रेप होते हैं। ट्रेनों में डकैतियां पड़ती हैं, लेकिन देश के हर गाव की स्थिति एक जैसी नहीं है। नाटक का लोक रूप छत्तीसगढ़ में थियेटर है लेकिन यू.पी., बिहार में ऐसा नहीं है। सामाजिक विकास का प्रभाव कला के लोक रूपों पर पड़ता है और वे अपने हिसाब से परिवर्तित और विकसित हो रहे है इसलिए आज भी प्रासंगिक हैं।

छत्तीसगढ़ में कलाओं के अनेक रूप लुप्त क्यों होते जा रहे हैं?

लुप्त तो नहीं, पर कम जरूर हो रहे हैं। औद्योगीकरण को एक कारण माना जा सकता है जैसे कि बस्तर में बैलाडिला के कारण आदिवासियों का सब कुछ खो गया। पहले वे लोग खुशी को मिलकर सेलेब्रेट करते थे, लेकिन बैलाडिला के कारण लोक कलाकारों की पूरी की पूरी टीमे बर्बाद हो गई। इसी तरह छत्तीसगढ़ की भी पुरानी कलाएं समाप्त हो रही हैं, लेकिन इधर फिर से लोग सांरगी वगैरह बजाना सीख रहे हैं। डाइंगकल्ट फिर जीवित हो रही है, जैसे कि छत्तीसगढ़ की गौरी-चंदा की कथा उत्तर प्रदेश और बिहार में भी खेली जा रही है। इसका श्रेय निश्चित रूप से उन लोगों को जाता है, जो हमारी तरह लोकनाट्य दल गठित कर ईमानदारी से काम कर रहे हैं।

सरकार को इसका कितना क्रेडिट देंगे?

बिलकुल नहीं। रेडियो ने लोक कलाओं पर ध्यान नहीं दिया। अब मध्य प्रदेश सरकार कुछ-कुछ ध्यान दे रही है, पर लोग उनमें मनमाना परिवर्तन कर देते हैं। यह ठीक नहीं हो रहा। कुछ लोगों के व्यक्तिगत प्रयासो से कुछ चीजे

पनप रही हैं, पर क्षेत्र के पिछडेपन के कारण पूरी तरह उनका विकास नहीं हो पा रहा है।

मध्यप्रदेश सरकार कला के लोक रूपों को बचाने का प्रयास कर रही है, जैसे कि बस्तर का धातुशिल्प, इसके बारे में क्या सोचते हैं?

इस तरह से कैसे बचाया जा सकता है। जो खत्म होता है, उसे खत्म होने दो। तरक्की लानी है तो इसकी परवाह छोड़नी होगी। मै इसके पक्ष में नहीं हू। इस तरह आदिवासी या लोककलाएं पनप नहीं सकेंगी। हमें इसके बीच का रास्ता अख्तियार करना पड़ेगा। क्रिएटिव एक्सप्रेशन में परिवर्तन तो क्रमशः होता ही रहा है। यदि वह बचा है तो स्वयंसिद्ध है कि उसमें जान थी। जो कलारूप अभी तक जीवित बचे हुए हैं, उनकी जरूरत को समझकर पूरा किया जाए, लेकिन मीडिया का इतना ज्यादा दबाव रहता है कि राजनीतिज्ञों की हिम्मत नहीं होती कि वे ऐसा कोई कदम उठाएं।

कुछ लोक शिल्प ऐसे हैं, जिनके विकास की गुंजायश नहीं, जैसे बस्तर में लकड़ी के कंघे की जगह प्लास्टिक के कंघे आ गए हैं।

वह भी गलत है। ऐसा क्यों होने दिया जाए। प्लास्टिक की वजह से कघे ही नहीं, झाडू और टोकरियों का निर्माण भी रुक जाएगा। ऐसा नहीं होने देना चाहिए, क्योंकि पूरे देश को एक जैसी संस्कृति में नहीं ढाला जा सकता। सुविचारित और सोची-समझी नीति के अनुसार पुराने फार्म का विकास होना चाहिए, मगर यह इतना आसान नहीं है। छत्तीसगढ़ की लोक कलाएं वापस आ रही हैं, कुछ गायब भी हो गई हैं, हालांकि 'महाभारत' वगैरह को सुननेवाले आज भी मौजूद हैं, इसलिए 'महाभारत' मौजूद रहेगा, लेकिन कुछ रूप, कुछ कथाए निश्चित रूप से लुप्त हो गई हैं।

गांव में जो एक्टिविटीज हैं और शहर में जो एक्टिविटीज हैं, उनमें हम बहुत अंतर पाते हैं। आप इस अंतर को कैसे कम करते हैं?

'शांताबाई' में हमने कोशिश की इसे दिखाने की। गांव के लोगों में झूठे किस्म का गौरवबोध पनप रहा है, तौर-तरीकों में अंतर आ रहा है, अपनी मातृभाषा से घृणा करने की प्रवृत्ति बढ रही है। हम जानते हैं कि गरीबी अनेक गुणो को नष्ट करती है। वेश्यावृत्ति भी तो गरीबी की ही देन है। कुछ सामाजिक दबाव, कुछ मजबूरी एक औरत को वेश्या बना देते हैं, लेकिन फिर वह नेक ढंग से रहना चाहे तो नहीं रह सकती। 'शांताबाई' में हम इसी को मूर्त करना चाहते थे।

कुछ लोगो का मानना है कि पाइलट की जगह ड्राइवर होता तो वह नाटक ज्यादा लोकधर्मी हो सकता था?

हवाई जहाज को, फूल की तरह, प्रेमिका की तरह प्रस्तुत करना चाहता था, लेकिन यह बड़ी मुश्किल से हुआ, कह नहीं सकता कि पायलट की जगह ड्राइवर होता तो कैसा और कितना लोकधर्मी हो पाता!

विजयदान देथा की लोककथाएं आपको कैसी लगीं?

मैंने उनकी कथाएं पढी नहीं हैं, लेकिन मैं उनकी कहानियां पढ़ना चाहता हू। शिवमूर्ति की कहानी 'कसाईबाड़ा' पर हुए नाटक की बड़ी चर्चा रही। उसे भी पढना चाहता हूं।

आपकी पिछली योरोप यात्रा और इस योरोप यात्रा में क्या फर्क रहा?

इस बार सीधे लंदन नहीं गए, पहले एडिनबरा गए। पिछले साल की बिना पर कि लोग टूट पड़ेंगे, ऐसा सोचकर, आयोजकों ने कोई खास माहौल नहीं बनाया था, इसलिए वैसा नहीं हो सका, जैसा पहली बार हुआ था। रिवरसाइड वालों ने काफी माहौल बनाया था, जिससे कि हाल खचाखच भर गए थे। कोपेनहैगन में काफी स्वागत हुआ, हालांकि हाल का माइक्रोफोन खराब था लेकिन लोग खड़े रहे। लग रहा था कि कोई नहीं रुकेगा, पर सारे ऑडियंस जमे रहे तो लगा कि हम सफल रहे हैं। ऐसा ही यूगोस्लाविया में हुआ, लेकिन सबसे अच्छा स्वागत डब्लिन में हुआ। पहली रात ही नाटक हाउसफुल रहा तो भारतीय राजदूत काफी प्रसन्न हुए। उन्हें इतनी सफलता की उम्मीद न थी।

ब्रिटेन में फेस्टिवल ऑफ इंडिया में 'तुगलक' को पंद्रह-बीस लोगों ने देखा, लेकिन 'चरनदास चोर' हिट हो गया, क्यों?

पश्चिम की रुचि हमारे अर्बन थियेटर में है। 'घासीराम कोतवाल' को काफी सराहा गया। पश्चिम के लोग ऐसी चीज नहीं चाहते, जो उनके पास है या जिसे वे कर सकते हैं। उन्हें लगे कि वे यह चीज नहीं कर सकते तो वे करते हैं हमारी उस चीज की कदर। हमारे ग्रामीण कलाकारों में हजार कमियां रही होगी, पर पश्चिमी दर्शकों को लगा कि ये नाटक अर्बन एक्टर कर रहे हैं। उनमे एमैच्योरिटी है, पर वह दूर हो ही नहीं सकती। वही उनकी खासियत है और मेरा खयाल है कि पश्चिम के लोगों को लगा कि इसे वे नहीं कर पाएंगे और 'चरनदास चोर' उन्हें भा गया। इस बार जब लंदन में इसे फिर किया तो कई कारणों से पिछली बार जैसी सफलता नहीं मिली। कारण कई थे, जैसे कि जिस

थेयेटर मे किया हाल ही मे पुराना नाम बदल कर उसे नया नाम दिया गया था इसलिए कई लोग भटकते रहे कि यह थियेटर है कहां? दूसरी बात यह कि जहां जह थियेटर था, वह यूनिवर्सिटी एरिया है और उन दिनों यूनिवर्सिटी में छुट्टियां थी। फिर भी, अच्छा-खासा चल गया।

कहते हुए हबीब तनवीर के चेहरे पर संतोषभरी मुस्कान तैर गई। तभी मोनिकाजी चाय लेकर हाजिर हुईं और सामने बैठकर सर्व करने लगीं। अच्छा लगा कि हमारे बीच कोई पर्दा नहीं था। कोई दुराव-छिपाव नहीं था। कोई संकोच भाव नहीं था। यह शायद अंतर्धर्मी सहजीवन का नमूना था, सही सहजीवन का नमूना, अन्यथा कई नामीगिरामी मुस्लिम मित्रों की बीवियों के चेहरे देखने को हमें नसीब नहीं हुए, जबकि हमारे घरों में बहू-बेटियों के चेहरे देखना ही नहीं, औरतों से उनका हंसी-मजाक, सब चलता है। हबीब तनवीर और मोनिकाजी की तरह ही है हमारा एक और मित्र परिवार, नासिरा शर्मा और डॉ शर्मा का। ऐसे परिवार ही हैं सही भारत के सही परिवार, अनेकता में एकता के नमूने, सही नमूने। आजादी मिलने के बाद ऐसे परिवारों को प्रोत्साहन, संरक्षण और आरक्षण दिया गया होता तो आज के भारत की तस्वीर कुछ दूसरी होती, दूसरी और इस तस्वीर से बेहतर, बहुत बेहतर, सतरंगी इंद्रधनुष जैसी मोहक, आकर्षक और सुंदर। आजादी मिलने के बाद कांग्रेस चाहती तो ऐसा कर सकती थी। काश! ऐसा हुआ होता, हो सका होता। हो सका होता तो बहुत संभव था कि खाकसार के घर आए मेहमानों को चाय फातिमा या फहमीदा के सुकोमल हाथों से सर्व हुआ करती, मोनिकाजी के हाथों की तरह। □

प्रतिबद्ध बांग्ला लेखक और फिल्मकार

उत्पलेंदु चक्रवर्ती

संभव नहीं है यहां कोई राजनीतिक फिल्म

उत्पलेंदु चक्रवर्ती को सक्रिय वामपंथी राजनीति को त्यागे काफी समय हो चुका है। पश्चिम बंगाल में होनेवाले नक्सलबाड़ी किसान आंदोलन से सीधे जुड़े रहे उत्पलेदु स्वीकार करते हैं कि दल की केंद्रीय समिति तक पहुंच गए थे, लेकिन वहां रहे नही। शायद इसीलिए आज वे न सिर्फ भारत के विश्व प्रसिद्ध फिल्मकार हैं, बल्कि नक्सलबाडी आंदोलन की उपज, सामाजिक यथार्थ की सही नब्ज पहचाननेवाले समर्थ बांग्ला कथाकार भी। आंदोलन से हटने के बाद फिल्मों को उन्होने राजनीतिक चेतना से लैस अभिव्यक्ति का माध्यम बना लिया। बांग्ला भाषा मे उत्पलेंदु के प्रसिद्ध कहानी संग्रह हैं : 'बाघ का शिकार' एवं 'प्रसव'। नक्सलबाडी किसान आंदोलन पर आधारित एक उपन्यास 'गांव चलो' भी इन्होंने लिखा है। राजनीतिक बंदियों के लिए आवाज बुलंद करनेवाली अपनी प्रथम डाक्युमेंट्री 'मुक्ति चाई' से ही चर्चित हो गए उत्पलेंदु ने अपनी तीनों चर्चित एवं पुरस्कृत फीचर फिल्में 'मोयनातदंतो' (कान फिल्मोत्सव, फ्रांस में गोल्डमेडल), 'चोख' (राष्ट्रीय पुरस्कार) एवं 'देवशिशु' (लोकार्नो फिल्मोत्सव, स्विट्जरलैंड मे गोल्डमेडल प्राप्त) अपनी ही लिखी कहानियों पर बनाईं। 1948 में जन्मे और इतिहास में स्नातक उत्पलेंदु चक्रवर्ती जल्लाद के जीवन पर 'फांसी' और एक नृत्यांगना के जीवन पर 'छदनीड़' जैसी छोटी-बड़ी 20 फिल्में बना चुके हैं। वे भारत के गिने-चुने उन प्रतिभावान फिल्मकारों मे से एक हैं, जो सत्यजित राय की तरह अपनी फिल्मो के लिए पटकथा लेखन, संगीत सृजन आदि स्वयं करते हैं। संगीत पर दो डाक्युमेंट्री 'देवब्रतो विश्वास' एवं 'म्यूजिक ऑफ सत्यजित रे' (गोल्डमेडल प्राप्त) भी इन्होने बनाई हैं। स्वदेश दीपक ने 'देवशिशु' की कहानी को अपनी बताकर अदालत मे खींच लिया तो मेरे नाम संजीव का खत लेकर उत्पलेंदु के साथ नरेन दिल्ली आए थे और फिर राजेन्द्र यादव की मध्यस्थता मे मामला अदालत के बाहर ही

सुनट गया था और उत्पलेदु पर लगा कहानी चोरी का आरोप उल्टे स्वदेश दीपक पर लगते-लगते बच गया था। संजीव ने लिखा था कि इस मामले में मे इस बांग्ला फिल्मकार की मदद करूं। मुझसे जो संभव हुआ, किया-कराया ओर फिर विवाद से संबंधित बातचीत 'नवभारत टाइम्स' में छाप दी, पर मैं उत्पलेंदु से उनके जीवन और जगत पर लंबी वार्ता करना चाहता था। सो, अगले दिन ईस्ट ऑफ कैलाश में हम लोग आठ घंटे साथ रहे और उनसे एक अंतरंग वार्ता हुई। अपनी फिल्म 'रंग' भी हमें दिखाई थी उत्पलेंदु ने। हिंदी, अंग्रेजी और कभी-कभी बांग्ला में बोले उत्पलेंदु के टेप हुए हमारे इस वार्तालाप को लिपिबद्ध करने का काम नरेन ने किया है।

फिल्म माध्यम को गंभीरता से लेनेवाले चंद समर्थ एवं चर्चित भारतीय फिल्मकारों में से आप एक हैं। फिल्म माध्यम को अपनाए आपको काफी समय हो गया। फिल्मों में आने से पूर्व आप सक्रिय वामपंथी राजनीति से जुड़े रहे। सक्रिय राजनीति से अलग होने के बाद आपने स्वीकारा कि राजनीति से आपका मोहभंग हो गया था। बाद में आपके चिंतन में क्या-क्या बदलाव आए?

इस सवाल का जवाब आसानी से नहीं दिया जा सकता, क्योंकि जब मै फिल्म के क्षेत्र में उतरा था तो एक अलग किस्म की राजनीतिक परिस्थितिया थी, आज दूसरे किस्म की परिस्थितियां हैं। उस वक्त आपातकाल लगा हुआ था। आपातकाल के बाद स्थितियों मे काफी बदलाव आया, लेकिन यह परिवर्तन महज ऊपरी था। यह परिवर्तन क्षणिक परिवर्तन था। आपातकाल के बाद पश्चिम बंगाल मे वाम मोर्चे की सरकार बनी। फिर राजनीतिक अस्थिरता का दौर भी आया। देश में हमने देखा कि एक के बाद एक मंत्री बदले जाते रहे और राजनीतिक परिस्थितियां बदलती रहीं। मुझे यह स्वीकार करने मे कोई हिचक नहीं है कि छात्र जीवन से ही मैं सक्रिय वामपंथी राजनीति के बेहद करीब था। इसका कारण भी था। मेरे घर का पूरा वातावरण वामपथी था। जब सी.पी.आई में बिखराव आया और मेरे घर के लोग सी.पी.एम. के पक्षधर हो गए तो मैं भी कॉलेज जीवन में एस.एफ से एस.एफ.आई. में आ गया। जब पश्चिम बंगाल में नक्सलबाड़ी किसान आंदोलन आरंभ हुआ तो मैं इसकी ओर आकृष्ट होकर इसमें शामिल हो गया। इसका कारण यह हो सकता है कि छात्र जीवन में जब हम राजनीति करने जाते हैं तो हमारी दृष्टि उतनी प्रखर नहीं होती, जितना तीव्र हमारा आवेग रहता है। मैं पूरी तरह से सक्रिय होकर सी.पी.आई.(एम.एल.) की राजनीति करता रहा। बाद मे यह

दल विभिन्न टुकडो मे विभक्त होता चला गया अलग अलग मतो और आदर्शोवाले राजनीतिक दल बनते चले गए। फिर भी नक्सलबाडी किसान आंदोलन का जो मूल आदर्श है, आज भी उसमें मेरी आस्था है। यह आदर्श दलगत विभाजन के बावजूद मेरी निगाहों के सामने आज भी पूरी तरह से साफ है।

नक्सलवाड़ी आंदोलन में आपकी पैठ कहां तक हो गई थी?

मैं केंद्रीय समिति तक जा पहुंचा था। नक्सलबाड़ी किसान आंदोलन को मै आज के संदर्भ में भी बिलकुल प्रयोजनीय मानता हूं। कार्यपद्धति को एकदम निरपेक्ष एव वैज्ञानिक ढंग से विश्लेषित करने की जरूरत है कि लक्ष्य की प्राप्ति मे विलंब क्यों हो रहा है? मनुष्य की राजनीतिक चेतना तो उत्तरोत्तर विकसित होती जाती है एव परिवर्तित स्थितियां सामने आती हैं। यह परिवर्तन दो तरह का होता है। एक है राजनीतिक पदस्खलन एवं दूसरा है अतीत का मूल्यांकन करते हुए वर्तमान के सीने पर खड़े होकर कोई सार्थक सृजन करना। मेरे इसी नजरिए के कारण राजनीतिक डाक्युमेंट्री 'मुक्ति चाई' एवं पहली फीचर फिल्म 'मोयनातदंतो' (पोस्टमार्टम) का जन्म हुआ। इन फिल्मों में कोई प्रत्यक्ष राजनीति नही है, लेकिन इसके रेशे-रेशे में राजनीतिक विसंगतियो की अंतर्धारा है। दोनो के मध्य दृष्टिगत अंतर नहीं है। मेरी दूसरी फीचर फिल्म 'चोख' (औरत) का राजनीतिक वक्तव्य जरूर अपेक्षाकृत स्पष्ट है। आप कह सकते हैं कि पूरे हिंदुस्तान में मैं ही पहला फिल्मकार हूं, जिसने 'स्टेट मशीनरी' पर सीधे-सीधे चोट की है। इसके बाद मेरी तीसरी फीचर फिल्म 'देवशिशु' धार्मिक अंधविश्वासों पर व्यंग्यपूर्ण आघात करने का प्रयास है। धर्म के विषैले ऑक्टोपसी गुजलक मे जकडे भारत के साधारण जन शोषण को अपनी नियति माने बैठे हैं। इसके खिलाफ विकसित हो रही चेतना के स्वस्थ अंकुरण की करुणा भरी, लेकिन आशामयी कहानी है 'देवशिशु'। आज भी नामी-गिरामी, प्रतिबद्ध वामपंथी फिल्मकार 'धर्म' नामक 'सक्रामक रोग' के विरुद्ध जनमत तैयार करने के लिहाज से जरा भी प्रयास नहीं करते, बल्कि अपना दामन बचाते फिरते हैं। धार्मिक पाखड पर उगली उठाने में भी वे हिचकते हैं।

आपकी छवि एक प्रतिबद्ध राजनीतिक फिल्मकार की बन गई है। आप अपनी फिल्मों की विषयवस्तु का चुनाव कैसे करते हैं?

मैं सिर्फ स्लोगनधर्मी किस्म की फिल्में नहीं बनाना चाहता। मैं बार-बार 'चोख' जैसी फिल्में भी बनाने के पक्ष में नहीं हू, क्योंकि यह हरकत मात्र एक अर्थ एव असर खोनेवाली पुनरावृत्ति के सिवा कुछ भी नहीं होगी, जो निश्चित रूप से

अपना प्रभाव खो देगी। सिर्फ हवा में तनी मुट्ठियां उछालने से, बुलंद आवाज मे स्लोगन देने से, क्रांतिकारी गीतोंवाली फिल्म बना देने से ही समस्या का निदान तलाश लेने का मुगालता नहीं पाल लेना चाहिए। वास्तविक जिंदगी में हम देखते आए हैं कि सिर्फ स्लोगन देने से कुछ नही होता। स्लोगन देनेवालों को आगामी कदम उठाने के बारे में वैज्ञानिक दृष्टि भी रखनी चाहिए। मेरे नजरिये में जो परिवर्तन इधर हुआ है, वह बहुआयामी है। राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक परिस्थितियों एवं सांस्कृतिक सवेदनशीलताजनित है यह परिवर्तन। द्वंद्वात्मक दृष्टिकोण से परे मैं किसी अन्य दृष्टिकोण में विश्वास नहीं करता, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति में, प्रत्येक फिल्म में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से एक राजनीतिक दृष्टिकोण रहता ही है। मैं महसूस करता हूं कि पहले की तुलना में और अधिक परिपक्व हुआ हूं, और अधिक समझदार हुआ हूं, और अधिक तीक्ष्ण यथार्थवादी दृष्टि का विकास हुआ है। आखिर उम्र बढ़ रही है न। अनुभव भी बढ़ रहा है। (मासूम हसी हस पड़ते है उत्पलेंदु।) यह परिवर्तन ही मेरी संपत्ति है। फिर भी मैंने अभी तक चार्ली चैप्लिन या आइजेंस्टाइन की क्लासिक फिल्मों जैसी एक भी फिल्म नही बनाई।

आपने एन.एफ.डी.सी. से ऋण लेकर 'देवशिशु' एवं दूरदर्शन के पैसे से 'रंग', 'अपरिचिता', 'विकल्प' आदि फिल्में बनाई हैं। इन सरकारी पैसों से फिल्म बनाते समय विषय वस्तु के चयन एवं विचारों के प्रस्तुतीकरण में क्या आप पूरी स्वतंत्रता का अनुभव कर पाए हैं?

हां, उत्पलेदु चक्रवर्ती के अपने उसूल है। वह सरकार से किसी किस्म का समझौता नहीं कर सकता। गौतम घोष ने 20 सूत्री कार्यक्रम पर पांच वृत्तचित्र बनाए हैं। मैं वैसा नहीं कर सकता। मैं तो 'रंग', 'अपरिचिता' एवं 'विकल्प' जैसी उद्देश्यपरक फिल्में ही बनाऊंगा, न कि भद्दे ढंग से भारतीय जनता को सलाह देने लगूंगा कि वे परिवार नियोजन के लिए निरोध का प्रयोग करें या अपनी पत्नियो को लूप लगवा दें। वित्तीय सहायता के अलावा मैं उनका किसी किस्म का हस्तक्षेप अपनी फिल्म में स्वीकार नहीं करता।

आप नक्सलबाड़ी किसान आंदोलन से जुड़े थे। क्या आपको यह नहीं लगता कि मूलभूत अधिकारों के लिए आदमी के जागरण एवं लड़ाई का चिंत्रण करनेवाली या लड़ाई के लिए जागृत होने के लिए प्रेरित करनेवाली फिल्मों को पूंजीवादी व्यवस्था में पुरस्कृत किया जाना एक क्रूर मजाक जैसा है, जबकि तमाम घपलेबाजियों के लिए पुरस्कार

देनेवाले लोगो का एक वर्ग ही जिम्मेवार है?

आज के दौर मे फिल्मों को पुरस्कृत किए जाने की भी अपनी एक राजनीति है। प्रगतिशील फिल्मों को पुरस्कृत करके यह शोषक पूंजीवादी व्यवस्था अपने घिनौने चेहरे पर प्रगतिशीलता का मुखौटा ओढने का छद्‌म पालती है। वैसे वह गंभीरता से जानती है कि ऐसी फिल्मों के दर्शक मध्यवर्गीय श्रेणी के सुविधाभोगी किस्म के लोग ही होते हैं। यह व्यवस्था इत्मीनान किए बैठी है कि ऐसी फिल्मो से अखिल भारतीय स्तर पर कोई क्रांतिधर्मी आंदोलन तुरंत खड़ा हो जानेवाला नहीं है। अतः उसके हित पर कोई आघात पहुंचानेवाली नहीं हैं ऐसी फिल्में। उन्हे पुरस्कृत कर दो। अपनी छवि प्रगतिशील बना लो। फिर भी मैं सरकारी कर्जे पर फिल्म बनाने के बावजूद यह कभी नहीं कहूंगा कि प्रधानमंत्री या राष्ट्रपति की जय। वे महान हैं एवं वे सही नीतियो पर चल रहे हैं। एक बात और! यह सरकारी पैसा तो पूर्णतः जनता का पैसा है, जनता के खून-पसीने की कमाई है, जो करो के रूप में वसूल किया गया है उनसे। पुरस्कार या फिल्म बनाने के लिए पैसा राष्ट्रपति थोड़े ही अपनी जागीर बेचकर देते हैं? इन पैसों का किस प्रकार और किसलिए उपयोग होता है, यह देखने की बात है। मैं फिल्म बनाने के लिए किसी सरकारी सहायता का न मोहताज हूं, न ही उसकी परवाह करता हूं। वर्षो तक सक्रिय राजनीति करने के बाद मैंने यही सीखा है कि खोने के लिए मेरे पास कुछ भी नहीं है, सिवा अपनी जिंदगी के।

पश्चिम बंगाल में वामपंथी सरकार को शासन करते बीसियों वर्षो से आप देख रहे हैं। आप इसकी कार्यप्रणाली से संतुष्ट हैं?

नहीं, बिल्कुल नहीं। मैं बार-बार इन लोगों की दोषपूर्ण कार्यपद्धति को देख-देखकर गंभीर हताशा से भर उठता हूं। सही मायने में यह कम्युनिस्ट सरकार है ही नहीं? कांग्रेसी संस्कृति एवं इस सरकार की संस्कृति में मुझे कोई खास फर्क नजर नहीं आता। आज सी.पी.एम. किस किस्म के प्रतिबद्ध कैडरों की जमात है? अवसरवादियों की, अराजक तत्वों की, अशिक्षितों की, जो नौकरी के लिए या निहित स्वार्थों के लिए पार्टी से चिपके हैं, जोंक की तरह। मैं हजारो कैडरों की बाहों मे गंडा-ताबीज दिखा दे सकता हूं। यह भी दावे के साथ कह सकता हूं कि काली पूजा, दुर्गा पूजा आदि में दादागीरी करके चंदा वसूलने मे, रंगबाजी करने मे, कांग्रेसियों जैसा चरित्र ही अख्तियार करते हैं ये कैडर। यह क्या है? अगर इनकी समालोचना करो तो ये कतई सहने के लिए तैयार नहीं होगे। जो अपनी आलोचना बर्दाश्त नहीं कर सकता, वह और चाहे कुछ भी हो

साहित्य पर जमकर बहस करते थे गोर्की को तो उन्होंने सभाला भी था, गोर्की तो हताश होकर आत्महत्या करने जा रहे थे। इस घटना को संभवत: बहुत कम लोग जानते होंगे। दरअसल सही स्थिति यह है कि हमारे देश में जो लोग राजनीति करते हैं या जो राजनीति करते रहते है, उनकी सांस्कृतिक चेतना एकदम निम्न स्तरीय रही है। मैं जिन दिनों राजनीति में लिप्त था, तभी मैंने देखा था कि बुर्जुआ का लेबल लगाकर सारे सांस्कृतिक तत्वों को खारिज कर देने का रिवाज-सा चला हुआ है। उनके खयाल से सांस्कृतिक गतिविधियों मे शरीक होना संशोधनवादी हो जाने की राह पर बढ़ जाने जैसा है। यह एक अहम् सवाल है। सांस्कृतिक क्षेत्र को नियंत्रित कौन करता है? सच्चा क्रांतिकारी कम्युनिस्ट फ्रंट ही तो... अगर इसी का अस्तित्व न रहे तो... अद्‌भुत पलायनवादी, दायित्वहीन, बनावटी एवं अत्यत चालाक कूटनीतिक राजनीतिक दलों में जो बात दिखाई पड़ती है, वह यह है कि ये लोग गायक, कलाकार, नाटककार, फिल्मकार आदि के कंधों पर बंदूक रखकर क्राति करना चाहते हैं अर्थात संस्कृतिकर्मी अपनी प्रस्तुतियो में ही सारे समाधान-वमाधान दिखा देंगे। इसके बाद वे क्रांति कर देंगे एवं क्रांतिकारी नेता-बाबू लोग आकर अपनी राजनीति को वहां पर स्थापित कर देंगे। इस किस्म का सारा समीकरण मूर्खतापूर्ण है। इस देश में कभी भी राजनीतिक एवं सांस्कृतिक आदोलन ऐक्य भाव से जुड़े रहकर सक्रिय नहीं रहे। यही वजह है कि भारतीय जीवनधारा में मानवीय मूल्यबोध आज हास्यास्पद-सा होकर रह गया है। जब तक वैज्ञानिक दृष्टि संपन्न राजनीतिक धारा और स्वस्थ सास्कृतिक गतिविधियों का समन्वय नहीं होगा, वांछित सफल आंदोलन आकाश-कुसुम ही रहेगा।

आप जैसे प्रगतिशील निर्देशकों द्वारा बनायी गई फिल्मों से क्या यह आशा की जा सकती है कि सामाजिक बदलाव की प्रक्रिया में उनकी कोई सार्थक भूमिका हो सकती है?

अगर हम यह भ्रम पालते हैं कि हमारी फिल्में सामाजिक बदलाव की दिशा मे तुरंत कोई सार्थक भूमिका निर्वाह करने लगेंगी तो हम मूर्खों के स्वर्ग में निवास कर रहे हैं। मुट्ठी भर बौद्धिक अय्याशों के पास तक ही तो हमारी यह तथाकथित प्रगतिशील फिल्में पहुंच पाती हैं। पूरा मुल्क अभी कुठा, हताशा एवं दिशाभ्रम के दौर से गुजर रहा है। जमीन इतनी दलदली हो गई है कि कोई भी विचार-वृक्ष अपनी जडें स्वस्थ ढंग से जमा ही नहीं पा रहा। वे जमीन को दलदली ही बनाए रखना चाह रहे हैं, अपने निहित स्वार्थो के लिए। फिर भी हम अपने सीमित साधनो से लैस होकर पूरी आशा के साथ सक्रिय हैं।

आपने एकदम साधनहीनता की स्थिति से फिल्मकार बनने की यात्रा की शुरुआत की थी। आप अपने संघर्ष के बारे में कुछ बताएंगे?

संघर्ष के दिनों की यंत्रणादायक परिस्थितियो को याद करके 'दुख-विलाप करने जैसा कुछ भी नहीं है। यह यंत्रणा तो हमारे देश मे समाज का अनिवार्य अग बन गई है। मैं किसी किस्म की शिकायत नहीं करता। हमारे देश के लोग तेल के लिए, पानी के लिए, दवा-दारू के लिए तरसते रहते हैं। अन्न के चंद दानो के लिए तडपते रहते हैं। उनके कष्टों की तुलना में फिल्म निर्माण के दौरान झेली गई मुसीबतें कोई अर्थ नहीं रखतीं। इस देश में सुकांत और निराला जैसे कवि इलाज के अभाव में मर जाते हैं। सत्यजित रे को 'पथेर पांचाली' बनाने के लिए अपनी मा के जेवर बेच देने पड़े थे। ऐसी विषम स्थितिया तो आती ही रहती है। इसलिए 'मुक्ति चाई' से लेकर 'विकल्प' तक यह सिलसिला बदस्तूर जारी रहा। उन दिनों लोग मुझे जानते तक नहीं थे। मौका मिलना कठिन था। अब मुझे फिल्में बनाने के लिए सहूलियतें मिल जाती हैं, लेकिन स्थिति कुल मिलाकर गाय मार कर जूता बनाने और दान करने जैसी ही है। फिल्में बनाने के लिए सुविधाए देती है सरकार, लेकिन फिल्मों के प्रदर्शन के लिए कोई प्रारूप नहीं है उसके सामने। कम से कम सभी बड़े शहरों में ऐसे प्रेक्षागृहों का निर्माण सरकार को कराना चाहिए था, जहां जनता के पैसों से बनी पुरस्कृत फिल्में दिखाई जाएं। फिल्मों को पुरस्कृत कर देती है सरकार, लेकिन जनता के पैसों से बनी, जनता का पैसा पुरस्कार के रूप में पाई फिल्में जनता तक पहुंच नहीं पातीं।

कहकर उत्पलेंदु उठ खड़े हुए और घड़ी की तरफ संकेत किया। उनकी ट्रेन का समय हो रहा था। हाथ मिला और विदा लेकर हम अपने घर लौट आए और उत्पलेंदु कलकत्ता चले गए। नरेन ने हमारी टेपित वार्ता ट्रांसक्राइब कर यथासमय भेजी, जिसे छापने के लिए विजय कुमार ले गए, तभी लेकिन उनकी पत्रिका बंद हो गई और यह वार्ता दबी पड़ी रह गई मेरी फाइलों में। नई सदी के आरंभ में ही लेकिन जब बनने से पहले ही विवादग्रस्त हो गई दीपा मेहता की फिल्म 'वाटर' की कहानी पर सुनील गंगोपाध्याय ने चोरी का आरोप लगा दिया तो सहसा उत्पलेंदु की फिल्म 'देवशिशु' पर स्वदेश दीपक का आरोप याद आ गया। तब उत्पलेंदु तो साबित हो गए थे सही, एकदम सही, क्योंकि वे खुद बांग्ला कहानीकार थे और उनकी कहानी स्वदेश दीपक की कहानी के छपने से पहले ही छप चुकी थी। इसलिए उत्पलेंदु पर कहानी चोरी का आरोप स्वतः खारिज हो गया था, लेकिन दीपा मेहता... दीपा मेहता क्या करेगी? □

सीरिया के एकलौते विज्ञान कथाकार

तालिब ओमरान

विज्ञान साहित्य के बिना नहीं चलेगा काम

काफी पहले भारत के प्रधानमंत्री स्वर्गीय राजीव गांधी सीरिया की राजकीय यात्रा पर गए थे, पर वहां के प्रख्यात विज्ञान कथाकार तालिब ओमरान अर्सा पहले से न सिर्फ भारत की, बल्कि पूरे भारतीय उपमहाद्वीप की यात्रा करते रहे हैं। यात्रा, सास्कृतिक यात्रा, जिसका वृत्तांत वे फाहियान और ह्वेनसांग की तरह तो नही, लेकिन अपने एक खास अंदाज में लिपिबद्ध करते रहे हैं। वे सतत यात्री हैं यात्रा-दर-यात्रा। उस किताब का पहला खंड पूर्णतः भारत पर केंद्रित है। दूसरे खड में पाकिस्तान, श्रीलंका, बांग्लादेश, भूटान और म्यांमार की यात्राओ के दौरान हुई उनकी प्रतिक्रियाएं अंकित हैं। सीरिया के तरतुस बंदरगाह में 1948 में जन्मे तालिब ओमरान लगभग आधी दुनिया का भ्रमण कर चुके हैं। भ्रमण को वे सत्य की खोज का एक हिस्सा मानते हैं और तरह-तरह के लोगों से मिलकर उनका सत्य जानने का एक जरिया, जिससे वे अपना नजरिया कुछ और व्यापक, उदात्त और मानवीय बना सकें। तालिब सीरिया में पैदा जरूर हुए, लेकिन न जाने क्यो, भारत उन्हें हमेशा अपने देश जैसा लगता रहा है। अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय से शायद इसीलिए उन्होंने गणित में डॉक्ट्रेट हासिल की, अन्यथा ब्रिटेन या अमेरिका, कहीं भी जाकर वे अपनी ज्ञान-पिपासा शांत कर सकते थे, लेकिन नहीं, भारत की प्राचीन विद्या और संस्कृति उन्हें बार-बार इस धरती की ओर खींच लाती रही है। उनका यकीन है कि भारत पर केंद्रित यह किताब 'थके लमहों का सफर' काफी समय तक महत्त्वपूर्ण बनी रहेगी। अरबी और अंग्रेजी में अब तक इनकी दो दर्जन से अधिक किताबें प्रकाशित हुई हैं, जिनमें से कुछ हैं : प्लैनेट ऑफ ड्रीम्स, साउंड फ्राम बॉटम, ट्रेवलर्स बिहाइंड द सन, लाइट इन द डार्क सर्कल, देयर इज नो पुअर इन द मून, प्लैनेट ऑफ लाइफ, वर्ल्ड एराउंड अस और ह्वाट इज द साइंस फिक्शन। तालिब से हमारी मुलाकात जवाहरलाल नेहरू

विश्वविद्यालय के उत्तराखंड कैंपस में सुपरिचित कथाकार नासिरा शर्मा के साथ हुई थी, जिसका एक फायदा यह हुआ कि तालिब की अरबी में कही गई बातों का तर्जुमा करके नासिरा हमें बताती गईं और यह सुविधा पाकर तालिब बार-बार अंग्रेजी की बजाय अरबी की तरफ भागते रहे और हमारी बातचीत अंतरंगता प्राप्त करती चली गई।

आप अरब देशों के पहले विज्ञान कथाकार माने जाते हैं। यहां हम आपसे यह जानना चाहते हैं कि आपने अपने रचनाकार से विज्ञान विषयक कथाएं या आलेख लिखवाना ही क्योंकर मंजूर किया, वह भी अब तक, लगातार?

देखिए, मेरी कथाएं निरी विज्ञान कथाएं नहीं हैं। वास्तव में तो वे राजनीतिक फंतासियां हैं। सामाजिक-सांस्कृतिक और आर्थिक समस्याओं से पलायन करके मैंने विज्ञान कथाओं का क्षेत्र मंजूर नहीं किया है, यह बात मेरी कथाएं पढ़कर जानी जा सकती है। मेरी कहानियों और लेखों से मेरे सरोकारों को बखूबी समझा जा सकता है। मेरी एक ही कथा 'चांद पर कोई गरीब नहीं' पढकर पाठक जान सकते हैं कि इसमें मैंने किस तरह धनवानों का मजाक उड़ाया है और किस खूबी से मेरी यह कहानी साम्राज्यवाद की धज्जियां उड़ाने का प्रयास करती है। धनिकों और बुर्जुआ लोगों ने हमारे समाज को अपना चरागाह बना रखा है। जब तक उन्हें समाप्त नहीं किया जाता, किसी भी समाज में खुशहाली नहीं आ सकती।

सीरिया की भाषा, सीरिया की पत्रकारिता, वहां के लोग, वहां के लेखक और उनकी विचारधारा के बारे में भारतीय पाठक बहुत कम जानते हैं। इन पर कुछ प्रकाश डालेंगे?

सीरिया की भाषा तो अन्य अरब मुल्कों की तरह अरबी ही है, लेकिन हमारा देश धार्मिक कट्टरता में आकंठ डूबे रहने की बजाय एक समाजवादी देश होने की राह पर है, बहुत हद तक उसे समाजवादी देश माना भी जाता है। हमारे देश के लोग इसरायल द्वारा हथियाई गई अपनी जमीन को तो वापस चाहते ही है, वे फिलिस्तीनियों को उनका वाजिब हक भी दिलाने की तमन्ना रखते है। हमारे यहां सामाजिक और आर्थिक स्तर पर भारत जैसी जमीन-आसमान की असमानता नहीं है। अधिक से अधिक त्रिस्तरीय समाज है हमारा। डेढ़ेक करोड़ की आबादी का छोटा-सा देश है, जहां 8 समाचारपत्र छपते हैं। 4 साप्ताहिक, 4 पाक्षिक और 10 मासिक पत्र-पत्रिकाएं हैं। सीरिया का सबसे बड़ा कवि मोहम्मद

माहूद और सबसे बड़ा हन्ना मिने को माना जाता है जकरिया तामिर भी काफी मशहूर नाम है, लेकिन विज्ञान कथाकार पूरी अरब बिरादरी मे सिर्फ दो हैं – एक मैं, सीरिया में और दूसरे निहाल शरीफ, मिस्र में। मेरे समकालीन लेखकों मे हसन यूसुफ, इब्राहीम खलील, नादिया खोस्त तथा नबील यदीद अच्छा लिख रहे हैं, जिन्हें पाठकों द्वारा काफी पसंद किया गया।

समकालीन अरबी भाषा की स्थिति क्या है। अरब देशों के बीच एक दूसरे के साहित्य को किस रूप में देखा और समझा जाता है? उनके संबंध कैसे हैं?

अरबी भाषा का भविष्य मुझे बहुत उज्ज्वल नहीं लगता। समझदार लेखक इसके लिए चिंतित भी बहुत हैं। सभी अरब जन देखने-सुनने में एक जैसे दिखते जरूर हैं, पर कोई किसी की फिक्र नहीं करता। पश्चिम की आख मूंदकर नकल कर रहे हैं लोग। 'खाओ, पिओ और मौज करो' का नारा वहां भी बुलंदी पर है। सीरिया मे किताबों के संस्करण पांच से दस हजार के बीच होते है, मगर सीरियाई साहित्य को सऊदी अरब के लोग पसंद नहीं करते, क्योंकि वह वहां के कुबेरों पर कटाक्ष करता है, उनका मजाक उड़ाता है। सीरिया में गंभीर साहित्य के साठ हजार से अधिक पाठक हैं, जिनके बीच हमारा साहित्य मनोयोग से पढा जाता है।

आपके रचनाकार बनने और फिर प्रतिष्ठित होने के बीच का संघर्ष? आप लेखक बने और प्रतिष्ठित हो गए, किस तरह?

मेरा जन्म एक गरीब परिवार में हुआ। 12 वर्ष की उम्र में मेरे सिर से मा का साया उठ गया। फिर पिता के साथ ब्राजील जाना पड़ा। बचपन में दादी ने और बड़ी बहन ने भरपूर स्नेह तो दिया, लेकिन मां के स्नेह का मुकाबला वे कहा कर सकती थीं। फलतः तन्हाई के उन क्षणों में किताबें मेरी जिंदगी में किसी महबूबा की तरह प्रवेश कर गई। तेरह वर्ष की उम्र में मैंने पहली कहानी लिखी, जिसका नाम था– 'रक्त प्रवाह', इस कहानी को स्कूल की कहानी प्रतियोगिता मे पहला पुरस्कार मिला, जिससे प्रोत्साहित होकर मैंने ढेर सारी कविताएं लिखीं, जो एकदम भावुक किस्म की रचनाएं थीं, जिन्हें बाद में परिपक्व होने पर आग के हवाले कर दिया। उसके बाद फिर कभी कविताएं नहीं लिखीं। 1976 में मेरी पहली किताब 'वर्ल्ड एराउंड अस' छपी, जिसमें मैंने वैज्ञानिक दृष्टि से अपने आसपास की दुनिया का अध्ययन करके उस पर प्रतिक्रिया जाहिर की है।

और सिर्फ विज्ञान कथाएं लिखने का कारण क्या रहा?

सजग होने पर मैंने देखा कि न सिर्फ सीरिया, बल्कि अधिकांश अरब देशो

के निवासी धर्म के नशे म डूबे हुए है कहने को तो वे धार्मिक है पर स्ांस्कृतिक रूप से निहायत ही पिछड़े हुए। उन्हे वैज्ञानिक विचारधारा और प्रगतिशील साहित्य से परहेज है। बस, मैंने विज्ञान विषयक लेख लिखकर उनकी चेतना को झकझोरने का बीड़ा उठा लिया और उसी क्रम में विज्ञान कथाएं मेरे गले का हार हो गई। मेरा यकीन है कि विज्ञान के इस युग में पारिवारिक साहित्य से काम नही चलेगा। साहित्य को यदि समाज का अभिन्न अंग बने रहना है तो समाज में जिस तरह से विज्ञान का दखल बढ़ रहा है, उसी तरह से साहित्य को भी विज्ञान सम्मत ही नहीं, विज्ञानोन्मुखी भी होना पड़ेगा, अन्यथा समाज में पारपरिक साहित्य की तरह वह भी पुरानी और पिछड़ी हुई चीज बनकर रह जाएगा और एक दिन काल का प्रवाह उसे एकदम से समाप्त कर देगा।

आपको नहीं लगता कि अरब राष्ट्र धार्मिक कट्टरता के कारण सांस्कृतिक और शैक्षिक रूप से पिछड़ रहे हैं?

एकदम सही कहा आपने। वैज्ञानिक और प्रगतिशील नजरिये के अभाव मे अरबी नस्ल दुनिया को कुछ दे नहीं पा रही। लेबनान क्यों छोड़ना पड़ा था खलील जिब्रान को? धार्मिक कट्टरता के कारण ही तो। हालांकि वे ईसाई थे, लेकिन थे तो अरबी संस्कृति और भाषा की ही उपज। लेबनान में उनका जीना कठिन हो गया तो भागकर अमेरिका चले गए, लेकिन मुल्क की मोहब्बत उन्हें फिर लेबनान खींच लाई थी। पूरे अरब जगत में खलील जिब्रान आज समादृत हैं, लोग मंटो और इब्ने इंशा को भी जानने लगे हैं, लेकिन अरबी समाज मे आधुनिकता के प्रति कोई खास लगाव न होने के कारण भारत क्या, एशिया के किसी भी मुल्क का बेहतरीन आधुनिक साहित्य वहां पहुंच नहीं पा रहा, इसके लिए कोई कोशिश भी होती दिख नहीं रही। मेरे जैसे कुछ लोग हैं, जो एशियाई मुल्कों की भाषाओं और उनके साहित्य से परिचित हैं। बाकी तो सन्नाटा है, गहरा सन्नाटा। यह सन्नाटा कब टूटेगा, कभी टूटेगा भी या नहीं, हम नहीं जानते।

कहकर तालिब चुप हो गए, एकदम चुप। और फिर उन्होंने लंबी सास छोड़ी, जैसी किसी प्रिय-अप्रिय व्यक्ति से कोई ह्रदयवेधी बात सुनकर कुछ कह न पाने पर हम छोड़ते है, जिससे कभी-कभी किसी-किसी का प्राणांत तक हो जाता है। अरबों के लिए यह बात है भी प्राणांतक, किसी भी जीवित देश और समाज का प्राणांत कर देनेवाली - 'मुर्दा है वह देश, जहां साहित्य (आधुनिक और अनूदित) नहीं है।' □

रणजी ट्रॉफी रिकार्डधारी क्रिकेटर

आनंद शुक्ला

खामियाजा भुगत रहा है उत्तर प्रदेश

और उनके हाथ की अंगुली कट गई, अंगुली भी कौन-सी, इंडेक्स फिंगर, इंडेक्स फिगर यानी खिलाड़ी के कौशल का एक महत्वपूर्ण हथियार, और वही कट गया, जैसे द्वापर में कट गया था एकलव्य का अंगूठा। द्रोणाचार्य के राजनीतिक षड्यत्र का शिकार हुआ था आदिवासी पुत्र एकलव्य, लेकिन आनंद ... आनंद के साथ ऐसी कोई बात नहीं थी, उसे महज एक दुर्घटना कहा जा सकता है, जिसके शिकार वे हो गए। फिर भी, शिकार तो शिकार है, चाहे राजनीतिक षड्यंत्र का हो या महज किसी दुर्घटना का। अंगूठा जाना था एकलव्य का, वह चला गया। अगुली कटनी थी आनंद की, वह कट गई। तब पंद्रह साल का रहा होगा एकलव्य, आनंद की भी लगभग यही उम्र थी, जब उनकी अंगुली कट गई; अंगुली भी कौन-सी, इंडेक्स फिंगर। अंगूठा खोकर गुमनामी के अंधेरे में खो गया था एकलव्य, मगर आनंद ... आनंद ने उस अंधेरे को चुनौती दी और इंडेक्स फिगर के बिना ही रणजी ट्रॉफी के इतिहास में अपना नाम दर्ज करवा लिया। आनद शुक्ला रणजी ट्रॉफी की नोटबुक में उस बिंदु तक पहुंचे, जिसे वीनू मांकड, पाली उम्रीगर, सलीम दुर्रानी, बोर्डे तथा जयसिम्हा जैसे क्रिकेट के दिग्गज छू तक नही सके। आनंद शुक्ला इन दिग्गजों की तरह ही आलराउंडर रहे। जितनी सटीक तेज गेंदबाजी करते, उतनी ही अच्छी बल्लेबाजी और क्षेत्ररक्षण भी, कैच लेने में तो उनका कोई सानी नहीं था। रणजी ट्रॉफी में 300 से भी ज्यादा विकेट लिये और रन बनाए 3000 से अधिक, जो रणजी ट्रॉफी में एक रिकार्ड रहा।

इंडेक्स फिंगर कट कैसे गई? घर की सफाई हो रही थी और आनंद एक ट्रक उतार रहे थे। वही उनके हाथ पर गिर पड़ा और अंगुली कट गई। एक अगूठा और तीन अगुलियों वाले रह गए आनंद शुक्ला और इनसे ही आनंद ने रणजी ट्रॉफी के अपने पहले ही मैच की पहली ही पारी में पहला विकेट गिराया

प्रख्यात टेस्ट खिलाड़ी वीनू मांकड का। उदयपुर में राजस्थान की ओर से खेल रहे थे वीनू मांकड और उत्तर प्रदेश का प्रतिनिधित्व कर रहे थे आनंद शुक्ला। समय और स्थितियों ने वीनू मांकड को अंतर्राष्ट्रीय टेस्ट खिलाड़ी का गौरव प्रदान किया और आनंद शुक्ला उत्तर प्रदेश खेलकूद निदेशालय के उपनिदेशक होकर ग्रीन पार्क स्पोर्ट्स कांप्लेक्स (मोदी स्टेडियम) कानपुर आ गए और नए खिलाड़ियो को प्रशिक्षण तथा सुविधाएं देकर खेलकूद की राष्ट्रीय टीमों में उत्तर प्रदेश को उचित प्रतिनिधित्व दिलाने में जुट गए। पकती उम्र के बावजूद युवकों-सा दमखम और बुलंद हौसला। सामान्य कद, पक्का गेहुंआ रंग, हाथ में बैट या बाल, खिलाड़ियों जैसे कपडे और पैरों में स्पोर्ट्स शू, चेहरे पर सहज मुस्कान! कही कोई अतिरिक्त आडंबर नहीं, एकबारगी किसी अपरिचित व्यक्ति से परिचय करवाया जाए तो वह साश्चर्य सोचेगा, यही है रणजी ट्रॉफी का बादशाह, उत्तर प्रदेश का खेलकूद अधिकारी और नए खिलाड़ियों का चहेता आनंद शुक्ला!

एक सामान्य मध्यवर्गीय परिवार में जन्म लेने, विभिन्न नगरों में पढने नौकरियां करने तथा उत्तर प्रदेश खेलकूद निदेशालय का उपनिदेशक बनने तक आनंद की जिंदगी बहुत रोचक-रोमांचक नहीं है, वह हमारी और आपकी तरह एक मामूली-सी जिंदगी है। उनके पिता कानपुर कैंट में सेवारत थे। यहीं पर 15 जनवरी, 1941 में जन्मे थे मिस्टर आनंद। हाई स्कूल तक यहीं पढ़े और फिर पजाब चले गए, जहां से इंटर की परीक्षा पास की और फिर आ गए इलाहाबाद विश्वविद्यालय, जहां से आर्गेनिक केमिस्ट्री में एम.एस-सी. की डिग्री ली। यूनिवर्सिटी मे उन्होंने पांचवां स्थान पाया था, यद्यपि हमेशा ही वे दो महीने पढ़कर परीक्षा देते रहे। बाकी समय खेलने-कूदने में बीतता रहा, बावजूद इसके पढ़ने में वे फिसड्डी कभी नहीं रहे। शिक्षा खत्म हुई तो अशोक लीलैंड कंपनी, दिल्ली में नौकरी मिल गई। उन्हे लालबहादुर शास्त्री के पुत्र हरि शास्त्री का सहायक बनाया गया था। अक्तूबर, 1966 मे टाटा स्टील कंपनी, जमेशदपुर में केमिस्ट हो गए। उत्तर प्रदेश सरकार ने पेशकश की तो उपनिदेशक का पद स्वीकार कर लिया। यद्यपि इससे उन्हे आर्थिक क्षति उठानी पड़ी, पर उत्तर प्रदेश के खेलकूद के स्तर को ऊंचा उठाने के लिए उन्होंने उस आर्थिक क्षति को महत्त्व नहीं दिया। बचपन में जैसे हमारी आपकी खेलों में सहज रुचि होती है, वैसे ही आनंद की भी थी। फुटबाल और क्रिकेट उनके प्रिय खेल थे। तभी टेस्ट मैचों की श्रृंखलाएं शुरू हुई, जिसमे खिलाड़ियों को अपार यश मिलने लगा। यश के इस ग्लैमर ने उन्हें क्रिकेट से इस कदर जोड़ा कि फुटबाल दूर कहीं पीछे छूट गया और पत्नी श्रीमती शोभा को क्रिकेट से सौतिया डाह होने लगा। नेतृत्व का गुण आनंद में बचपन से ही

था। टीम के वे प्रायः कप्तान होते और फिर यूनिवर्सिटी से निकलकर रणजी ट्रॉफी में खेलने लगे। 1964 में जब इलाहाबाद में थे तो रणजी ट्रॉफी मे उत्तर प्रदेश की ओर से खेलते थे। 1965 मे दिल्ली थे तो दिल्ली की ओर से, 66 से 74 तक जमशेदपुर में थे तो बिहार की ओर से खेलते रहे। 75 के बाद कानपुर आ गए तो उत्तर प्रदेश की ओर से खेलते रहे। दिलीप ट्रॉफी के लिए 62 से 64 तक मध्य क्षेत्र से और 65 में उत्तर क्षेत्र से खेलने के बाद 66 से 74 तक पूर्वी क्षेत्र से खेलते रहे। इसी दौरान जमशेदपुर में एम.सी.सी. की टीम के खिलाफ खेले, जिसके कप्तान थे टॉनी लुइस। बिल लारी की कप्तानी वाली आस्ट्रेलियन टीम के खिलाफ गोहाटी में खेले। दुबारा कोलिन काउड्रे की कप्तानी वाली एम सी.सी. की टीम के खिलाफ इंदौर में खेले। मद्रास में बॉबी सिंपसन की कप्तानी वाली आस्ट्रेलियाई टीम से सन् 64 में ट्रायल मैच खेला।

"और अब?" मैने पूछा तो मुस्कराते हुए बोले आनंद, "अब खेलने में नही नए और युवा लोगों को खेल सिखाने और आगे बढ़ाने में मजा आता है।"

"उत्तर प्रदेश का खेलकूद की राष्ट्रीय टीमों, खासकर क्रिकेट में उचित प्रतिनिधित्व क्यों नहीं है?" पूछने पर आनंद ने कहा था, "प्रदेश के खिलाडियो खासकर क्रिकेट खिलाड़ियो के खेल में कोई विशेष कमी कभी नहीं रही, किंतु क्रिकेट कंट्रोल बोर्ड में उत्तर प्रदेश का कोई व्यक्ति कभी नहीं रहा। कोई उचित व्यक्ति भी नही निकला, जो उत्तर प्रदेश की बात रखता। अधिकारी क्षेत्रीय हित साधने में व्यस्त हैं, यही उत्तर प्रदेश के क्रिकेट खिलाड़ियों का दुर्भाग्य है। अगर ऐसा न होता तो उत्तर प्रदेश के खिलाड़ियों को प्रतिनिधित्व तो मिलता ही, हमारी राष्ट्रीय टीम कुछ और बेहतर होती। कुछ कमियां हमारी भी थीं–हमारा सिस्टेमेटिक खेलकूद, कॉलेज और यूनिवर्सिटी तक सीमित रहा। बाहर कोई क्षेत्र न था कि वहा से निकलनेवाले छात्रों को प्रोत्साहन और संरक्षण मिलता। अब जब कि उत्तर प्रदेश सरकार ने स्टेडियम वगैरह बनाकर खिलाड़ियों को क्षेत्र व सुविधाएं प्रदान की हैं तो कॉलेजों और यूनिवर्सिटियों का मामला गड़बड़ा गया है। मैदानों में भवन आदि बन जाने से जगहों का अभाव हो गया है, जिसके कारण छात्रों में उद्दंडता बढती जा रही है।"

कहते हुए आनद की नजरें ग्रीन पार्क स्टेडियम में अभ्यास मैच खेल रहे कानपुर के उन लड़कों पर चली गईं, जिन्हें अवसर मिले तो वे देश और प्रदेश का नाम रोशन कर सकते हैं, लेकिन नहीं मिल पाता। वे कुछ सोचने लगे तो लगा कि अब मुझे चलना चाहिए अपने काम पर, और उन्हें करने देना चाहिए उनका काम। □

3 वैष्णवों से वार्ता

उत्तर आधुनिक गुरु

रामकुमार शर्मा

बच्चों के प्रथम शिक्षक होते हैं मां-बाप

राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र, दिल्ली के शैक्षिक जगत में डीपीएस और एपीएस जैसी शिक्षा संस्थाओं को कौन नहीं जानता। डीपीएस जैसा विस्तार भले ही न हो लेकिन शैक्षिक स्तर और परीक्षा परिणाम के मामले में एपीएस यानी एल्कॉन पब्लिक स्कूल उससे कहीं भी उन्नीस नहीं पड़ता और ट्रांस यमुना क्षेत्र में तो कोई स्कूल शायद ही निकले, जो किसी भी रूप में एपीएस का मुकाबला कर सके। बीसवीं सदी के आखिरी दशक में एपीएस को ऐसी ऊंचाई प्राप्त करने मे जहा अहलूवालिया परिवार की दृढ़ इच्छा शक्ति और श्रेष्ठतम शैक्षिक संस्थान कायम करने की महत्वाकांक्षा काम आई, वहीं स्कूल के प्रिंसिपल रामकुमार शर्मा के बहुमुखी अनुभव और अनथक श्रम का इसमें भारी योगदान रहा। वे स्कूल के नायक नहीं, महानायक सिद्ध हुए। सदी के अंतिम वसंत की एक खुशनुमा दोपहर मे उनसे भेंट हुई तो हम उनके मुरीद हुए बिना न रह सके। अगली मुलाकातो मे परिचय जब मैत्री में बदला तो लगा कि इस शख्स को जरा और करीब से देखना और जानना चाहिए कि यह आदमी आखिर बना किस मिट्टी का है। अपनी जिज्ञासाएं मैंने उनके सामने रख दीं, जिनके उत्तर उन्होंने बड़ी गंभीरता से दिए। कई मुलाकातों में सवाल-जवाब की कड़ियां जब जुड़ीं तो मैंने देखा कि एक कोमल ह्रदय का इंसान और गुरु मेरे सामने है, जो ऊपर से बेहद कठिन और कठोर दिखने के बावजूद भीतर से कहीं बेहद सरल, सच्चा और अच्छा है। केंद्रीय माध्यमिक शिक्षा बोर्ड की संबद्धता समिति, दिल्ली शिक्षा निदेशालय की सलाहकार समिति और चांदला रिव्यू कमेटी के सदस्य तथा केंद्रीय माध्यमिक शिक्षा बोर्ड के मुख्य परीक्षक और 'मैथमेटिक्स टुडे' के संस्थापक-संपादक रहे रामकुमार शर्मा साइंस ओलंपियड फाउंडेशन के सलाहकार भी हैं।

आपका जन्म और पालन पोषण कब, कहा और कैसे परिवार मे हुआ? अपने परिवार की सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक पृष्ठभूमि के बारे में बताइए।

दिल्ली, भारतवर्ष की राजधानी, जिसमें स्थित एक छोटा-सा गाव भरथल पास में एक रेलवे स्टेशन, बस स्टैंड, दो किलोमीटर की दूरी पर पालम हवाई अडडा, गांव में उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, चौपाल, एक मन्दिर, दो तालाब जिसमें से एक पर मेला लगता था और 'दादा मोटे' की पूजा होती थी, चारो तरफ ढेर सारे कुए, बैलों से चलित रहट, हरियाले खेत, जिनमें गेंहू, ज्वार, बाजरा सरसों, गन्ना, दालें, मूली, शलजम आदि की फसले होतीं, भरे हुए खलिहान, कही आम, अनार, अमरूद, नींबू और संतरे के बाग, बुजुर्गों की जगह-जगह बैठके, हुक्कों की गुड़गुड़ाहट, गोधूलि के समय किसानों की अपने बैलों की घुंघुरुओ की सगीतमय आवाज के साथ वापसी। कुल मिलाकर संपूर्ण औपचारिक और अनौपचारिक शिक्षा का केंद्र और रमणीय आवास स्थल था हमारा गांव, भरथल। इसी गांव के एक ब्राह्मण परिवार मे पैदा हुआ था। जन्मतिथि तो मुझे मालूम नहीं। मां ने सिर्फ इतना बताया था कि मैं उतरते आसाढे की पाचे नबिया वाले साल पैदा हुआ, पर स्कूल में मेरी जन्मतिथि 4 अप्रैल, 1950 लिखवाई गई। पाच साल से पहले का अपना बचपन ज्यादा कुछ याद नही। मेरे दादा-दादी तो मेरे पैदा होने से पहले ही भगवान को प्यारे हो गए थे, पर हमें एक अन्य औरत ने दादी का प्यार दिया, जिसे हम दादी भग्गन के नाम से बुलाते थे। दादी ने मुझे बताया था कि मैं बचपन में बहुत कमजोर था। पैदा होने के बाद एक साल के भीतर बीमारी के कारण मैं हड्डियों के ढांचे में बदल गया, लेकिन मां और दादी भग्गन ने हिम्मत नहीं हारी। वे मुझे वैद्यों-हकीमों के पास उठाए फिरती रहीं। धीरे-धीरे मेरी हालत सुधरने लगी। उनकी मेहनत और आस्था के कारण ही आज मै आपके सामने बैठा आपके प्रश्नो के उत्तर दे रहा हूं।

मेरे माता-पिता बहुत पढ़े-लिखे नहीं थे। माताजी कभी स्कूल गई ही नही पर हिंदी पढ़ना-लिखना जानती थीं। वह एक सभ्य, सांस्कृतिक तथा भगवान मे आस्था रखनेवाली महिला थीं। हर त्योहार विधि-विधान से मनाती थीं। पिताजी 1935 में मैट्रिक में फेल हुए। उस समय मैट्रिक फेल भी अच्छे पढ़े-लिखों में गिने जाते थे। 1936 में वे पुलिस में भर्ती हो गए। उन दिनों पुलिस की नौकरी बडी कठिन और जिम्मेदारी की होती थी। पिताजी नौकरी के दौरान पुलिस स्टेशन मे ही रहे। घुड़सवारी और बंदूक से निशाना लगाने में वह निपुण थे। कभी-कभी जब गाव में कमर में पिस्तौल लटकाकर घोड़े पर टप-टप की आवाज करते हुए आते

टे हमे बडा अच्छा लगता हम पाच भाई थे एक बहन भी थी जिसे मैं देख नही पाया। मेरे पैदा होने से पहले ही वह गुजर गई थी। गांव मे हमारे पास पाच एकड जमीन थी। पानी देने के लिए एक कुआं और रहट था। बैल, गाय और भैंसें थी। घर अनाज और अन्य जरूरी चीजों से भरा रहता था। दो मकान थे : एक मिट्टी से बना कच्चा तथा दूसरा पक्का, पर हम रहते कच्चे मकान में ही थे। पशुओं और खेती का सामान रखने के लिए एक बहुत बड़ा न्योहरा था। 1956 तक किसी भाई की शादी नहीं हुई थी। वे प्यार भरे दिन और वह संगठित परिवार आज भी रह-रहकर अक्सर याद आता है।

उस समय के सामाजिक ताने-बाने का कुछ खुलासा करें तो बातें कुछ और स्पष्ट हों।

मां अकेली खेती का काम देखती थीं। हम सब भाई भी जितना बन सकता था मां का हाथ बटाते थे। खेतों में अनाज के अलावा गन्ना, गाजर, मूली शलजम, खरबूजा, ककडी और फल भरपूर होते थे। सर्दियों में सारे भाई आग के चारों तरफ बैठकर गन्ने और अन्य फलों-फसलों का आनंद लेते। गुड़ घर में ही बनाते थे। वैसे मां की मदद के लिए हमारी दादी बुआ भी हमारे साथ घर पर सख्त पहरेदार की तरह रहती थीं। साफ-सफाई, पूजा-पाठ का इतना ध्यान रखती थीं कि आजकल शहर के अच्छे-अच्छे परिवारों में भी देखने को नही मिलता। हमारा परिवार गाव के संपन्न और सभ्य परिवारों में गिना जाता था। गाव मे किसी भी परिवार से हमारा लड़ाई-झगड़ा या दुश्मनी नहीं थी। मैंने बचपन मे अपने माता-पिता और भाइयों को कभी दूसरे परिवारों की बुराई करते नहीं सुना। गाव में उस समय वातावरण ऐसा होता था कि सभी परिवार सुख-दुख में एक दूसरे के साथ होते थे। घर में घी, दूध या रिश्तेदारों द्वारा लाई गई चीजों को बाटकर खाते थे। किसी परिवार के पास किसी चीज की कमी होती तो दूसरे परिवार स्वयं ही उनकी मदद के लिए पहुंच जाते। हम सब ने भी यही संस्कार लिये। खाने-पीने की चीजें घर में आतीं तो उसमें से आधी पहले पड़ोसियों में बाट दी जातीं, फिर हम खाते, पर पिताजी का मिजाज थोड़ा भिन्न था। वे न तो किसी की चीजें लेना चाहते थे, न ही देना। वे बड़े सफाई-पसंद व्यक्ति थे, अपने कपडे भी अपने आप धोते, लेकिन खेती-बाड़ी का काम उन्हें बिलकुल नहीं आता था। सो गांव में रहना पसंद न करते और गांववालों के मामलों में कोई दखलंदाजी न करते। हां, अपनी बहन भरतो देवी की उन्होंने जीवन भर तन-मन-धन से खूब मदद की। हमारे मामा श्रीशीशराम चांदनी चौक में रहते थे, जिनके तीन लडके

और दो लड़किया थीं, पर मां को वहां से ज्यादा लगाव न था और वहां ज्यादा आना-जाना भी पसद न करतीं। हां, मामा के बडे लडके निहाल दत्त और उनकी पत्नी रामा से उन्हें बहुत प्यार था और उनसे मिलकर बहुत खुश होती थीं। पिताजी मामा के पास काफी आते-जाते थे। दूर के रिश्ते में हमारे एक और मामा थे श्रीनन्दलाल, जो मिलकपुर गांव में रहते थे। मां-बाप बचपन में ही गुजर जाने के बाद मेरी मां को उन्होंने ही पाला-पोसा था, जिनके तीन लड़के थे, जिनमे मुशीराम और जिले सिंह शादीशुदा थे और मां को अपनी मां की तरह प्यार करते थे। उनके घर में कोई भी कार्य मां के बगैर संपन्न न होता। मां को भी उनसे बहुत लगाव था और वह अपना मायका मिलकपुर ही मानती थी। हम सब भाई भी वही ज्यादा आते-जाते थे। हमारी बुआजी भी दिल्ली के ही गांव झटीकरा में रहती थी, जहां ककड़ी, खरबूजे, तरबूज आदि बहुत पैदा होते थे। हम छुट्टियों में वहा काफी-काफी दिन रह आते। हमें सच्चा प्यार-दुलार मिलकपुर और झटीकरा मे ही मिला।

आपकी पढ़ाई-लिखाई कैसे हुई? तब की पढ़ाई-लिखाई में क्या अच्छाई-बुराई थी? क्या-क्या काम आपको करने होते थे?

धीरे-धीरे हम सब बड़े हो रहे थे। सबसे बड़े भाई राम नारायण ने 1957 मे मैट्रिक की परीक्षा दी। उनसे छोटे भाई रूप नारायण दर्जा दो से आगे नहीं पढे और उन्होंने खेती-बाड़ी का काम संभाल लिया। राम नारायण नगर निगम की नौकरी में लग गए। मैं और भाई मनकेराम गाव के प्राइमरी स्कूल में पढ़ते थे और ब्रह्म प्रकाश अभी बहुत छोटे थे। दिन हंसी-खुशी में गुजरते थे। मिलकर भाई रूप नारायण की खेती-बाड़ी में मदद करते और पढ़ाई भी। उन दिनों हमें काफी कुछ सीखने को मिला : हल चलाना, फसलें उगाना, गुड़ बनाना, सब्जियां उगाना इत्यादि। उसी समय हमने दोमंजिला पक्का मकान भी बनवाया और उसी में रहने लगे। 1967 में मैने गांव के स्कूल से विज्ञान में ग्यारहवीं की परीक्षा पास की। उन दिनों भाई मनकेराम बी.ए. में पढ रहे थे। तब स्कूलों का वातावरण आजकल के पब्लिक स्कूलों जैसा गहन-गंभीर होता था। अनुशासन बड़ा सख्त था। शिक्षक अपने विद्यार्थियो को बहुत प्यार करते और बड़ी मेहनत से पढाते। सातवीं कक्षा तक मैं सभी विषयों मे अच्छे नंबर प्राप्त करता रहा। बस, एक गणित में हमेशा फेल हो जाता, लेकिन दूसरे सभी विषयों में अच्छा होने के कारण आठवीं कक्षा तक मुझे कभी फेल नहीं किया गया। जब नवीं कक्षा में पहुंचा तो मैंने विज्ञान प्रणाली चुनी। हिम्मत राय हमारे गणित के अध्यापक थे। वे ऊपर से तो बड़े सख्त

व अनुशासन प्रिय थे, पर अदर से विद्यार्थियों को बहुत प्यार करते थे। उन्होंने ही मेरे भीतर गणित के प्रति रुचि का चिराग जलाया। कुछ ही दिनों में मुझे गणित सबसे अच्छा विषय लगने लगा। स्कूल की छुट्टी होने के बाद मैं शाम को स्कूल जाता और किसी भी कक्षा में जाकर पूरे बोर्ड को गणित के सवालो से भर देता। बरसात के दिनों में खेत-खलिहान में बैठकर प्रकृति के बारे में खूब लिखता। अग्रेजी सीखने का बहुत शौक था। गलत-सही जो भी आता, लिखता जाता था। सही मार्ग दर्शन करानेवाला कोई नही था, लेकिन ऊपर उठने की इच्छा मेरे भीतर प्रबल थी।

तब की अपनी दिनचर्या बताइए। इस संदर्भ में किसी शिक्षक ने कोई प्रभाव डाला?

गांव में उन दिनो बिजली नहीं थी। मैंने दीवार के ऊपर कुछ ईंटें रखकर एक छप्पर डाला और अपने पढ़ने का अलग स्थान बनाया। लालटेन की रोशनी मे रात भर पढ़ता रहता था, पर बाकी घरवालों को सूर्योदय से पहले उठना पडता था। मां तो सूर्योदय से पहले ही खेतों से चारा ले आती थीं। सुबह स्नान करने से पहले किसी को खाना नहीं मिलता था। दांत साफ करने के लिए नीम या कीकर की दातुन इस्तेमाल करनी पडती। सुबह स्नान के बाद दही, छाछ, मक्खन और गेहूं, जौ, चने की मोटी चपातियां मिलतीं और दोपहर को सब्जी-रोटी। शाम को रबड़ी, रोटी-सब्जी आदि। सूर्यास्त से पहले खा लेना होता था। सोने से पहले दूध और गुड़ हमेशा लेना पड़ता। महीने में चार बार खीर जरूर बनती थी। 1961 मे प्राइमरी स्कूल पास कर उच्चतर माध्यमिक विद्यालय में छठी कक्षा में प्रवेश किया। स्कूल में दो बड़ी पक्की इमारतें थी। बीच में हरा-भरा बगीचा। बगीचे के बीचोंबीच एक चौराहा और चौराहे के बीच में अशोक स्तंभ। कुछ कक्षाएं टेन्टो मे लगती थीं। आसपास के पांच मील में वह अकेला बड़ा स्कूल था, जिसमें पांच-छह गावों के बच्चे पढ़ते थे। हर कक्षा की फूलों की एक क्यारी होती थी। बच्चे अपने हाथों से काम कर स्कूल के बगीचे को फूलों से हरा-भरा रखते। सरकारी स्कूलों मे यह चीज आज कहीं देखने को भी नहीं मिलती। वह स्कूल आज भी है, पर वीरान और नीरस स्कूल के रूप में। जब मैं सातवीं कक्षा में आया तो एक शिक्षक सत्यदेव शास्त्री मिले, जो संस्कृत पढ़ाते थे। वह हमें एक कविता हर रोज सुनाते 'लाल मिर्च और तेल खटाई, कभी न खाओ मेरे भाई। खाकर तुम लाचार रहोगे दुखिया और बीमार रहोगे। दूध, दही, घी, मक्खन खाओ, अपनी ताकत खूब बढाओ।" वह आदर्श जीवन व्यतीत करते। खाने में नमक तक न डालते। सिर

ते, जिसमें सात गांठें होती थीं। खद्दर का कुर्ता-पजामा, पैरों मे
भी सख्त अनुशासन में रहते और बच्चों को भी उसी तरह रखते थे।
ने उनसे पूछा, "मास्टरजी, आप हमें लाल मिर्च और तेल खटाई खाने
करते हैं? किसान यह सब चीजें खाने के लिए ही तो उगाते हैं।
ने एक ही वाक्य कहा, "बेटा, चटपटी चीजें खाने से विचार गंदे होते
इस वाक्य का मुझ पर इतना गहरा असर हुआ कि आज तक तली
चीजों से दूर हूं। होटल और शादियों में भी खाने की इच्छा नही
ज्यादातर घर आकर ही खाता हूं।

का बचपन, कैशोर्य और छात्र जीवन प्रायः घटनाबहुल होता है। दिनों की कुछ यादगार घटनाओं का स्मरण है क्या? है तो कुछ का सा कीजिए।

मैं आठवीं क्लास में पढता था तो बुआजी के गांव में जोर की बाढ
आसपास के गांव भी डूब गए। बुआजी का पूरा परिवार हमारे यहां आ
ब तक बाढ़ खत्म नहीं हुई, वे लोग पांच महीने हमारे यहां रहे। बाढ
रूप नारायण भाई बुआजी के यहां मदद के लिए चले गए। गेहू की
वाली थी। मई-जून के महीनों में मैं खेतों की रखवाली करता और
ला खेतों में फसल के ढेरों पर पहरा देता। उस समय मैं बारह साल
-पास के किसान रात के समय मेरा हौसला बढ़ाते। उन दिनों हिरन,
श आदि खेतों में खूब मिलते थे। मैं अपनी बगल में जेली रखकर
ता था। कुछ ही दिनों में दिल मजबूत हो गया। चांदनी रात के उस
ग और ताजी हवा में जो आनंद मिलता था, उसे आज भी नहीं भूला
ही सीख गया था कि गलत संगत में नहीं रहना है। अगर किसी
गलत आदत हो तो या तो उसकी आदत छुड़ा देता या फिर उसकी
ता था। इस विषय में एक घटना मुझे आज भी याद है। हमारे खेतो
ट भाइयों का खेत था। उनका बडा बेटा किशन खेती का काम
ब फसल उठती तो वह अपने पिता से आंखें बचाकर अनाज चुराता
कर खाता। एक दिन उसने मुझसे कहा, "पंडितजी, आज मैं आपको
हूं। अपना अनाज चुराकर, कल आप मुझे खिलाना।" मैं समझ गया
चोरी सिखाना चाहता है। मैने मन ही मन सोचा कि इसको सबक
मैंने उसकी शर्त मंजूर कर ली। पहले दिन उसने मुझे बर्फी खिलाई।
री बारी थी। मैं गांव के तालाब पर मिठाई का खाली डिब्बा लेकर

गया उस तालाब की मिट्टी बहुत चिकनी थी, मैंने मिट्टी की चौकोर बर्फिया बनाकर धूप में सूखने के लिए रख दीं। एक घंटे बाद चूने के पानी में डुबोकर उन्हे फिर सुखा दिया। एक दुकान पर गया और एक मुट्ठी अनाज के बदले बर्फी का एक टुकड़ा खरीदा, जिस पर चांदी का वर्क लगा था। मिट्टी की बर्फियों से डिब्बा भर दिया। उसके ऊपर असली बर्फी रख ली और उसके पास गया। किशन बर्फी का डिब्बा देखकर बड़ा खुश हुआ। हाथ-मुंह धोकर अपना अंगौछा बिछाते हुए कहने लगा, "पंडितजी, लाओ बर्फी।" वह जब मिठाई खाता था तो आनंद लेने के लिए आंखें बंद कर लेता था। मैंने मिठाई का डिब्बा सामने रखकर खोला और असली बर्फी उठाकर खाने लगा। उसने भी अपनी आंखें बद कीं और मिट्टी की एक बर्फी उठाकर मुंह में डाली। उसके मुंह में बर्फी रखते ही मैं वहा से भाग आया। वह वहीं खड़ा उसे थूकता मुझे गाली देता रह गया, पर उस दिन के बाद उसने बर्फी खाने-खिलाने को कभी नहीं कहा। आज भी जब गांव जाता हू तो वह इस घटना की याद जरूर दिलाता है।

इसके अलावा भी कोई और घटना है, जिसे आप अब तक न भूले हों?

हां, उसी दौरान एक और घटना हुई थी। गांव में एक तालाब था, जिसे 'मुल्ला जोहड़' कहते थे। उसके किनारे एक मंदिर था, जिसमें दादा मोटे को पूजा जाता था। मां हर इतवार वहां पूजा करने जाती थीं। छठी कक्षा से मैं भी दादा मोटे की पूजा करने जाने लगा था। हर रोज दिन छिपने के समय एक लोटा पानी और पक्षियों के लिए दाने लेकर जाता। दो साल इसी तरह बीत गए। जब मैं आठवीं कक्षा में था तो एक दिन पूजा करने गया। तालाब से पांच बार मिट्टी बाहर निकालकर डाली, पक्षियों के लिए दाने फेंके। दादा मोटे को नहलाया और हाथ जोड़े। दादा मोटे को नहलाने के बाद पीछे बने शिवाले मे भगवान कृष्ण की पूजा करने गया तो अंदर एक काला आदमी बैठा मिला। उसकी आखे अंगारों की तरह लाल थी। वह एक काली लाठी, जिसके किनारों पर पीतल चढा हुआ था, ऐसे पकडकर बैठा था, जैसे मुझे मारेगा। शाम गहरा चुकी थी और मैं वहां अकेला था। उसे देखते ही जोर से चीखा और भाग खड़ा हुआ, यह कहते हुए, "मार दिया, मार दिया।" जब गाव में पहुंचा तो लोगों ने मुझे रोकने की कोशिश की और पूछा कि क्या हुआ, पर मैं नहीं रुका। सीधा अपने घर आया, खाना खाया और सो गया। थोड़ी देर बाद मां ने मेरे सिर पर हाथ रखकर देखा तो मुझे तेज बुखार था। रात में एक सपना देखा। एक साधू हमारे घर के द्वार पर आया और मुझसे कहा, "बच्चा, आटा दो।" मां ने हमसे कहा हुआ था कि कोई

भी घर पर मांगने आए तो एक मुट्ठी आटा जरूर दे दिया करो। खाली हाथ किसी को नहीं लौटाना चाहिए। मैं एक मुट्ठी आटा लाया और साधू को देने लगा। साधू ने कहा, "थाली भरकर लाओ।" मैंने बाहर निकलकर देखा कि कहीं मां तो नहीं आ रही है। फिर अंदर गया, एक थाली आटा लाया और साधू के थैले में डाल दिया। साधू ने मेरे सिर पर हाथ रखा और कहा, "जा बच्चा, कभी असफल नहीं होगा।" यह कहकर साधू गायब हो गया। सुबह उठकर यह सपना मैंने मां को बताया तो उसने कहा कि दादा मोटे तुझे दर्शन दे गए। इस घटना के बाद मैंने पूजा करने जाना छोड़ दिया। कभी-कभी विशेष अवसर पर ही जाता था, पर आज भी कोई कार्य करने से पहले दादा मोटे को नमस्कार जरूर करता हू।

बचपन में कभी-कभी अचानक लगता है कि हम मरते-मरते बचे हैं। आपके साथ भी घटित हुई ऐसी कोई घटना?

1964 में जब मैं नवीं कक्षा में आया तो विज्ञान प्रणाली चुनी। पहली बार सभी विषय हमें अंग्रेजी माध्यम में पढ़ने थे। घर पर तो कोई अंग्रेजी जानता नहीं था। केवल मनकेराम भाई से कभी कुछ पूछ लेता था। वह मुझसे दो कक्षा आगे थे। उन दिनों विज्ञान के अध्यापक बहुत कम मिलते थे। नवीं और दसवीं कक्षा मे विज्ञान के अध्यापक हमें नहीं मिले। अपने आप जैसे-तैसे पढ़ने की कोशिश करते थे। अंग्रेजी और गणित के अध्यापक बहुत अच्छे थे। ग्यारहवीं में सभी अध्यापक बहुत अच्छे मिले, पर तब तक हम पिछड़ चुके थे। किसी तरह हायर सेकेंडरी की परीक्षा पास की तो गांववालों और परिवार से बहुत प्रशंसा मिली जिससे लगा कि मैं भी कुछ करने लायक हूं और आगे बढ़ सकता हूं। उन दिनो गाव में हर चीज का अभाव था। एक साल तो ऐसा अकाल पड़ा कि खाने-पीने की चीजें कम हो गईं। एक दिन तो हमने देखा कि पूरे गांव में खाने के लिए अनाज नहीं है। हमारा परिवार भी एक रात भूखा ही सोया। एक विषय मे एक से ज्यादा किताब नहीं मिलती थी। कापी-पेन आदि भी बड़ी कंजूसी के साथ बरतते थे। स्कूल में तकली से सूत कातना सिखाया जाता था। हमें यह सब सामान पास के गांव से लाना पड़ता, जो दो कोस की दूरी पर था। रास्ते में रेलवे स्टेशन पड़ता था। एक दिन मैं और राजिंदर तकली के लिए पूनियां लेने जा रहे थे। मालगाड़ी स्टेशन पर खड़ी थी। दो डिब्बों के बीच से हमें गाडी पार करनी थी। पहले राजिंदर ने गाड़ी पार की। फिर मैंने जैसे ही पैर रखा, एकदम से गाडी चल पडी और मैं दो पटरियों के बीच गिर गया मेरी गर्दन पटरी पर थी और पहिया धीरे-धीरे मेरी तरफ आ रहा था राजिदर ने बडी तेजी से खींचा

और मै बाल-बाल बच गया। उस दिन मुझे नया जीवन मिला। इसके लिए मै जीवन भर राजिंदर का शुक्रगुजार रहूंगा।

जैसे आजकल कालेजों में रैगिंग होती है, क्या आपके समय में भी होती थी? आपकी भी कभी रैगिंग हुई?

सच्चाई और ईमानदारी में बचपन से ही मेरा विश्वास रहा है। एक बार परीक्षा में मेरे सामने बैठा लड़का नकल कर रहा था। जैसे ही मैंने उसे नकल करते देखा, एकदम खड़े होकर अध्यापक से शिकायत की और वह पकड़ा गया। परीक्षा के बाद वह लड़का मेरी पिटाई करने आया तो बड़ी मुश्किल से बड़े भाई ने छुड़ाया और समझाया। ग्यारहवीं पास करने के बाद कालेज में दाखिले की तैयारी करने लगा। 1967 में दिल्ली विश्वविद्यालय के एक कालेज में बी.एस-सी मे दाखिला मिला। जब मैं पहले दिन कालेज गया तो न तो मुझे रैगिंग का मतलब मालूम था, न ही यह मालूम था कि कालेज में रैगिंग भी होती है। अचानक कुछ सीनियर लड़कों ने मुझको पकड़ लिया और उल्टे-सीधे सवाल पूछते हुए मेरी कमीज उतारने लगे। मैंने एक झटका दिया और अपने को छुड़ाकर पत्थरों के ढेर पर जा उन पर पत्थर बरसाने शुरू कर दिए। बाद में उन्होंने मुझे बुलाकर समझाया, पर उसके बाद मेरी रैगिंग नहीं हुई।

आपके बच्चे कितने हैं? आपने उनका पालन-पोषण कैसे किया? उनकी शिक्षा-दीक्षा किस रूप में हुई? अपने जीवन से उनके जीवन की तुलना करते हुए अंतर स्पष्ट करेंगे?

मेरे दो बच्चे हैं : एक पुत्र और एक पुत्री। जब वे पैदा हुए तो मै एक स्कूल मे गणित का विभागाध्यक्ष और होस्टल वार्डन था। मेरे माता-पिता भी साथ रहते थे। पत्नी सरकारी दफ्तर में अफसर थी, लेकिन मेरी ड्यूटी सख्त थी। स्कूल के बच्चों की शिक्षा और देखभाल के लिए मुझे सुबह पाच बजे से रात दस बजे तक वही रहना पडता। अपने बच्चों के लिए हमें बहुत कम समय मिलता। बच्चों का पालन-पोषण मेरे माता-पिता के हाथों हुआ। उन्हीं के प्यार और संस्कारो की छत्रछाया में वे पले और बड़े हुए। अपने बच्चों को पढ़ाने का समय नहीं मिलता था। हां, मैंने अपने बच्चों को हमेशा प्रेरित करने की कोशिश जरूर की। उनकी हर गलती को माफ करके एक बात जरूर कहता था, ''आप बहुत अच्छे बच्चे है अच्छे बच्चों से भी कभी-कभी गलती हो जाती है।'' मैं सोते समय और सुबह उठते समय एक वाक्य आज तक बोलता हूं, ''हे ईश्वर, सब पर दया करना।' मेरे बच्चों ने भी इसे ग्रहण कर लिया है। मैंने अपने घर का वातावरण अपने

हिसाब से बनाया पूजा पाठ और भारतीय सस्कृति को अपनाया घमड और दिखावे को कभी पास नहीं आने दिया। मेरे बच्चे अपने आप इस वातावरण मे ढलते चले गए। मैंने उन्हें कभी डांटा-फटकारा नहीं। उनके दसवी में पहुंचने से पहले रंगीन टीवी या वीसीआर नहीं लिया। वे टीवी पर कुछ भी देख सकते थे। टीवी पर जो भी कार्यक्रम आते, उन सबको मैं बच्चों के साथ डिस्कस करता तथा भविष्य में उनके परिणामों पर वार्तालाप करता। धीरे-धीरे जो मैं चाहता था वे ग्रहण कर गए। उसके बाद मुझे उनका मार्गदर्शन करने की जरूरत नहीं पडी। मैने कभी किसी काम के लिए अपने बच्चों की कहीं सिफारिश नही की। मैं उनसे हमेशा एक बात कहता था कि आपके जीवन में आपके माता-पिता की सफलता का कोई महत्व नहीं है। आप अपने को महत्वपूर्ण बनाकर दिखाइए। उन्हें मैं एक और बात हमेशा कहता था कि जिस विषय में कम मेहनत से अच्छे परिणाम मिलते हैं, वही आपकी सफलता का द्वार है। आज वे दोनों सुव्यवस्थित हैं, पर आज जब मैं अपने माता-पिता, स्वंय अपना और आज के बच्चों के विचारों, रहन-सहन और दिनचर्या का विश्लेषण करता हूं तो पाता हूं कि जनरेशन गैप लगातार बढता जा रहा है। इसका मुख्य कारण है 'लक्ष्मीजी का प्रकोप'। लक्ष्मी जरूरत से ज्यादा जहां भी जाती है, विनाश किए बगैर नहीं रहती। यह विनाश कई तरीकों से आता है जैसे नैतिक मूल्यों में गिरावट, रहन-सहन में बदलाव, झूठा घमड और दिखावा। मनुष्य धीरे-धीरे अपनी इच्छाओं का गुलाम होता जा रहा है। धन व भोग की इच्छा उसे नैतिक मूल्यों से गिरा रही है। पुराने समय में धन का अभाव था, लेकिन लोगों को मिल-जुलकर रहने की आदत थी। लोग एक दूसरे के पूरक थे और यही चीज नैतिकता को जन्म देती है। जब मनुष्य अपनी इच्छाओं का गुलाम होने लगता है तो वह पशु प्रवृत्ति ग्रहण करने लगता है। भौतिकवादी प्रगति के साथ इस बदलाव को न पश्चिम में कोई रोक पाया, न भारत में कोई इसे रोक पाएगा। अगर माता-पिता, शिक्षक, सरकार और समाज आज के बच्चों की विचारधारा को रचनात्मक नहीं बना पाए तो याद रहे कि मनुष्य की प्रगति ही मनुष्य के विनाश का कारण बन सकती है।' मनुष्य जो भी कार्य करता है, उसका कोई लक्ष्य जरूर होता है। वह उसमें आशा की किरण देखता है। यह आशा या लक्ष्य कितना परोपकारी, सामाजिक, बलिदानी, आत्मज्ञानी या स्वार्थी है, यह निर्भर करता है उस परिवार, समाज या संस्था के वातावरण विचारधारा और अनुशासन पर, जिसके प्रभाव में मनुष्य का कार्यकाल सम्पन्न होता है। हर माता-पिता की इच्छा होती है कि उसका बच्चा पढ़-लिखकर उनकी आशाओ के अनुरूप अपने ढंग का व्यक्ति बने। इस व्यक्ति के बनने में माता-पिता

एव परिवार के संस्कार, विचारधारा, रहन-सहन, अनुशासन और मानव मूल्य महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। मैने जब अपनी प्रारंभिक पढ़ाई-लिखाई शुरू की तो हर चीज का अभाव-सा दिखाई देता था। कपड़े, कापी, पेन, पेंसिल आदि नपे-तुले ढंग से उपलब्ध होते। यह सभी चीजें दोबारा तब तक नहीं मिलती थी, जब तक कि इनका पूरी तरह से इस्तेमाल न हो जाता। सात्विक भोजन और व्यायाम पर जोर दिया जाता था और समय-समय पर उसके गुण बताए जाते थे। उन दिनों ट्यूशन नाम की कोई चीज नहीं होती थी, न ही परिवार मे पढ़ाई-लिखाई मे मदद करनेवाला कोई होता था। कई बार तो किताबें भी एक दूसरे से उधार लेकर या मांग कर पढनी पड़ती थीं, जिसकी वजह से हमें लगन के साथ काम करना होता था। सबसे अच्छी बात उस समय यह थी कि जब भी बच्चे बडे लोगो के बीच जाकर बैठते तो वे उनका मनोबल बढ़ाते। छोटे कार्य की भी इतनी सराहना करते कि बच्चे के अन्दर आत्मविश्वास जागृत हो जाता। वे बच्चे की हर गलती को माफ कर उसे विश्वास दिलाते कि आगे सब कुछ अच्छा होगा। पहले बच्चे के परिवार वाले अपने बच्चे का पक्ष दूसरों के सामने नहीं लेते थे, जबकि बाहर वाले उस बच्चे का पक्ष लेते थे और प्यार जताते थे। आज स्थिति इसके सर्वथा विपरीत है।

तब के माता-पिता और अब के माता-पिता में क्या अंतर पाते हैं?

उस समय हर माता-पिता का अपने बच्चे की पढ़ाई-लिखाई के प्रति एक अच्छा भाव होता था और वे उसे सच्चा और अच्छा इंसान बनाने की कोशिश करते थे। मुझे याद है कि मेरे पिता ने कालेज में जाने से पहले दो बातें कही थीं आपके पेट में वही खाना जाना चाहिए, जो आपकी मेहनत की कमाई का है। अगर आप किसी से दस रुपये लेते हैं तो उसका बीस रुपये का काम कीजिए। दूसरों की मदद करना, जीवो पर दया करना, नियम से रहना, सोते और जागते समय भगवान का नाम लेना जैसे वाक्य बड़ों के मुंह से हमारे कानों में हमेशा पडते रहते थे। वे खुद भी ऐसा ही आचरण करते थे और हमसे भी कराते थे। बच्चों की पढ़ाई-लिखाई का लक्ष्य केवल पैसा कमाना नहीं होता था। इस अनौपचारिक शिक्षा का खात्मा होता जा रहा है। उस समय घरों में टीवी आदि कुछ भी नहीं हुआ करते थे। कहीं दूर बैठक में एक रेडियो रखा होता था, जिस पर या तो खबरें या फिर रागनियां सुनते थे। उस समय रागनी व गाने आजकल की तरह नहीं होते थे, बल्कि सामाजिक दृष्टांत और जीवन की वास्तविकता या देशभक्ति से भरे होते थे। कुल मिलाकर अध्ययन करने वाले बालक की एकाग्रता

भग करने के साधन बहुत कम थे। हमारे दो ही काम होते थे : पढ़ाई-लिखाई या फिर खाली समय मे घर के काम-काज में हाथ बटाना तथा माता-पिता व बडे-बूढ़ों की सेवा करना। उन दिनों के वातावरण और जीवन शैली में बच्चे का मानसिक संतुलन व निजी जरूरतों पर नियंत्रण बना रहता था। ये सारे गुण बच्चे मे अनजाने में आते रहते थे, जो कि एक सभ्य और सुशील नागरिक में होने जरूरी हैं और जिनके अभाव में आज के बच्चे आधे-अधूरे नागरिक बनते दिखाई देते हैं। हां, एक चीज जो आज के बच्चों को ज्यादा उपलब्ध है, वह है कैरियर कौंसिलिंग। उन दिनों बच्चों को खुद ही आगे बढ़ना होता था। रास्ते अपने आप ढूढने पड़ते थे, लेकिन अपनी मेहनत से जो चीज मिलती है, उसका फल बहुत मीठा, संतोषजनक, शांतिप्रद और सुखमय होता है। आजकल के माता-पिता ज्यादा पढ़े-लिखे हैं और वे बच्चों के सोचने से पहले ही रास्ते दिखाने के लिए तत्पर रहते हैं। बगैर मेहनत किए बच्चों को सब कुछ मिलता रहता है विशेष कर शहरों व विकसित गावों में। जरूरत से ज्यादा मदद उपलब्ध होने के कारण कई बार बच्चों की अपनी रचनात्मकता मर जाती है। आजकल के शहरी या विकसित समाज में बच्चों का लक्ष्य आर्थिक सम्पन्नता व स्वार्थ की ओर ज्यादा है। प्रतियोगी भावना बढ़ती जा रही है, जिससे संबंधों और जीवन मूल्यो का नाश होता जा रहा है। मैंने भी अपने बच्चों को पुराने सस्कारों के साथ आगे बढ़ाना चाहा, लेकिन जीवन की तेज दौड़, व्यवसाय में कुछ भी न खोने की प्रवृत्ति व सामाजिक वातावरण के कारण पूरी तरह सफल नहीं हो सका। हालांकि मेरे बच्चे भी मेरे उपदेशो को पसद नहीं करते थे, पर मैंने खुद उन संस्कारों पर चलना नहीं छोड़ा, जिसका असर बड़े होने के बाद आज बच्चों में भी दिखाई देने लगा है।

अपनी डिग्री की पढ़ाई के समय को याद करें। कभी आपको पुरस्कार आदि भी मिले? पढ़ाई के साथ कैरियर की तैयारी किस तरह की और क्या-क्या पापड़ बेले?

मैंने दिल्ली यूनिवर्सिटी से बी.एस-सी. करने के बाद मुल्तानीमल डिग्री कालेज, मोदी नगर में दाखिला लिया। मेरे घर वाले या माता-पिता कभी भी मेरे साथ दाखिला दिलाने या किसी संस्था का पता करने नहीं गए। मैं खुद ही दोस्तो से पूछपाछ कर रास्ता निकालता था। दाखिला लेने के बाद ही घर को पता लगता था कि मैंने कहां दाखिला लिया है। जब मैं एम.एस-सी. में दाखिला लेने गया तो विभागाध्यक्ष ने पूछा, "क्या आपने माडर्न मैथ्स पढ़ा है?" उन दिनों दिल्ली विश्वविद्यालय में माडर्न मैथ्स लागू नहीं हुआ था। मैंने कहा, "नहीं।" उन्होने

मुझसे कहा, "फिर आप यहां क्या करेंगे?" इस पर मैंने एक ही वाक्य उनसे कहा "मै पहले करके दिखाता हूं। फिर बात करता हूं।" यह सुनकर वह बड़े खुश हुए और मुझे दाखिला मिल गया। उन दिनों मेरे पास दो ही ड्रेसें होती थीं और मै होस्टल मे रहता था। एक दिन कुछ बदमाश होस्टल में घुस आए और हर बच्चे से पैसे और कुछ कपडे छीनकर ले गए। मेरी भी एक ड्रेस और पांच रुपये ले गए। मैंने बची हुई एक ड्रेस में ही दो साल गुजारे। शाम को धोकर सुबह वही ड्रेस पहननी पड़ती थी। उन दिनों साठ रुपये मे हमारा पूरे महीने का काम चल जाता था, जिसमें खाना-पीना और फीस, सब शामिल था। घरवालों को कभी अपनी कोई परेशानी न बताता ताकि उन्हें कष्ट न हो। खुद ही अपनी सारी समस्याओं का हल निकालता था। मार्केट में किताबें नही मिलती थीं। एक किताब 'रियल एनालिसिस' (जॉन बार्टिन) उन दिनों उपलब्ध ही नहीं थी। यूनिवर्सिटी मे उसकी कुल चार प्रतियां थीं, जो कि कालेजों मे 15-15 दिनों के लिए दी जाती थीं। मुझे वह पुस्तक केवल एक रात के लिए मिली। मैंने एक रात में ही पूरी किताब नकल कर डाली। उसके बाद उस नकल से ही अध्ययन किया। उन दिनो मेस के खाने के अलावा हमें कुछ न मिलता। वहां पर नाश्ता भी न होता। सुबह आधा किलो दूध लेता था, जो पानी ही पानी होता था। उसे पीकर कालेज चले जाते थे। कभी-कभी तो भूखे भी जाना पड़ता। शाम के समय मोदी मंदिर प्रार्थना करने जरूर जाता। इस दौरान दिन में सोलह घंटे लकडी की कुर्सी पर बैठकर पढ़ता। सिर्फ चार घंटे सोता। चार घंटे कालेज और स्नानादि को देता। शरीर सूखकर कांटा हो गया, पर शायद ईश वदना से मुझे बल मिलता रहा। उन दिनों जो भी छात्र कालेज में प्रथम आता, उसे मोदीजी सोने का मेडल और एचएमटी घड़ी देते थे। मैंने ये दोनों चीजें प्राप्त कर खुशी हासिल की।

एम.एस-सी. करने तक मुझे यही नहीं पता था कि यू.पी.एस.सी. नाम की भी कोई संस्था है। जब मुझे मुजफ्फर नगर के एस.डी. कालेज और भिवानी के वैश्य कालेज से लेक्चरर की ऑफर आई तो एक दोस्त ने कहा कि आप आई ए.एस. में क्यों नहीं जाते? मैंने लेक्चरर की ऑफर ठुकराकर आई.ए.एस की तैयारी शुरू कर दी। उन्हीं दिनों मेरे एक प्रोफेसर डी.एस. तोमर अमेरिका जा रहे थे। उन्होंने मुझसे कहा कि मैं पी-एच.डी. के लिए अमेरिका में आवेदन करूं। उन्होंने अपनी रिकमंडेशन के साथ शिकागो यूनिवर्सिटी में मेरा आवेदनपत्र भिजवाया और मुझे शिकागो में पी-एच.डी. के लिए प्रवेश मिल गया। छह महीने बाद वहां मुझे छात्रवृत्ति दिलाने का भी वादा किया, पर दुर्भाग्य से न तो मेरे पास हवाई जहाज से जाने के पैसे थे, न ही वहां छह महीने तक रहने का खर्चा। मेरा

वह सपना भी टूट गया। फिर मैंने आई.ए.एस की तैयारी शुरू की। इस दौरान किसी ने कहा कि साथ-साथ बी.एड भी क्यों नहीं कर लेते। मैंने एन.सी.ई.आर टी के अजमेर स्थित क्षेत्रीय कालेज में प्रवेश-पत्र भेजा। वहां मैने टेस्ट में दिल्ली क्षेत्र से टॉप किया और मुझे बी.एड. में दाखिला मिल गया। उन दिनों मैं मनन ज्यादा करता था, किताबें कम पढ़ता था। मेरे पास आज भी बी.एड. की कोई पुस्तक नहीं है, न ही मैंने कभी बी.एड. के नोट्स बनाए। मेरे एक शिक्षक डॉ चिलाना कहते थे, "आप कभी पढते दिखाई नहीं देते, आप जरूर फेल होगे। इस पर मैं कहता कि समझ में ही नहीं आता कि क्या पढ़ूं। जो कुछ आप कक्षा मे बोलते हैं, मुझे लगता है कि वह तो मैं पहले ही जानता हूं। 250 विद्यार्थियो मे से 21 की प्रथम श्रेणी आई, जिनमें से एक मैं था। तब डॉ. चिलाना की हैरानी का ठिकाना न रहा और उन्होंने मुझे वहीं डिमांस्ट्रेशन स्कूल में नौकरी की ऑफर दे दी तथा वहीं से एम.एड. और बड़ौदा से पी-एच.डी. करने की सलाह दी, पर मैंने कहा कि मुझे दिल्ली वापस लौटकर आई.ए.एस. की तैयारी करनी है।

छात्र जीवन या ट्रेनिंग के दौरान किसी गंभीर बीमारी के शिकार हुए? उन दिनों चिकित्सा आदि की क्या व्यवस्था होती थी?

हां, अजमेर में मुझे फिर नया जीवन मिला। वहां खाने के नाम पर दाल का पानी और सूखी रोटियां मिलती थी। भेड़-बकरी का दूध, जिसमें पांच किलो दूध में आठ किलो पानी होता था। ऊपर से जब वहा उर्स का मेला लगा तो बीमारी फैल गई। पांच लोगों की मौत हो चुकी थी। मैं भी बीमार पड गया। बहुत तेज बुखार आता और पसीने से रजाई भीग जाती। मलेरिया समझकर मुझे डॉक्टर कुनैन की गोलियां खिलाता रहा और मेरी हालत बिगड़ती चली गई। मैं हड्डियों के ढांचे में बदल गया। मेरा रूममेट महावीर सिंह मुझे कंधे पर उठाकर डाक्टर के पास ले जाता। अपना जेब खर्च काटकर मेरे खाने का प्रबंध करता। आखिर मेरा खाना-पीना बंद हो गया। मुझे भी लगने लगा कि एक दो दिन बाद मै मर जाऊंगा। 15वें दिन मेरा रूममेट जब मुझे कंधे पर उठाकर डाक्टर के पास ले गया तो वहां डॉ. चिलाना बैठे थे। उन्होंने डाक्टर से ठीक से जाच करने को कहा। मैंने डा. से कहा कि मुझे तो टाइफाइड लगता है। डाक्टर ने कहा, "अच्छा, तो लो यह दवा।" और मुझे एक खुराक लेते ही आराम महसूस हुआ। दो दिन बाद मुझे अपने शरीर में जान महसूस हुई और इस तरह मुझे तीसरा जीवन मिला, लेकिन इस सब की जानकारी मैंने घरवालों को नही दी। उन दिनों विद्यार्थी जीवन संघर्ष और मुसीबतों से भरा होता था, लेकिन ये मुसीबतें जीवन को कुछ ऐसे मूल्य

प्रदान करती थीं, जो आज के विद्यार्थी को नहीं मिल पाते। मानसिक संतुलन धैर्य, आत्मविश्वास, सयम, सब्र, मुसीबतों को झेलने की शक्ति जैसे जीवन मूल्य अपने आप विद्यार्थी में विकसित होते थे, जिनके बगैर शिक्षा अधूरी मानी जाती है। आज शहरी और विकसित गावों के बच्चों को खाने-पीने की, पैसे की, रहने-सहने की, पढ़ाई-लिखाई के सामान की तथा आने-जाने की सुविधाएं आवश्यकता से ज्यादा उपलब्ध हैं। इसी कारण शायद आज का विद्यार्थी महत्वपूर्ण जीवन मूल्यों से वंचित होता जा रहा है। जिस तरह सोना भट्टी में तप कर और निखरता है, उसी प्रकार विद्यार्थी भी संघर्ष करता हुआ महानता की ओर बढ़ता है। इसीलिए गांवों में पले बच्चों में ईमानदारी, अच्छाई और सच्चाई ज्यादा देखने को मिलती है।

पढ़-लिखकर आप शिक्षक ही बनना चाहते थे या कुछ और? शिक्षक बनने का फैसला कब और कैसे किया?

मैं जीवन में कभी शिक्षक नहीं बनना चाहता था। बी.एड. करने के साथ मै आई.ए.एस. की लिखित परीक्षा पास कर इंटरव्यू में फेल हो चुका था। दूसरी कोशिश जारी थी। इसी दौरान अपना खर्चा चलाने के लिए दो स्कूलों में गणित शिक्षक के लिए आवेदनपत्र भेजा। एक डे स्कूल था, दूसरा रेजीडेंसियल। डे स्कूल बहुत पुराना था, जिसकी फैकल्टी काफी बड़ी थी। मैं वहां जाने पर सबसे जूनियर होता। यह सोचकर मै नए खुले रेजीडेंसियल स्कूल में अपेक्षाकृत कम वेतन पर चला गया। पहले दिन मैंने वहां सुबह 11 बजे काम संभाला। उस दिन मुझे वहां एक ही कक्षा पढ़ाने को मिली, पर शाम को जब मैं टहलने निकला तो देखा कि चारो तरफ मेरी ही चर्चा है। मैंने अचानक सोचा कि अगर मेरे एक लेक्चर का असर इतना जबर्दस्त है तो शायद शिक्षण का प्रोफेशन ही मेरे लिए उचित है। और उसी दिन मैंने आई.ए.एस. की तैयारी छोड़ शिक्षक बनने का फैसला कर लिया। उस समय स्कूल के प्रिंसिपल थे लेफ्टीनेंट कर्नल आर.एम. एल. भटनागर। पहले वह सेना में मनोचिकित्सक थे। मुझे स्कूल में आए एक ही महीना हुआ था कि उन्हें छुट्टी पर जाना पड़ा। वह कहने लगे कि आप ही स्कूल सभालेंगे। मेरे बहुत मना करने पर भी वह नहीं माने। और भी सीनियर लोग थे, पर उन्होंने कहा कि आप अपना काम अच्छी तरह कर सकते हैं। और इस तरह मैं स्कूल प्रशासन में आ गया। छह महीने बाद मुझे हाउस वार्डन बना दिया गया। मै स्कूल में सबसे कम उम्र का हाउस वार्डन था। रेजीडेंसियल स्कूल में हाउस वार्डन की दिनचर्या बड़ी सख्त होती है। हमें सुबह पांच बचे उठना पड़ता। साढ़े पाच बजे बच्चों के साथ मैदान में पी.टी. के लिए जाना होता। सात से आठ बजे

तक बच्चे अपना होमवर्क करते। आठ से साढ़े आठ बजे तक नाश्ता, साढे आठ से 9 बजे तक प्रार्थना, 9 बजे से 2 बजे तक स्कूल की पढाई। 2 बजे से ढाई बजे तक लंच, ढाई बजे से साढ़े तीन बजे तक विश्राम। साढ़े तीन से चार बजे तक शाम का नाश्ता, 4 बजे से 6 बजे तक खेल-कूद, साढ़े छह बजे से सात बजे तक सांध्य प्रार्थना, 7 बजे से 8 बजे शाम तक होमवर्क, 8 बजे से साढ़े आठ बजे तक भोजन, साढ़े आठ से रात साढ़े नौ बजे तक सामान्य क्रिया-कलाप, 10 बजे रात बच्चों के सोने का समय। इस तरह सुबह पांच बजे से रात 11 बजे तक होस्टल वार्डन अपने घर-परिवार की कोई देखभाल नहीं कर सकता था। कभी–कभी तो इतना थक जाता कि स्कूल जानेवाले कपड़े पहने-पहने ही सो जाता। बड़ी सख्त दिनचर्या थी, पर मैं इसे एक शिक्षक की ट्रेनिंग मानकर चला। पिताजी के कहे वाक्य मुझे याद थे। मैं खूब काम करता था। दूसरे शिक्षकों के काम भी मैं ले लेता, पर प्रिंसिपल के सामने कभी दिखावा न करता। दूसरों का काम करके उन्हीं का नाम लिख देता। इस तरह मैंने स्कूल की हर शाखा को अच्छी तरह परखा और जाना। होस्टल में बच्चो की हर समस्या की जिम्मेदारी होस्टल वार्डन की होती थी। पढ़ाई-लिखाई, बीमारी, रहन-सहन, खाना, दोस्तो से लडाई-झगड़े, मां-बाप की याद आदि सबका समाधान मुझे करना होता था क्योकि होस्टल में मैं ही उनका माता-पिता था। उन दिनों मेरी शादी नहीं हुई थी स्कूल में कोई कहता कि आपके कितने बच्चे हैं तो मैं कहता, 'एक सौ एक।'' मेरे होस्टल में एक सौ एक बच्चे थे। किसी बच्चे को कष्ट होता तो मुझे खाना अच्छा न लगता। रात-रात भर जागकर उसका हाल पूछता रहता। मैंने अपने होस्टल के बच्चों को कभी दूसरे होस्टलवालों से ईर्ष्या करना नहीं सिखाया। हालाकि दूसरे वार्डन खुले आम कहते थे कि कोई भी हाउस जीते, शर्मा का हाउस हारना चाहिए, पर भगवान की कृपा से मैं वहां ग्यारह साल वार्डन रहा और ग्यारह के ग्यारह साल मेरा ही हाउस चैंपियन होता रहा।

छात्र और अध्यापक का रिश्ता अत्यंत महत्त्वपूर्ण रिश्ता होता है। इस रिश्ते से जुड़ी कोई यादगार घटना बताइए, जिससे आपका या आपके किसी छात्र का जीवन प्रभावित हुआ हो।

मुझे स्कूल के प्रांगण में ही एक भव्य मकान मिला हुआ था। एक दिन की बात है कि मैं पत्नी के साथ बगीचे में बैठा था। रात के ग्यारह बज चुके थे। स्कूल की छुट्टियां हो गई थीं। कुछ बच्चे होस्टल में रुके हुए थे, क्योंकि उनकी ट्रेन एक-दो दिन बाद की थी। अचानक ग्यारहवीं का एक लड़का कमल लोचन दास

मेरे घर आया और बोला, "सर, इस दुनिया में जीने का क्या फायदा। मैंने 89 प्रतिशत नम्बर लिये। मैंने कभी किसी को तंग नहीं किया। फिर भी बच्चे मुझसे नफरत करते हैं। मेरे साथ बैठकर खाना नहीं खाते, क्योंकि मैं हरिजन हूं।" वह असम का रहनेवाला था और उसके पिता दंगों में मारे गए थे। घर पर आमदनी का कोई साधन नहीं था। स्कूल उसे तीन हजार रुपये वार्षिक की छात्रवृत्ति देता था। मुझे डर लगा कि यह लड़का कहीं सुसाइड न कर ले। मैंने पूछा, "तुम्हारा जाने का रेल का टिकट कहा है?" उसने जेब से रेल का टिकट निकालकर मुझे दे दिया। मैंने टिकट को फाड़कर फेंक दिया और कहा, "तुम पांच दिन बाद जाओगे और इन दिनों तुम मेरे घर रुकोगे।" दूसरे दिन मैंने पत्नी से अच्छा खाना बनाने को कहा और कहा कि आज हम सब कमल लोचन के साथ खाना खाएंगे। जब आधा खाना खा चुके तो मैंने कमल लोचन से कहा, "देखो, मैं गौड ब्राह्मण हूं। हम सब साथ खाना खा रहे हैं। हममें और आपमें कोई फर्क नही है। होस्टल में तो लडके बंदर की तरह हैं, छेडखानी करते हैं। उन्हें अच्छे-बुरे की तमीज कहां होती है।" इससे उसे बड़ा संतोष मिला और तीसरे दिन वह होस्टल वापस चला गया। तीन दिन बाद मैंने उसका टिकट फिर बुक कराया और जाते समय 500 रुपये और देते हुए कहा कि आगे से कभी भी पैसे की जरूरत पडे तो मुझे लिखना, तुम्हारा आगे का खर्चा मैं उठाऊंगा। उसके बाद उसे धनबाद इजीनियरिंग कालेज में पेट्रोकेमिकल मे प्रवेश मिला और छात्रवृत्ति भी मिलने लगी। तीन महीने बाद वह फिर आया और पैसे लौटाने लगा, पर मैंने मनाकर उसको कुछ पैसे और दिये। कुछ दिन बाद मैंने भी स्कूल छोड़ दिया और दूसरा स्कूल ज्वाइन कर हौज खास में रहने लगा। पांच साल गुजर गए। एक दिन अचानक सुबह छह बजे दरवाजे पर दस्तक हुई। मैंने दरवाजा खोला तो देखा कि सामने कमल लोचन खड़ा है। उसने जेब से रुपयों का एक पैकेट निकाला और मेरे हाथ पर रखकर बोला, "सर, यह मेरी पहली तनखाह है। मैं ओ.एन.जी सी में ऑफिसर हो गया हूं।" मैंने कहा, "बेटे, इस तनखाह पर आपकी माता का हक है। मैंने तो एक शिक्षक का फर्ज अदा किया है।" वह एक दिन मेरे पास रुका। फिर भीगी पलकों के साथ मेरे पैर छूकर चला गया और तब मेरी आखे भी सुख और संतोष से भीग गई थीं।

इसी तरह की कुछ और भी घटनाएं हुई होंगी, जब आपको इसी तरह की युक्ति और तुक्ति का सहारा लेना पड़ा होगा। उनमें से एकाध का खुलासा और करने की कृपा करें?

एक और घटना 1975 में घटी। एक दिन एक पिता अपने बच्चे को लेकर

स्कूल आया और बोला, "मैं अपने लड़के से तंग आ चुका हूं। गुंडागर्दी के अलावा यह कुछ नहीं करता। चाकू रखता है और छोटी-छोटी बात पर मर्डर कर देने की धमकी देता है। इसे अच्छा मनुष्य बना दीजिए।" प्रिंसिपल ने उसे दूसरे हाउस मे दाखिला दे दिया। दो महीने बाद उस लड़के ने मेरी गेटपास बुक से गेटपास निकाला और एक दूसरे हाउस मास्टर के हस्ताक्षर कर तीन और बच्चों को लेकर भाग गया। रात को साढ़े दस बजे हमें पता चला कि चार बच्चे गायब है। घरवालों से फोन पर बात की, पर कोई पता नहीं चला। फिर रात एक बजे हम गाडी लेकर उसके घर पहुंचे। उसके पिता ने दरवाजा खोला। पिता बुरी तरह शराब पिए हुए थे। बोले, "शर्माजी, क्यों परेशान हैं। घूम-फिर कर वापस आ जाएगा। जाओ, आराम करो।" पर हमने कहा, "उसके कुछ दोस्तों और रिश्तेदारो के पते दे दीजिए।" दोस्तों से पूछताछ करने पर पता चला कि अम्बाला से किसी और दोस्त को लेकर बम्बई जाने वाला है। दूसरे दिन हमने वहीं से टैक्सी ली और सीधे अम्बाला रेलवे स्टेशन पहुंचे। किस्मत से रेलवे स्टेशन पर ही चारो बैठे मिल गए। हम दो ही थे। हमने दो-दो की गर्दनें पकड़ीं और टैक्सी में बिठा लिया। अदर से लग रहा था कि कहीं वे हाथापाई न कर दें, क्योंकि चारों बच्चे जवान थे। रात के 10 बजे स्कूल पहुंचे। उस दिन मुझे उस लड़के पर बहुत गुस्सा आया और मैंने डंडे से उसकी इतनी पिटाई की कि डंडा ही टूट गया। मैंने उसके हाथ-पैर बांधकर वहीं ऑफिस में बिठाकर कहा, "सुबह खोलेंगे।" जब मैंने उसे सुबह खोला तो कहने लगा, "सर, जैसे ही मैंने स्कूल छोड़ा, मैं आपको खत्म कर दूंगा।" मैंने कहा, "बेटे, मुझे मंजूर है, पर तब तक तुम्हें स्कूल में अनुशासन मे रहना होगा।" उस बच्चे को मैंने दो साल रखा। मैंने ठान लिया था कि इसे सुधार कर दम लूंगा। अगर इस बच्चे को ठीक रास्ते पर नहीं ला सका तो शिक्षक बनने के काबिल खुद को नहीं समझूंगा। उससे हर रोज किसी न किसी बहाने मिलता और जीवन की वास्तविकता तथा नैतिकता के बारे में बातें करता। दो साल बाद वह ग्यारहवीं की बोर्ड परीक्षा पास कर चला गया। दस साल गुजर गए। मैंने भी स्कूल छोड दिया। एक दिन मार्केट में जैसे ही स्कूटर स्टार्ट किया अचानक लगा कि किसी ने पैर छुए हैं। वह हाथ जोड़कर आंखों में आंसू लिये मेरे सामने खड़ा हो गया। मैंने नहीं पहचाना। उसने अपना परिचय दिया। मैंने उससे कहा, "तुम कैसे लड़के हो। एक शिक्षक को खत्म करने की प्रतिज्ञा की थी। मैं अब तक जिंदा कैसे हूं।" वह रोते हुए बोला, "सर, आप ही एक ऐसे शिक्षक थे, जो मुझे सभालते रहे। मैंने सब बुरे काम छोड़ दिए हैं।" मुझे भी पुराने दिन याद आ गए और फिर मैंने उसको आशीर्वाद देकर विदा कर दिया।

और भी कुछ ऐसे बच्चे आपसे टकराए? टकराए तो फिर आपने क्या किया?

वैसे तो ऐसी घटनाओं से मेरा जीवन भरा पड़ा है, पर एक और बच्चे की कहानी बताना चाहूंगा। एक दिन एक माता-पिता अपने बच्चे को लेकर मेरे हाउस ऑफिस में आए और कहने लगे, "सर, इस बच्चे को अपनी शरण में ले लीजिए। यह घर में लडकियां लाता है, डिस्को करता है, मां-बाप को गालियां देता है। या तो इसे यहीं खत्म कर देना या इंसान बनाकर ही मेरे घर भेजना।" मैंने कहा "आप दाखिला करा दीजिए। मैं इसे अच्छा इंसान बनाने की कोशिश करूंगा।" मैने उस दिन रात साढे नौ बजे उस बच्चे को बुलाया और स्कूल के नियमों तथा जीवन के बारे में कुछ बातें कीं। आधे घंटे के बाद वह होस्टल चला गया। थोडी देर बाद मेरा हाउस कैप्टेन आया और कहने लगा, "सर, यह लडका कह रहा है कि हाउस मास्टर तो बेवकूफ है। मालूम ही नहीं कि जीवन क्या है।" मैंने कहा, वह ठीक कह रहा है। अब तक न वह मुझे जानता है, न मैं उसे। उसे कुछ न कहे। मैं शायद बेवकूफ ही रह जाऊं, पर उसे एक समझदार व्यक्ति मैं जरूर बना दूगा।" उस बच्चे को मैंने दूसरे दिन कुछ अतिरिक्त काम दे दिए। हाउस फन्ड के रुपये भी संभालने को दे दिये। पिकनिक टूर तथा खेलकूद के लिए नाश्ते आदि के इंतजाम का काम भी उसी बच्चे को दे दिया और कुछ सीनियर बच्चे पर्यवेक्षक के रूप मे लगा दिए। मैंने उसको इतना काम और प्यार दिया कि कुछ ही दिनों में वह पढ़ाई और स्कूल के काम के अलावा सब कुछ भूल गया। दो साल गुजर गए। उस दिन बच्चो की विदाई हो चुकी थी। रात के ग्यारह बजे किसी ने घंटी बजाई। मैंने दरवाजा खोला तो उस बच्चे ने एक छोटा-सा कप दिया, जिस पर लिखा था : "World's Greatest Teacher" और छोटी-सी शील्ड दी, जिस पर लिखा था : "Thanks is a little Word, No bigger than a minute, But there is lot of meaning and appreciation in it." यह दोनो चीजें देकर वह बच्चा मेरे पैरों में गिर गया। मैंने उसे उठाया और आशीर्वाद दिया। वह बोला, "सर, मैंने आप जैसा शिक्षक नहीं देखा। मैंने आपके बारे मे बहुत भला-बुरा कहा, पर आप उसे सुनकर भी चुप रहे और मुझे संभालते रहे।"

शिक्षा के क्षेत्र में किसी कमी को देखकर आपके मन में उसे दूर करने का विचार भी कभी आया? आया तो आपने क्या किया, अगर किया तो सफल हुए या असफल?

उन दिनों बच्चों और समाज के लिए कुछ करने की तीव्र इच्छा मेरे भीतर

थी मेरा विषय गणित ह 1982 की बात है अचानक मेरे दिमाग मे आया कि हमारे देश में बच्चों के लिए गणित की कोई मैगजीन नहीं है। मैं एन.सी.ई.आर टी गया और कुछ प्रोफेसरों से बात की कि मैं स्कूल के बच्चों के स्तर की एक मासिक पत्रिका गणित पर निकालना चाहता हूं, पर वहां से मुझे कोई उत्साहवर्धक प्रतिक्रिया नहीं मिली। कुछ ने कहा कि गणित में मैगजीन संभव नहीं है। यह काम यह संस्था पिछले बीस सालों मे नहीं कर सकी। मैंने ठान लिया कि मैं अकेला ही यह मैगजीन लिखूंगा। मैंने मैगजीन लिखना शुरू कर दिया। अपने एक दोस्त महावीर सिंह को मार्केट संभालने को कहा। पैसा कमाने की कोई इच्छा नहीं थी। मैने अकेले यह मैगजीन तीन साल लिखी। 14-15 लेख हर महीने लिखता। कुछ अपने और कुछ दोस्तों के नाम लिख देता। धीरे-धीरे मैगजीन देश भर में बच्चो तक पहुंचने लगी। तीनेक साल बाद देश भर से प्रोफसरों और विद्यार्थियों के लेख आने लगे। फिर मैंने अपने दोस्त से कहा कि अब मुझे लिखने की जरूरत नहीं है। लेखक आपको मिल गए हैं और इस तरह यह मैगजीन मेरे दोस्त, जो कि उस समय बेरोजगार था, का व्यवसाय बन गया, पर मैंने उससे कागज-कलम का भी कोई पैसा कभी नही लिया। फिर मैंने अपनी तनखाह से पैसे बचाकर मैथमेटिका डिस्टेंस सिंडीकेट के नाम से गरीब बच्चों के लिए मुफ्त पाठ भेजने शुरू किए। वह भी देश भर में जाने लगे, पर धीरे-धीरे काम इतना बढ़ गया कि अपनी जिम्मेदारियों के साथ उसे संभाल नहीं सका। आखिर उसे बंद करना पड़ा।

एपीएस के प्रिंसिपल पद पर नियुक्त हुए तो स्कूल किस हालत में था। उसका स्तर ऊंचा उठाकर इस स्थिति तक लाने के लिए आपको क्या-क्या करना पड़ा?

धीरे-धीरे मेरे संघर्ष को लोग जानने लगे और मुझे घर बैठे ऑफर आने लगे, लेकिन बहुत ऊंची उड़ान भरने या पैसा बटोरने की मेरी इच्छा नहीं थी। मैं एक शिक्षक के रूप में ही देश को अपना योगदान देना चाहता था और मैंने 1989 मे एपीएस में प्रिंसिपल का पद स्वीकार कर लिया। उस समय यह स्कूल शेडस मे छह-सात महीने से चल रहा था। क्लास रूम को छोड़कर और कोई सुविधा उपलब्ध नहीं थी। मैंने सबसे पहले अध्यापकों के पूरे वेतनमान लागू किए और अपनी शिक्षा योजना अध्यापकों को समझानी शुरू की। बड़ी मुसीबतों का सामना करना पड़ा। बरसात के दिनों में मेरे ऑफिस की मेज पर भी छत से पानी टपकता था। बच्चों पर मैं खुद ध्यान देता और उनसे भारतीय संस्कृति, वास्तविक शिक्षा और जीवन मूल्यों पर घंटों बातें करता। हर शिक्षक को उनके शिक्षक होने

का एहसास कराता। उनसे कोई गलती होती तो समझाता। यह सोचना मुझे बहुत अच्छा लगता है कि पिछले ग्यारह सालो में मैंने किसी भी शिक्षक को डाटा नही, किसी से ऊंची आवाज में नही बोला, किसी को नौकरी से नहीं निकाला। शिक्षकों ने भी दिल लगाकर काम किया और दस साल में एल्कॉन पब्लिक स्कूल दिल्ली के प्रसिद्ध स्कूलो मे से एक माना जाने लगा। आज इस स्कूल में नवी कक्षा के बाद हर बच्चा शपथ लेता है कि वह सिगरेट और शराब नहीं पिएगा और न नशीली दवाएं खाएगा। बारहवीं कक्षा के बच्चे शादी में दहेज न लेने की शपथ लेते हैं। कई बार कुछ अभिभावक अथवा मिलनेवाले भी गलत भाषा बोल जाते है पर मुझे गुस्सा नहीं आता, क्योंकि मैं हमेशा याद रखता हूं कि गुस्से और जल्दी मे किए हुए ज्यादातर काम गलत होते हैं। एक दिन एक आदमी मुझसे मिलने आया। मैंने उससे बैठने को कहा और पूछा कि आप क्या करते है और किसलिए आए हैं। उसने कहा, "मैं कई साल जेल में रह चुका हूं और आजकल एक नेता के पास उसकी देखभाल में हूं। एक बच्चे का दाखिला करना है।"

वह मुझे धमकी दे रहा था। मैंने सोचा कि आज इस आदमी मे बदलाव नही ला सका तो मेरे शिक्षक होने पर लानत है। मैंने कॉफी मंगाई और चपरासी को दरवाजा बंद करने को कहा। फिर मैंने उससे वार्तालाप शुरू किया और बचपन से लेकर अब तक के उसके जीवन को झिंझोड़ा तथा जीवन की वास्तविकता के दर्शन कराने शुरू किए। अचानक वह आदमी उठा, मेरे पास आया और मेरे पैर छूकर बोला, "गुरुजी, आज के बाद आपके पास नहीं आऊंगा। मुझे माफ कर दीजिए।" इस तरह भिन्न-भिन्न प्रकार की घटनाओं से मेरा जीवन भरा हुआ है। मेरा प्रयास हर मनुष्य को नेक इंसान बनाने का रहता है। चाहे खुद को कितना भी कष्ट क्यों न सहना पड़े।

बच्चा पढ़-लिखकर बड़ा आदमी तो बने ही, अच्छा इंसान भी बन सके, इसके लिए शिक्षक और माता-पिता से आपकी क्या अपेक्षाएं हैं? आप उन्हें क्या सलाह देना चाहेंगे?

जिस दिन बच्चा इस दुनिया में प्रवेश कर देखना शुरू करता है, उसी दिन से उसकी शिक्षा शुरू हो जाती है, लेकिन अभिभावक सोचते हैं कि शिक्षा स्कूल मे ही होती है। अगर शिक्षा की परिभाषा जानें तो इसको एक व्यावहारिक विज्ञान कहा गया है। किसी भी बच्चे का व्यवहार केवल स्कूल पर निर्भर नहीं करता। मनुष्य की पांचों इन्द्रियो द्वारा उसकी शिक्षा का विकास होता है, उसका दिमाग विकसित होता है, उसकी सोच-समझ को एक दिशा मिलती है। ये इंद्रियां केवल

स्कूल या कॉलेज के समय ही काम नहीं करतीं, बल्कि हमेशा काम करती रहती है। हर बच्चे में बचपन के प्रारंभिक सालों में बडों की नकल करने और वातावरण के अनुसार अपने आपको ढालने की क्षमता बहुत अधिक होती है। इसलिए हर घर व समाज का रहने-सहने का ढंग, साज-संवार का ढंग, उठना-बैठना बोलचाल, नास्तिकता अथवा आस्तिकता, सहनशीलता, कठोरता और नरमपन सच्चाई, ईमानदारी, दया, नफरत, द्वेष, स्वार्थ, खुद काम करने की आदत, सफाई गदगी, जीव प्रेम, शारीरिक देखभाल, आपसी रिश्ते, घर व समाज का अनुशासन इत्यादि सभी गुण व अवगुण बच्चे के अन्दर अनजाने में प्रवेश करते रहते हैं और जब तक बच्चा स्कूल जाने की उम्र मे पहुंचता है, काफी कुछ ग्रहण कर चुका होता है। कई बार अभिभावक जब प्रवेश के समय कहते हैं कि बच्चा बडा जिददी या आज्ञाकारी है, उसके ज्यादातर कारण वातावरण या घर के माहौल में ऊपर लिखी बातों में छिपे होते हैं। हर अभिभावक चाहता है कि उसका बच्चा न केवल एक अच्छे प्रोफेशन में जाने लायक बने, बल्कि एक अच्छा इंसान भी बने। अच्छे प्रोफेशन लायक तो स्कूल या कॉलेज बना सकता है, पर एक अच्छा इंसान बनाने के लिए केवल स्कूल-कॉलेज ही काफी नहीं है। ऊपर लिखी दिशा में अभिभावको के सहयोग के बगैर अच्छा इंसान बनाना नामुमकिन है। कोई भी अभिभावक शायद बच्चे के विकास पर इतनी गहराई से मनन नहीं करता। आज देशप्रेम और राष्ट्रीय चरित्र के पतन के कारणों में यह भी एक कारण है। दूसरों में अच्छी प्रवृत्ति देखने से पहले अभिभावक अपनी अच्छी प्रवृत्तियों का उदाहरण अपने बच्चो के सामने प्रस्तुत करें।

एक और बात, जो शिक्षकों और अभिभावक, दोनों के लिए जानना जरूरी है वह है बच्चों में ग्रहण करने की क्षमता। भगवान ने करोड़ो इंसानों को जन्म दिया है, पर हर एक इंसान की काम करने, सोचने और ग्रहण करने की क्षमता भिन्न है, क्योंकि सभी इंसानों के मस्तिष्क की कोशिकाएं पैदा होने के समय बराबर नहीं होतीं। उम्र के साथ विकसित होती रहती हैं, कुछ में जल्दी या देर मे होती हैं। इसीलिए बच्चे सामान्य से ज्यादा, सामान्य और सामान्य से नीचे, तीन प्रकार की श्रेणियों में बांटे जा सकते हैं, जबकि हमारी शिक्षा प्रणाली, अभिभावक और शिक्षक हर बच्चे को एक ही दिशा में खींचते हैं। मस्तिष्कीय कोशिकाए अपनी क्षमता के अनुसार बच्चे को विभिन्न दिशाओं में ले जाने की कोशिश करती है। शिक्षक और अभिभावक की सबसे पहली कोशिश रहती है कि हर बच्चा पढाई-लिखाई में 90 प्रतिशत से ऊपर नंबर ले। अभिभावक अपने बच्चों की दूसरो से तुलना कर उनको डांटते हैं, यहा तक कि मार-पीट भी कर देते हैं। इससे

बच्चे में हीनभावना आ जाती है। कई बार तो बच्चे जीवन से निराश होकर गलत कदम भी उठा लेते हैं, जिसमें घर छोड़कर भाग जाने से लेकर आत्मघात तक शामिल है। ज्यादातर अभिभावकों को देखा गया है कि वे अपने बच्चे के चल रहे विकास की तुलना अपने खुद के विकास और सफलता से करते हैं और बच्चो मे अपने जैसे जीवन मूल्य न होने पर उन्हें धिक्कारते हैं, लेकिन वे यह भूल जाते है कि जिस वातावरण में वे पले, जो वातावरण उनके माता-पिता ने उन्हें दिया वह वातावरण उन्होंने अपने बच्चों को नहीं दिया। फिर उनके जैसा विकास और मूल्य उनके बच्चों में कहां से आ सकते हैं। सामाजिक बदलाव को न तो आज तक कोई रोक पाया है और न ही कोई इसे रोक पाएगा। आज के माता-पिता अपने माता-पिता जैसे संस्कारों के नहीं हैं और अगर वे संस्कार अपने बच्चो मे देखना चाहते हैं तो सबसे पहले अपने अंदर उन संस्कारों को न मरने दें, जो कि असंभव-सा दिखाई देता है, पर कोशिश करने में कोई हर्ज नहीं है। इस दिशा मे वे अपने आपको जगाएं और आज ही जगाएं।

आज के शिक्षक पहले जैसे नहीं रहे, इसके लिए आप किसे दोषी मानते हैं : अभिभावकों को, सरकार को या स्वयं शिक्षकों को? इसके लिए क्या किया जाना चाहिए?

आज के बदलते युग के साथ शिक्षक भी काफी बदला नजर आ रहा है। आज के शिक्षक में पढ़ाई-लिखाई और विषय को छोड़कर एक खोखलापन-सा नजर आता है। शिक्षक में उसके विषय को छोड़कर, देश-विदेश की राजनीति देश और समाज के आर्थिक, सांस्कृतिक, धार्मिक हालात, गुणवान चरित्र आदि विषयों का ज्ञान अत्यंत अनिवार्य है, जिनके बगैर आज के विद्यार्थियों में अपने गुरुओं के प्रति आस्था खत्म होती जा रही है। आज के शिक्षक की भौतिक और घरेलू जरूरतें इतनी बढ़ गई हैं कि उसके पास इन अतिरिक्त विषयों के बारे मे अध्ययन या मनन करने का समय ही नहीं है, न हमारी सरकार इस तरफ शिक्षको के प्रशिक्षण के दौरान कोई ध्यान देती है। जिस देश का शिक्षक व प्रचारक ठीक न हो, उस देश को पतित होने से कोई रोक नहीं सकता। पतन को सिर्फ हमारी सस्कृति ही रोक सकती है, क्योंकि देशों को उनकी संस्कृतियों ने ही हमेशा पतन के गर्त में गिरने से बचाया है। शिक्षक के अंदर अपने विद्यार्थियों के लिए त्याग की भावना होनी चाहिए। बच्चों के विकास के लिए शिक्षक को खुद भी कष्ट सहना पड़े तो शिक्षकों को खुशी-खुशी सह लेना चाहिए, तभी वे भावी नागरिको को ठीक दिशा दे पाएंगें।

पब्लिक स्कूलों की परंपरा क्या है, किसने और क्यों इन्हें शुरू किया?

पुराने और नए पब्लिक स्कूलो मे क्या अतर है?

पब्लिक स्कूल भारतवर्ष में अंग्रेजों की देन हैं। ये स्कूल उन्होंने आम जनता के लिए नहीं खोले थे, बल्कि भारत के उच्च वर्ग, राजा-महाराजा तथा अग्रेज अधिकारियों के बच्चों के लिए खोले थे। उस समय पब्लिक स्कूल का मतलब था, एक ऐसा शिक्षा संस्थान, जहां बच्चे में रहन-सहन, खान-पान पढाई-लिखाई, घुड़सवारी, खेलकूद, जीवन मूल्य, उच्च वर्ग में रहन-सहन के तौर-तरीके, प्रशासनिक क्षमता आदि गुणों का विकास चौबीस घंटे शिक्षकों की छत्रछाया में हो सके। इन स्कूलों का विचार शायद उन्होंने हमारी गुरुकुल की शिक्षा प्रणाली से लिया था, लेकिन वहां पर अंग्रेजी और अंग्रेजी परंपरा को विशेष महत्व दिया जाता था। शिक्षकों एवं बच्चों की वर्दी भी टाई, पैंट, कोट इत्यादि अग्रेजी परंपरा के अनुसार अनिवार्य थी। कुर्सी-मेज पर बैठकर खाना खाने मे चम्मच-कांटे के इस्तेमाल तथा प्रार्थना करने के ढंग आदि पर अंग्रेजी तरीकों से अमल कराया जाता था। अंग्रेजों के जाने के बाद पब्लिक स्कूलों के इस ढांचे मे धीरे-धीरे बदलाव आना शुरू हुआ और किसी भी अंग्रेजी माध्यम में पढाई करानेवाले स्कूल को पब्लिक स्कूल कहा जाने लगा। अंग्रेजों के समय सभी पब्लिक स्कूल आवासीय होते थे और बच्चों में प्रशासनिक क्षमता व आत्मविश्वास को विकसित करने पर विशेष ध्यान दिया जाता था। शिक्षा दूसरे दर्जे पर आती थी। शिक्षक भी अपने आपको पूरी तरह स्कूल और बच्चों के विकास के लिए समर्पित कर त्याग-बलिदान की भावना रखते थे। पब्लिक स्कूलों की मूल विशेषता तथा ढांचे में परिवर्तन के साथ-साथ अब शिक्षक के चरित्र में भी बदलाव आने लगा है। सरकार ने भी जो शिक्षक प्रशिक्षण संस्थान खोले, उनमें शिक्षक के इस चरित्र को कायम रखने पर ध्यान नहीं दिया गया।

एक प्रतिष्ठित पब्लिक स्कूल के प्रिंसिपल के रूप में आपके सामने क्या-क्या दिक्कतें आती हैं और आप उनका सामना कैसे करते हैं?

मैंने 1974 में शिक्षक के रूप एक आवासीय पब्लिक स्कूल से अपना कार्य शुरू किया और ग्यारह साल गणित विभाग के अध्यक्ष और छात्रावास अधीक्षक के रूप में कार्य करने के बाद इस ढांचे में ढल गया। आवासीय स्कूल का चरित्र कुछ इस तरह मेरे अंदर समा गया कि छूटे नहीं छूटता। इस चरित्र के कारण कर्त्तव्य पालन में कई बार दिक्कतों का सामना करना पड़ता है। आजकल जो पब्लिक स्कूल खोले जाते हैं, उनकी बागडोर पूरी तरह से प्रधानाध्यापक के हाथ में नही होती। ——— पब्लिक स्कूल व्यापारिक घराने खोलते हैं क्योंकि जमीन और

भवन निर्माण इतने महगे है कि एक विद्वान, किंतु गरीब शिक्षक पब्लिक स्कूल नहीं खोल सकता, जिसको वह अपने विचारों के अनुसार चला सके। आजकल के पब्लिक स्कूलों के प्रबंधकों में कई लोग तो शिक्षा के वास्तविक रूप से कोसो दूर होते हैं और गलत ढंग से मनमानी कर शिक्षक के पवित्र कार्य में बाधा बने रहते हैं। कुछ स्कूलों में तो प्रबंधकों ने स्कूलों को एक व्यवसाय का रूप दे दिया है और अच्छे प्रधानाध्यापक व शिक्षक भी उनके हाथों की कठपुतली बनकर बच्चो मे शिक्षा का सही विकास नहीं कर पाते। ऐसा नहीं है कि सभी स्कूल प्रबंधन ऐसे ही हों। कुछ प्रबंधक सराहनीय भी हैं, लेकिन बहुत कम। सौभाग्य से एपीएस के प्रबधक अच्छे निकले, जिन्होंने नीतियों में ज्यादा दखल नहीं दिया और इसी का नतीजा है कि सात सालों में एल्कॉन पब्लिक स्कूल राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र के श्रेष्ठ स्कूलों में गिना जाने लगा। एक मरी मछली सारे तालाब के पानी को गंदा कर देती है। कुछ स्कूल अपने बच्चों और विद्यार्थियों को वे सहूलियतें नहीं देते जिनके लिए फीस ली जाती है। कुछ लोग स्कूल का दुरुपयोग भी करने लगे है। ऐसे गलत स्कूलों की वजह से कुछ ऐसे कानूनी संशोधन भी किए गए, जो शिक्षा के लिए उचित नहीं हैं। नियमितता, बच्चों के साथ न्याय, घर-परिवार से पहले स्कूल एवं बच्चों की चिंता, बच्चो में आत्मबल जगाना, उन्हें जीवन की वास्तविकता से परिचित कराना, देश-प्रेम एवं भारतीय संस्कृति का मनन कराना आदि बातें मेरे शिक्षक जीवन का हिस्सा बन गई हैं, लेकिन आज शिक्षकों के स्तर पर, अभिभावकों के स्तर पर, सामाजिक और राजनीतिक, हर स्तर पर जीवन मूल्यो मे इतना बदलाव आ गया है कि गिरते हुए जीवन मूल्य, निजी स्वार्थ, धन की होड, द्वेष और ईर्ष्या, घमंड और दिखावा आदि के अलावा मनुष्य को कुछ दिखाई ही नहीं देता। शायद इसी कारण एक सच्चे शिक्षक को आज अपने कर्त्तव्य पालन मे अनेक दिक्कतों का सामना करना पड़ता है।

एक अच्छे पब्लिक स्कूल के शिक्षक में आप किन गुणों को अनिवार्य मानते हैं?

बच्चा शिक्षक को भगवान के रूप में देखता है। शिक्षक जो शब्द कथा मे बोलता है, बच्चा उस पर पूर्णरूप से अमल करना चाहता है, चाहे वह विषय को छोडकर किसी भी क्षेत्र के लिए कहा गया शब्द हो, पर दुर्भाग्य की बात है कि हमारी शिक्षक प्रशिक्षण संस्थाओं ने इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया। शिक्षक का सबसे पहला शस्त्र उसकी प्रभावशाली आवाज है, जिसकी जांच कोई भी संस्था शिक्षकों को नियुक्ति देने से पहले नहीं करती। एक शिक्षक को अपने विषय के

अलावा देश की राजनीतिक स्थिति, सामाजिक एवं भौगोलिक स्थिति, आर्थिक एवं धार्मिक स्थिति, राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्थिति का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए और उनका प्रशिक्षण इन सभी चीजों को ध्यान में रखते हुए होना चाहिए, पर जब हमे शिक्षक मिलते है तो यह देखकर दुख होता है कि विषय को छोड़कर बाकी क्षेत्रो का ज्ञान उनमें न के बराबर होता है। पढ़ानेवाले से शिक्षक बनने में उन्हे तीन-चार साल का समय लगता है, तब तक वे काफी बच्चों का भविष्य अंधकार मे धकेल चुके होते हैं। कुछ तो अपनी क्षमता एवं रुचि के विरुद्ध मजबूरन शिक्षक बन जाते हैं, जो बच्चों के लिए हानिकारक है। बुरी से बुरी स्थिति मे जितना अच्छा कर सकते हैं, मैं करने की कोशिश करता हूं। अभिभावकगण भी शिक्षक मे अपनी आस्था दिखाकर जितना भी बच्चे का विकास करा सकें, उतना ही अच्छा है। मैं किसी बच्चे के साथ अन्याय होते नहीं देख सकता। जब कोई नेता या उच्च अधिकारी अच्छे नम्बर लानेवाले बच्चे को छोड़कर किसी दूसरे बच्चे को दाखिला देने के लिए कहता है तो मैं अंदर से रोता हूं। इसके कारण मुझे प्रशासनिक एवं व्यक्तिगत रूप से काफी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। कई बार तो हत्या तक की धमकी मिल जाती है, पर किसी ने कहा है कि कलियुग में विद्वानों का निरादर होता है, विद्वान तो पता नहीं मैं हूं या नहीं, पर इन कठिन परिस्थितियों में भी मैं अपना धैर्य व मनोबल बनाए रखता हूं। बढती हुई मंहगाई, आधुनिकतम तकनीक एवं कंप्यूटर आदि के साथ स्कूल को चलाने के लिए धन की कमी का सामना करना पड़ता है। आज स्कूल में सभी सुविधाओ के साथ उसका उच्च स्तर बनाए रखना बहुत मंहगा पड़ रहा है। पब्लिक स्कूलो की आर्थिक जरूरतें केवल अभिभावकगण ही पूरी करते हैं, लेकिन अभिभावकगण इस बात को समझने को तैयार नहीं हैं कि वे अच्छी शिक्षा तो अपने बच्चों के लिए चाहते हैं और चाहनी भी चाहिए, लेकिन उसकी कीमत नहीं देना चाहते। आज राजे-महाराजे एवं दानी लोग तो रहे नहीं, जो इन स्कूलों को चला सकें, ऊपर से सरकारी स्कूलो का स्तर इतना नीचे गिर चुका है कि छोटे से छोटा अभिभावक भी अपने बच्चे की शिक्षा पब्लिक स्कूल में ही चाहता है। कुछ नेताओ ने इस समस्या को राजनीतिक रूप देकर पब्लिक स्कूलों के लिए समस्याएं खडी कर दी हैं, जिसके कारण प्रबंधकों और शिक्षकों का ध्यान अपने कार्य क्षेत्र को छोड़कर मुकदमेबाजी की ओर जा रहा है, लेकिन यह सब देखकर दुःख होता है कि इन सब चीजों का प्रभाव शिक्षा पर पड़ रहा है। कई बार कुछ गैरजिम्मेदार व्यक्तियों द्वारा स्कूलों एवं शिक्षकों के बारे में ऐसे वक्तव्य दिए जाते हैं कि मन को ठेस लगती है। अभिभावकों को चाहिए कि वे सरकारी स्कूलों की हालत ठीक

करने के लिए सरकार पर दबाव डाले ताकि सभी बच्चो का सभी स्कूलो मे ठीक ढग से ठीक वातावरण मे विकास हो सके। वैसे तो छोटी-छोटी समस्याओ का कोई अंत नही है। युग परिवर्तन के साथ समस्याओं में भी बदलाव आता रहता है। हर शिक्षक का नैतिक कर्त्तव्य है कि हर नई समस्या के हल की खोज जारी रखे और अपना आत्मविश्वास व मनोबल टूटने न दे। इसी का नाम सफलता है और ऐसे ही शिक्षक को सफल शिक्षक कहा जाता है।

बच्चे की संतोषजनक शैक्षिक स्थिति के लिए आप अभिभावकों से क्या अपेक्षा करते हैं?

अभिभावकों से मेरा निवेदन है कि वे अपने कर्त्तव्य को भारतीय संस्कृति को सामने रखते हुए पहचानें और स्कूल से कोई मांग करने से पहले अपने कर्त्तव्य का पालन करें। बच्चा एक ऐसा पौधा है, जिसको अभिभावक, शिक्षक एव समाज मिलकर सींचते हैं और अगर सभी अपना-अपना कर्त्तव्य पूरी लगन और तत्परता से निभाएं तो यह पौधा एक दिन जरूर सुंदर, सुशील और मजबूत वृक्ष बनेगा, मीठे फल देगा और अधोगति की ओर अग्रसर देश को फिर से प्रगति की ओर अग्रसर करेगा।

शर्माजी धाराप्रवाह बोलते जा रहे थे कि तभी एक सज्जन आ गए और किसी मंत्रालय से अपने बच्चे के एडमिशन के लिए लिखवाया सिफारिशी-पत्र उनके सामने रख दिया, जिसे देखते ही उनकी भृकुटी तन गई, लेकिन उन्होंने खुद को संयत किया और आगंतुक को दस दिन बाद आकर मिलने का निर्देश देते हुए दरवाजा दिखा दिया। उसके जाने के बाद मेरी ओर मुखातिब हुए, "डेढ सौ सीटों के लिए दो सौ सिफारिशें आ जाती हैं। इन पर गौर करें तो दिल जलता है, न करें तो संस्था को चलाना मुश्किल। सामान्य लोगों के प्रतिभाशाली बच्चों की कीमत पर ऐसे सिफारिशी लोगों के बच्चे हर कहीं हावी हैं। इससे देश गर्त में नहीं जाएगा तो कहां जाएगा?" कहते हुए शर्माजी के चेहरे पर क्रोध के साथ अब दुख भी था, ऐसा दुख, जो एपीएस को चलाते हुए अक्सर उनके चेहरे पर छा जाया करता होगा, जिससे मैं भी अछूता न रह सका। उनके दुख और क्रोध को अपने चेहरे पर महसूस करते हुए विदा मांगी और ऑफिस से बाहर हो गया, लेकिन सामान्य लोगों के बच्चों के लिए शर्माजी का दुख साथ चला आया और अभी तक मेरे साथ है। □

वामपथ प्रचारक योद्धा

महादेव खेतान और आनंद माधव त्रिवेदी

चीन में नेहरू जैसे ही लोकप्रिय हैं अटल

कानपुर प्राचीनकाल से ही भारत का हृदय स्थल रहा है। आज के बिठूर (कानपुर) से ध्रुव का नाम ही नहीं जुड़ा है, राम-सीता के पुत्र लव-कुश का जन्म भी बिठूर की मिट्टी में हुआ था। नाना साहब, तात्या टोपे, अजीमुल्ला खान तथा झासी की रानी लक्ष्मीबाई का नाम यदि बिठूर से जुड़ा हुआ है तो खाकसार भी बिठूर के पीछे बसे गांव भाऊपुर की मिट्टी की पैदाइश है, किंतु यहां कानपुर के इतिहास मे जाने का हमारा कोई इरादा नही है। हम तो सिर्फ गुरुओं के गुरू धनौआ गुरू यानी आनंद माधव त्रिवेदी और महादेव खेतान की जीवन-यात्रा का बखान करते हुए चीन यात्रा के बाद उनसे हुई वार्ता को प्रस्तुत करना चाहते हैं।

कामरेड हसरत मोहानी और राम आसरे से हमारी भेंट नही हुई। गणेशशकर विद्यार्थी की कर्मस्थली के इन वाम नेताओं की तरह ही कानपुर में वामपंथ के प्रचार का महत्वपूर्ण काम किया महादेव खेतान और आनंद माधव त्रिवेदी ने। इस जोड़ी से कानपुर के दिनों में अक्सर भेंट हो जाती थी। बलदुआजी भी मिलते थे। रामदुलारे त्रिवेदी से मुलाकात होती और झंडा-गान के रचयिता श्यामलाल गुप्त 'पार्षद' से भी, पर आनंद माधव त्रिवेदी और महादेव खेतान से जो वार्ताएं हुई उनसे पढ़ने का संस्कार गहराया, जिसने मेरे लेखक-मन को गढ़ा और विचारो को दिशा दी। कानपुर का करंट बुक डिपो उन दिनों हमारा अड्डा हुआ करता था। नई किताबों से साक्षात्कार होता। पत्र-पत्रिकाओं के ताजातरीन अंक मिलते। कुछ खरीदते और कुछ को वहीं खड़े-खड़े देख जाते। साथ में संतोष तिवारी होते हर-हमेश। कभी-कभी शंभुनाथ और त्रियुगी नारायण भी। त्रियुगी ने ही इस जोडी से हमारा परिचय कराया था। बाद में हमारे बीच अंतरंगता स्थापित हो गई तो हम लोग अक्सर मिलने लगे थे।

बीसवीं सदी जाते-जाते महादेव खेतान को तो हमसे छीन ले गई, लेकिन

आनेवाली डाक्टरो की पीढ़ी के अध्ययन को अधिक से अधिक उपयोगी बनाने मे मेरे शरीर का योगदान हो सके।

इसके बाद समय हो और मित्रों की राय बने तो वहीं राम आसरे पार्क मे सभा करके, अगर मेरे जीवन के प्रेरणादायक हिस्सों के सस्मरणों से आगे आने वाली संघर्षशील पीढ़ी को कोई प्रेरणा मिल सके तो उनका जिक्र कर ले, वरना मित्रों की राय से सब के लिए जो सुविधाजनक समय हो, उस समय वही राम आसरे पार्क में लोगों को बुलाकर संघर्षशील नई पीढ़ी को प्रेरणादायक सस्मरण सुनाकर खत्म कर दें। यही और बस यही मेरी मृत्यु का आखिरी अनुष्ठान होगा। इसके बाद या भविष्य में कभी भी कोई दसवां, तेरहीं, श्राद्ध पिडदान आदि कुछ नहीं होगा और मैं यह खास तौर पर कहना चाहता हूं कि किसी भी हालत में, किसी भी जगह और किसी भी बहाने से कोई मृत्युभोज (तेरहीं) नहीं हो। अपने परिवार के बुजुर्गों से मेरा अनुरोध है कि मेरी मृत्यु पर अपना जीवन दर्शन या आस्थाओं, अंधविश्वासों और अपने जीवन मूल्यों को थोपने की कोशिश न करें तो मुझ पर बड़ी कृपा होगी। घर लौटकर सामान्य दिनों की तरह सामान्य भोजन बने। 'चूल्हा न जलने' की परंपरा के नाम पर न मेरी ससुराल, न मेरे पुत्र की ससुराल से और न ही किसी अन्य नाते-रिश्तेदार के घर से कोई खाना बनकर आए। दूसरे दिन से बिल्कुल सामान्य जीवन और सामान्य दिनचर्या, जैसे कुछ हुआ ही न हो, घर और दुकान की बिना किसी अनुष्ठान के शुरू हो जाए। मेरी मृत्यु के बाद मेरी अंतिम इच्छा बड़े पैमाने पर छपवा कर न सिर्फ नगर में बड़े स्तर पर अखबारों को भेजें, बल्कि सभी तरह के राजनीतिक एव सामाजिक कार्यकर्ताओ में भी बटवा दें। करेंट बुक डिपो एवं मार्क्सवादी आदोलन तथा साहित्य से संबंधित सभी लोगों को डाक से भेजें। इससे प्रेरणा पाकर अगर एक प्रतिशत लोगों ने भी इसका अनुसरण करने की कोशिश की तो मैं अपने जीवन को सफल मानूंगा।

अपने जीवन में होल टाइमरी के बाद 1951 से आज तक जो कुछ भी मैंने बनाया है, वह सिर्फ और सिर्फ करेंट बुक डिपो है, जो किसी भी तरह से कोई व्यापारिक संस्थान नहीं है, बल्कि किसी उद्देश्य विशेष से मिशन के तहत इसे सस्था के रूप में विकसित किया है। इसके अलावा मेरे पास न तो एक इच जमीन है और न ही कोई बैंक बैलेंस। मेरे जीवन का एक ही मिशन रहा है कि देश-विदेश का तमाम शोषित-पीड़ित जनसमुदाय, जो न सिर्फ अपने जीवन के स्तर को सम्मानजनक बनाने के लिए, बल्कि उत्पीड़न और शोषण की शक्तियो के विरोध में उनको नष्ट करने के लिए जीवन-मरण का संघर्ष कर रहा है, उसको

हर तरह से तन मन और धन जो कुछ भी मेरे पास है उससे मदद करू और प्रेरणा दूं और यथाशक्ति दिशा दूं। इसी उद्देश्य से मैंने करेंट बुक डिपो खोला। इसी उद्देश्य के लिए इसे विकसित किया। मैं इस काम में कहां तक सफल हुआ, इसका जितना इस समय मुझे आभास है, उससे कोई असंतोष नहीं है।

मेरा ये जो कुछ भी है, इस सब का एकमात्र उत्तराधिकारी मेरा पुत्र अनिल खेतान होगा। मैंने कोशिश की है कि मेरी मृत्यु तक इस दुकान की कोई ऐसी जिम्मेदारी न रहे, जिसके लिए अनिल को कोई दिक्कत उठानी पड़े। मेरी इच्छा है कि मेरे बाद अनिल भी मेरे जीवन के मिशन को, जिसके लिए मैंने करेंट बुक डिपो स्थापित और विकसित किया है, अपना सब कुछ निछावर करके भी आगे बढाता रहे, उसी तरह से विकसित करता रहे और प्रयत्न करे कि उसके आगे की पीढियां भी यदि इस संस्थान से जुड़ती हैं तो वे भी इस मिशन को यथाशक्ति आगे बढ़ाते हुए विकसित करें। यह भी चाहूंगा कि जैसे मैंने अपने और अपने पुत्र के जीवन को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से विकसित करने का प्रयत्न किया और किसी भी प्रकार के धार्मिक अंधविश्वास और कर्मकांड से दूर रखा, उसी प्रकार मेरा पुत्र न सिर्फ अपने जीवन को, बल्कि आने वाली पीढ़ियों को भी ईश्वर एवं धर्म पर आधारित दर्शन, अंधविश्वास और कर्मकांडों से दूर रखकर वैज्ञानिक दृष्टिकोण से विकसित करेगा तथा जीवन को न्यूनतम जरूरतों में बांधेगा ताकि अपनी फिजूल की बढ़ी हुई जरूरतों को पूरा करने के लिए अपने जीवन मूल्यों से समझौता न करना पड़े, क्योंकि वही फिसलन की शुरुआत है, जिसका फिर कोई अंत नही होता। दुनिया में रोटी सभी खाते हैं, सोना कोई नहीं खाता, लेकिन सम्मानजनक रोटी की कमी नहीं है और सोना जमा करने की कोई सीमा नहीं है। दुनिया मे सारे तनावों की जड़ केवल दो हैं : एक धन, और दूसरा धर्म। यदि हम अपने को इनसे मुक्त कर लें तो न सिर्फ अपना, बल्कि आने वाली पीढ़ियों का भी जीवन तनाव रहित और सुखी बनाएंगे। एक बुनियादी बात और ध्यान में रखें कि आप जिस जीवन मूल्य, जीवन पद्धति और दर्शन का प्रतिपादन करें और उम्मीद करे कि आने वाली पीढियां भी उस पर चलें तो यह सबसे ज्यादा आवश्यक है कि आपका खुद का आचरण और जीवन आपके द्वारा प्रतिपादित मूल्यों पर आधारित हो आपका खुद का जीवन उनके सामने एक उदाहरण बनकर प्रस्तुत हो।

अंत में कुछ शब्द करेंट बुक डिपो के बारे में : यह एक मिशन विशेष के लिए संस्थापित-संचालित संस्था है, जिसमें दिवंगत राम आसरे, मेरे सहयोद्धा आनंद माधव त्रिवेदी, मेरी पत्नी रूप कुमारी खेतान, पुत्र अनिल खेतान, अरविद कुमार और सैकड़ों क्रांतिकारी कार्यकर्ताओं एवं प्रिय पाठकों का योगदान रहा है ;

मै इन सबका ऋणी हूं और आशा करता हूं कि ये सब भविष्य में भी वैसा ही योगदान करते रहेंगे। उद्देश्य यह है कि इसके द्वारा प्रकाशित एवं वितरित साहित्य देश के हजारों पाठकों को उपलब्ध होता रहे, जो मार्क्सवादी दर्शन पर आधारित एव उससे प्रेरित हो।

4 अक्टूबर, 1999 —एम. खेतान

इसी तरह की अद्भुत-अपूर्व और वैज्ञानिक अंतिम इच्छा पश्चिम बंगाल के भूमि सुधार मंत्री विनय चौधरी ने व्यक्त की, नई सदी के आंरभ में, जिसके कारण महादेव खेतान की तरह विनय चौधरी का भी कोई कर्मकांडी संस्कार नहीं किया गया, न ही उनके चिता स्थल को राजघाट या शांतिवन जैसे किसी स्मारक मे बदला गया। महादेव खेतान के शरीर की तरह विनय चौधरी का शरीर भी विज्ञान के छात्रों के ही काम नहीं आया, उनके कुछ अग जरूरतमंदों के भी काम आए। विनय चौधरी सत्ता में रहते हुए भी कोई बैंक-बैलेंस या संपत्ति नही छोड़ गए तो एक कम्युनिस्ट कार्यकर्ता और प्रचारक की हैसियत से महादेव खेतान भी इस ससार में खाली हाथ आए थे और खाली हाथ ही चले गए। उत्तर प्रदेश और बंगाल के दो वामपंथियों की ये अंतिम इच्छाएं यह बताने के लिए पर्याप्त हैं कि प्रगतिशील और वैज्ञानिक विचारधारा का समुचित प्रचार-प्रसार हो तो हमारा यह विश्व-समाज कितने संकटों और लफड़ों-झगड़ों से बचा रह सकता है। मराठी लेखक पु. ल. देशपांडे ने भी कुछ ऐसा ही उदाहरण पेश किया। खेतान के जोड़ीदार आनंद माधव त्रिवेदी इसी वैज्ञानिक विचारधारा के वाहक हैं। कुछ-कुछ ऐसे ही थे भारत के कार्यवाहक प्रधानमंत्री रहे स्व. गुलजारीलाल नदा और लालबहादुर शास्त्री।

21 अप्रैल, 1926 को चुरू (राजस्थान) के महेन्सर गांव में जन्मे महादेव खेतान एक संपन्न व्यापारी के पुत्र थे। अपने अभिन्न साथी आनंद माधव त्रिवेदी के साथ 1938-39 में कम्युनिस्ट पार्टी से जुड़े और भारत के स्वाधीनता आंदोलन मे कूद पड़े। 1940 में टी.के. चतुर्वेदी के नेतृत्व में कानपुर में कोतवाली के सामने ब्रिटेन के प्रधानमंत्री चर्चिल का पुतला जलाने में ये दोनों युवक सबसे आगे थे। 1947 में विभाजन के समय दंगा रोकने के लिए महादेव एवं आनंद माधव को कम्युनिस्ट पार्टी ने सहारनपुर भेजा तो इन्होंने वहां दंगा नहीं होने दिया। भारत के आजाद हो जाने पर 1948-49 में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के आह्वान पर तेलंगाना आंदोलन में कूद पडे और तीन वर्ष जेल की सजा काटी। जेल में खेतान के साथ थे 'पूंजी' के हिंदी अनुवादक ओमप्रकाश संगल, सुदर्शन चक्र और आनद

माधव त्रिवेदी, जल मे भी गलत बातो का विरोध किया और लाठिया खाकर हाथ-पैर तुड़वा लिये तो राजाराम शास्त्री वहां उनसे मिलने गए और अधिकारियो के खिलाफ बयान जारी किया। 1951 में करेंट बुक डिपो की स्थापना की, जो उत्तर भारत में वामपंथ का सबसे बड़ा प्रचार केंद्र सिद्ध हुआ। भारत-चीन मैत्री सघ के लिए आनंद माधव त्रिवेदी के साथ मिलकर काम किया। भारत-क्यूबा मैत्री सघ स्थापित किया। 6 अक्टूबर, 1999 को निधन। अब करेंट बुक डिपो का काम उनके पुत्र अनिल खेतान देखते हैं।

कामरेड महादेव खेतान के जीवन-पर्यंत जोड़ीदार रहे आनंद माधव त्रिवेदी का जन्म 1917 मे मारवाडी कॉलेज, कानपुर के प्रधानाचार्य मंगली प्रसाद के घर हुआ। भारत की आजादी की लड़ाई में कानपुर के फूलबाग में तिरंगा झडा फहराने के लिए अनेक बार पुलिस द्वारा पीटे गए। शहर कोतवाल की आंखों मे सचमुच की धूल झोंक कर फरार हुए। सीआईडी द्वारा पीछा किए जाने पर मेस्कर घाट से गंगा में छलांग लगा दी और तैर कर उन्नाव पहुंच गए। घर आने पर पुलिस ने घेर लिया तो भाई का सूट पहना, हैट लगाया और चकमा देकर भाग गए। तूफान मेल से दिल्ली जा रहे थे तो खुफिया पुलिस का आभास होने पर ट्रेन की छत पर चढ़ गए और फिर चलती ट्रेन से कूद गए। गिरकर बेहोश हुए तो गाव वाले उठाकर ले गए। पिता की मौत के समय जेल में थे। पेरोल पर छूटकर अतिम दर्शन करने आए। सीपीएम की स्थापना में शरीक रहे। अधिकांश जीवन जेल और फरारी में कटा। इसलिए विवाह नहीं किया। आजाद भारत में अंग्रेजो की मूर्तियां हटाने के लोहिया के अभियान में शरीक हुए। उन्नाव और उरई मे किसानों के बीच रहकर काम किया। कई मजदूर यूनियनों में सक्रिय रहे। कानपुर मे नक्सलवादी आंदोलन के आधार स्तंभ रहे आनंद माधव त्रिवेदी नई पीढ़ी को शिक्षित-संस्कारित करने में जुटे गुरुओं के गुरू धनौआ गुरू का अपना नाम सार्थक करते चले जा रहे हैं।

इस बार कानपुर जाने पर धनौआ गुरू से भेंट नहीं हुई तो अनिल खेतान को पत्र लिखा कि गुरू के हालचाल लिखें। अनिल ने फोन पर समाचार दिये और पीछे से धनौआ गुरू का पत्र आया।

प्रिय बलराम,

अनिल के नाम आया तुम्हारा पत्र पढ़कर प्रसन्नता हुई। आजकल ऐसे लोग कम ही हैं, जो पुराने लोगों को याद करे और उन्हें गौरवान्वित करने-कराने का प्रयास करें। तुम तो जानते ही हो कि मैंने अपने आपको गौरवान्वित करने-कराने का

प्रयास कभी नहीं किया, क्योकि मै जानता हू कि मेरा काम ससार और देश हित मे काम करनेवालों के सामने कुछ भी नहीं है। मेरी कामना है कि जीवन में बहुत उन्नति करो।

मेरे मित्र खेतान (महादेव) अब नही हैं। उनकी अंतिम इच्छा तुम्हें भेज रहा हू, जोकि मेरा आदर्श है। तुम्हारी उन्नति की कामनाओं के साथ...

18/50 फूलबाग, कुरसवां, **तुम्हारा**
कानपुर-208001 **आनंद माधव**

धनौआ गुरू का पत्र पाकर कानपुर और दिल्ली में उनसे हुई मुलाकातों की अनेक स्मृतियां जाग उठीं। नब्बे के दशक के आरंभ में वे हमें चीनी दूतावास ले गए थे और वहां कार्यरत आनंद से भेंट कराई थी, जिनके जरिए छ्येन वांग्सि से परिचय हुआ था। 'सारिका' में उन्हीं के माध्यम से हमने चीन का नया-पुराना साहित्य अनूदित कर-करवाकर प्रकाशित किया था, लू शुन विशेषांक भी। विश्व लघुकथा कोश का संपादन करते हुए भी मुझे छ्येन वांग्सि के काम से चीनी लघुकथाएं जुटाने में मदद मिली थी। इस रूप में धनौआ गुरू प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों रूपों में मेरे मददगार साबित हुए।

धनौआ गुरू सच्चे अर्थो मे जननायक हैं। वे कभी हिम्मत नहीं हारते। हर असभव को संभव कर दिखाने में माहिर हैं। एक बार कामरेड राम आसरे को चीन जाना था। हुआ यह कि जिस जहाज में कामरेड को चढ़ना था, वह अन्य यात्रियों को लेकर उड़ गया। कामरेड के साथ नीचे रह गए डॉ. मुनीश रजा। उन्हें लेकर धनौआ गुरू चीनी दूतावास पहुंचे और अधिकारी को सारी स्थिति समझाई, लेकिन समझकर भी उसने असमर्थता जाहिर की कि जहाज तो चला गया, अब क्या कर सकते है?

इस पर धनौआ गुरू ने अधिकारी से कहा, "दुनिया का सबसे बड़ा देश चीन माना जाता है। क्या उसके पास सिर्फ एक ही जहाज है?" बात अधिकारी को चुभ गई, लेकिन इसी से धनौआ गुरू की बात बन गई। अधिकारी ने उन्हे बिठाया और फिर अन्य अधिकारियों से बात कर डॉ. मुनीश रजा और कामरेड राम आसरे के लिए दूसरे जहाज में विशेष व्यवस्था करवाई, जिससे वे चीन पहुच सके। इस तरह बिगड़े हुए काम बनाने में धनौआ गुरू का कोई जवाब नहीं है।

एक बार धनौआ गुरू को उरई से कानपुर आना था। स्टेशन पर पहुंचते ही गाड़ी चल पड़ी। लगा कि गाड़ी छूट जाएगी, तभी बिना आगा-पीछा सोचे, जो डिब्बा सामने आया, उसी में चढ़ गए। वह डिब्बा मिलिट्रीवालों का था। वे गुरू से

उतरने के लिए कहने लगे तो उन्होंने सैनिकों से पूछा, ''मोर्चे पर आप से एक गलती हो जाए तो क्या दूसरी भी करेंगे?''

''नहीं।''

''तो फिर मैं दूसरी गलती क्यों करूं?''

''क्या मतलब?''

''मतलब यह कि मैंने पहली गलती तो यह की कि चलती गाड़ी में चढ़ा और अब चलती गाड़ी से उतरने की दूसरी गलती बिलकुल नही करूंगा। आप भले ही उठाकर मुझे नीचे फेंक दें।''

इस पर सैनिक हस पडे और धनौआ गुरू को आदरपूर्वक बिठाकर ले आए। इस तरह वह चाहे छूटा हुआ जहाज हो या छूटती हुई गाडी, धनौआ गुरू सभी कुछ पकड़ ही लेते हैं।

धनौआ गुरू और महादेव खेतान 1979 में चीन की यात्रा से लौटे तो उनसे वार्ता हुई, जिसमें उन्होंने बताया था कि वन संपदा और वृक्षों का महत्त्व हमने नहीं समझा, पर चीन की जनता ने इस मूल मंत्र को समझ लिया है कि वृक्ष ही जीवन है। बीजिंग हवाई अड्डे पर उतरते ही चीन की हरियाली ने उनका मन मोह लिया। बीजिंग या शंघाई जैसे भीड भरे महानगरों में ही नहीं, सुदूर ग्रामीण इलाकों में भी हरे-भरे पेड मिले। चीनी हमारी-आपकी तरह पेड़ों के छोटे-छोटे पौधे नहीं लगाते। पौधों को नर्सरी में विकसित करके फिर जहां लगाना होता है, ट्रक पर लादकर लगा देते हैं। इससे जहां भेड-बकरियो से उनकी रक्षा होती है, वहीं उन्हे बडा करने में खर्च भी कम पड़ता है।

बीजिंग विश्वविद्यालय में तब हिंदी के दस प्रोफेसर थे, पर पढ़नेवाला छात्र एक भी नहीं। कारण कि दूतावास के लोग या भारत से जानेवाले अधिकारी, नेता या यात्री वहा अंग्रेजी बोलते है तो चीनियों को लगता है कि वे हिदी क्यों पढ़ें, जब उसका कोई उपयोग ही नहीं है। भारतीय दूतावास में घुसने पर कहीं से भी भारतीयता की गंध नहीं आती। हिंदी पुस्तकों की एक अलमारी थी, वह भी बहुत अदर की तरफ, जबकि आप दुनिया मे कहीं भी किसी चीनी दूतावास में जाए तो सब कुछ चीनमय नजर आएगा। चीन की जनता के बीच भारतीय नेताओ मे सबसे अधिक लोकप्रिय हैं अटलबिहारी वाजपेयी। पंडित जवाहर लाल नेहरू के बाद अगर किसी भारतीय नेता ने वहां अपनी छवि बनाई है तो वे सिर्फ और सिर्फ अटलबिहारी वाजपेयी हैं। चीनी जनता कुर्त्ता-पाजामा पहने भारतीयों को ज्यादा पसंद करती है और उन्हें सच्चा भारतीय मानती है। हिंदी भाषा में बातचीत करने पर हिंदी जाननेवाले चीनियों के अतिरिक्त दुभाषिये के माध्यम से बात

करनेवाले चीनी भी बहुत प्रसन्न होते हैं। चीन के युवक-युवतियों को फोटोग्राफी का बहुत शौक है। चीन में अमीरी नहीं है, पर भूखा और भिखारी भी कोई नहीं है। जेब कटने जैसी बातों की तो वहां कल्पना भी नहीं की जा सकती। चीन के लोगों का जीवन सहज और सामान्य है। कोई परेशान नहीं दिखता। किसी के सामने कोई भयंकर समस्या नहीं। कोई तिकड़मबाजी नहीं करता।

सीधी-सच्ची बातें, सीधे-सच्चे लोग। जो सिद्धांत, वही व्यवहार। तड़क-भड़क या किसी तरह की कोई ठसक नहीं। पद के आधार पर कोई किसी को डरा-धमका नहीं सकता। सब एक साथ, एक जगह, एक-सी पोशाक में खाते-पीते नजर आएंगे। जब तक आपको बताया न जाए, आप जान नहीं सकते कि आपके साथ खड़ा व्यक्ति एस. पी. है या डी. एम.। चीन में बेड-टी, चाय-पानी या नाश्ते की व्यवस्था नहीं होती। वे लोग सुबह, दोपहर और शाम, तीन बार खाना खाते है। उनके खाने में नमक-मिर्च और मसाले नहीं होते। सादा उबला हुआ भोजन करते हैं वे लोग। मुख्यतः गोश्त, चावल और सब्जी खाते हैं या मोटी-मोटी छोटी-छोटी चपातियां। उनका खाना सादा होता है, पर विटामिनयुक्त और पौष्टिक। चाय की जगह गरम पानी पीते हैं। ठंडा और कच्चा पानी वे नहीं पीते। चीन ने आर्ट को इंडस्ट्री का रूप दे दिया है, जिससे दुनिया के पर्यटकों को चीनी कला प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होती है। वहां के कलाकारों को रोटी की चिंता नहीं करनी पड़ती।

रोटी की चर्चा चली तो महादेव खेतान को वे दिन याद आ गए थे, जब वे साथियों के साथ जेल अधिकारियों से बुरी तरह पिटने के बाद घायल होकर जमीन पर गिरे पड़े थे। तब राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के सरसंघ चालक बाला साहब देवरस के भाई भाऊराव देवरस दूसरे कैदियों के साथ वहां आए और घायल कम्युनिस्टों को उठाकर बैरक में ले गए। उन्हीं दिनों कैद किए गए राष्ट्रीय स्वयं सवेकों के साथ भाऊराव देवरस भी थे। उन्होंने घायलों के लिए दूध, चाय और भोजन आदि की व्यवस्था की थी।

कम्युनिस्टों पर जेल में दंगा करने का आरोप लगाकर जेल अधिकारियो ने भाऊराव देवरस से गवाही देने के लिए कहा और इस बात पर जोर दिया कि कम्युनिस्ट आपके विरोधी हैं, इसलिए आप इनके खिलाफ गवाही दें। तब भाऊराव ने उनसे कहा था, 'यह ठीक है कि कम्युनिस्ट हमारे विरोधी हैं, लेकिन हम सब एक ही सरकार के कैदी है। इस नाते वे हमारे भाई हैं। हम उनके विरुद्ध गवाही नहीं दे सकते।' टूटे हाथवाले महादेव खेतान को भाऊराव देवरस एक महीने तक अपने हाथ से रोटी खिलाते रहे। जेल जीवन की यह बात बताते हुए महादेव

खेतान भावुक हो उठे थे, साथ में आनंद माधव भी।

हम कामरेड महादेव और आनद माधव से मिले तो फिर उनके ही होकर रह गए थे, संतोष की तरह। जब तक कानपुर मे रहे, अक्सर इन दोनों से मुलाकातें होती रही और जब दिल्ली चला आया तो धनौआ गुरू जब भी आए हैं तो प्राय: मुलाकातें होती रही हैं। पिछली भेंट में चीन और भारत के बीच मैत्री की हिमायत करते हुए बोले कि दोनों देश महान है, इनमें बहुत समानताएं हैं। हमें गोतम बुद्ध ही नहीं जोडते, ह्वेनसांग और फाहियान भी जोड़ते हैं। हमारी प्राचीन सभ्यता, संस्कृति, कला और साहित्य ने एक दूसरे को बहुत गहरे तक प्रभावित किया है। इसलिए चीन और भारत के बीच आवागमन और व्यापार ही नहीं बढ़ना चाहिए, दिलों का भी आदान-प्रदान होना चाहिए। ये दोनों देश मिलकर चलें तो दुनिया की बड़ी से बड़ी ताकत भी कभी इन्हें धौंस दिखाने की हिम्मत न करे। चीन में भारत के राजदूत रहे हमारे राष्ट्रपति नारायणन् ने चीनी राष्ट्रपति च्यांग चेमिन को शायद यही समझाने के लिए चीन की यात्रा पर जाना जरूरी समझा।

कहते हुए आनंद माधव के चेहरे पर मुस्कान तैर गई थी, विशुद्ध भारतीय मुस्कान, जिसमें चीनी मुस्कान की ऐसी छाप थी कि वे चीन मे बस जाते तो वहां के समाज में सहज रूप से वैसे ही घुल-मिल जाते, जैसे पाकिस्तान और बाग्लादेश के लोग भारतीय समाज में घुल-मिल जाते हैं, लेकिन कामरेड आनंद माधव मंगोल नहीं हैं, हूण भी नहीं, वे विशुद्ध भारतीय रक्त हैं, जिन्हें भारत और चीन के बीच तनातनी से चिढ़ है और रक्तपात से घृणा, गहरी और घनी घृणा। □

श्रीकृष्ण

युवा चाहें तो स्थापित कर सकते हैं कीर्तिमान

राजनेता और सांस्कृतिक हस्ती डॉ. कर्णसिंह भी आए थे उस प्रदर्शनी को देखने, जो दिल्ली में आसफ अली रोड स्थित हिंदी बुक सेंटर में लगाई गई थी। प्रख्यात कवयित्री सुनीता जैन के कविता संग्रह 'हो जाने दो मुक्त' को डॉ. कर्णसिंह ने उठाकर देखा तो देखते ही रह गए। काफी देर तक खड़े वे अपलक उस किताब का आवरण देखते रहे और फिर हिंदी बुक सेंटर के मालिक अमरनाथ से बोले क्या भारत में भी अब इतनी सुंदर और अच्छी किताबें छपने लगी हैं?"

"क्यों नहीं?" अमरनाथ ने कहा तो डॉ. कर्णसिंह और भी उत्साह में भरकर हिंदी की नई-पुरानी किताबें देखने लगे।

'क्या आप जानते हैं कि सुनीता जैन का वह कविता संग्रह किसने छापा था?'

'पराग प्रकाशन ने!'

'जी हां, आपने एकदम सही फरमाया। पराग प्रकाशन ने 1972 के बाद लगातार एक से बढ़कर एक सुंदर आवरण और साज-सज्जावाली ताजा किताबे छापीं और सूचना तथा प्रकाशन विभाग से पुस्तकों की श्रेष्ठतम् प्रस्तुति के लिए तीन बार राष्ट्रपति से ताम्रपत्र प्राप्त किया। इतना ही नहीं, पराग प्रकाशन के कर्ता-धर्ता श्रीकृष्ण ने खुद की लिखी हुई अपनी पुस्तकों पर भी विभिन्न राज्य सरकारों से लगभग एक दर्जन पुरस्कार प्राप्त किए, मगर नहीं प्राप्त कर सके तो आर्थिक सफलता नहीं प्राप्त कर सके। श्रेष्ठ लेखको की सैकड़ों श्रेष्ठ किताबे छापने के बावजूद श्रीकृष्ण भ्रष्टाचार के बढ़ते दबाव और प्रभाव के चलते प्रकाशन जगत में एक विशाल आर्थिक़ साम्राज्य स्थापित करने में असफल रहे। हिंदी प्रकाशन जगत में पुस्तक-प्रस्तुति के लिए सब उनका लोहा मानते हैं, सब उन्हे मेहनती और ईमानदार मानते है लेकिन कर्ज के बढने बोझ ने उनकी कमर तोड

दी है। फिर भी देनदारों को देर-सबेर पैसा तो देते ही हैं और उनका प्रकाशन कछुए की चाल से सरकता रहता है, शायद इस उम्मीद में, कि किसी दिन कोई चमत्कार हो और यह कछुआ चाल तेज दौड़ाक खरगोशों को पीछे छोड़ दे। कोई नामवर 'लेखक' उनके प्रकाशन को भी मिला नहीं कि उनकी विजय निश्चित है। अभी तक तो वे सिर्फ भ्रमर गीत गाते रहे हैं।'

मिलने पहुंचे तो वे किसी किताब के प्रूफ पढ़ रहे थे। प्रकाशन से उन्हे इतनी कमाई नहीं होती कि दो जून की रोटी भी ढंग से मिल सके। इसलिए उन्होंने कंपोजिंग एजेसी बना रखी है और अपनी कम, औरो की किताबें ज्यादा छापते है। जिन्हें संपादक, प्रूफरीडर, प्रोडक्शन-एडवाइज़र और मुद्रक, सब एक ही जगह चाहिए, वे लोग सीधे श्रीकृष्ण के पास चले जाते है, क्योकि उन्हे पाडुलिपि सौपकर लोग चादर तानकर सो सकते हैं। गृहलक्ष्मी के जिन्न की तरह कुछ दिन बाद साफ-सुथरी छपी और सुंदर आवरण से सजी किताब लेकर श्रीकृष्ण उपस्थित हो जाते हैं। यही कारण है कि उनके हाथ कभी खाली नही रहते, चलते रहते हैं, निरंतर।

आज भी उनके प्रकाशन से किताबें छापने के लिए नए-पुराने लेखकों की पाडुलिपियो का अंबार लगा रहता है, लेकिन काम की तुलना में धन का अंबार नहीं लगता, "कभी-कभी धन भी आता तो है, पर मैं अकेला आदमी हूं।" श्रीकृष्ण कहते हैं, "छह में से पांच बेटियों की शादी कर दी। कोई बेटा होता या भाई प्रकाशन व्यवसाय में सक्रिय रूप से हिस्सा बटाते तो शायद स्थिति कुछ और होती। मैंने अच्छी से अच्छी किताबें छापीं, मगर घूस देकर बिक्री की व्यवस्था नहीं कर सका। कोई ऊंचा संपर्क स्थापित नहीं हुआ। लाखों की बात तो छोडिए हजार-हजार रुपये के ही आर्डर मिलते रहें तो मेरी या मेरे जैसे प्रकाशकों की गुजर हो सकती है, मगर भ्रष्टाचार आज कदर तक बढ़ गया है कि नीति, नियम और नैतिकता की बातें अब नक्कारखाने में तूती की आवाज लगती हैं। बडे प्रशासक चाहें तो टी. एन. शेषन, खैरनार या किरण बेदी जैसी आशा की किरणे प्रकाशन जगत में भी बिखेर सकते हैं।"

ऐसा चाहने और सोचनेवाले श्रीकृष्ण का जन्म 15 अक्टूबर, 1934 को मेरठ (उत्तर प्रदेश) मे हुआ था। बी. एस-सी. (अपूर्ण) तक पढ़े-लिखे श्रीकृष्ण को आनंदप्रकाश जैन का परामर्श और सहयोग मिला तो वे लेखक बन गए। रचनाए धर्मयुग, ज्ञानोदय, कल्पना, साप्ताहिक हिंदुस्तान, माध्यम, पराग, नंदन, बाल भारती, सुप्रभात, मनमोहन आदि तब की प्रायः सभी प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं में छपी। रेडियो से भी अनेक रचनाओं का प्रसारण हुआ और दो-चार बार दूरदर्शन पर भी कार्यक्रमों में हिस्सा लेने का सुयोग बना। श्रीकृष्ण की पहली किताब 'आंगन के

फूल' थी, जो भारतीय साहित्य प्रकाशन, मेरठ से छपी थी। भारतीय ज्ञानपीठ ने एकांकी संग्रह 'तरकश के तीर' छापा था। एक कहानी सग्रह 'जरी का दुशाला छपा और बाल साहित्य की भी कई पुस्तकें समय-समय पर छपीं।

1957 से 64 तक रामलाल पुरी के साथ आत्माराम एंड संस मे, 64 में ही ओमप्रकाश के साथ राजकमल में और 65 में जवाहर चौधरी के साथ भारतीय ज्ञानपीठ मे नौकरी की। 1968 में नेशनल पब्लिशिंग हाउस मे कन्हैयालाल मलिक के साथ आ गए और फिर 1972 में अपने खुद के सस्थान पराग प्रकाशन की स्थापना की। पराग प्रकाशन की सुंदर-सुंदर आवरणों वाली किताबों ने हिंदी प्रकाशन जगत में तहलका मचा दिया। उस समय जिस नए लेखक की कहानी 'सारिका' में छप जाती थी, वह स्थापित हो जाता था और जिसकी किताब पराग प्रकाशन से छप जाती थी, उसकी अपनी अलग पहचान बन जाती थी। कमलेश्वर कामतानाथ, नरेंद्र कोहली, अमृता प्रीतम, दीप्ति नवल, हिमांशु जोशी, मृणाल पाडे मेहरुन्निसा परवेज, राजेंद्र अवस्थी, शंकर शेष, पुष्पा भारती, शैलेश मटियानी जितेंद्र भाटिया, केशव, आबिद सुरती, यादवेंद्र शर्मा चंद्र, मंजुल भगत, द्रोणवीर कोहली, बलराम, बासु भट्टाचार्य, सुभाष पंत, राजकुमार गौतम, धीरेंद्र अस्थाना मधुकर सिंह आदि प्राय तब के सभी चर्चित रचनाकार पराग से छपे। कविता का बाजार न होते हुए भी बहुत से कविता संग्रहों का प्रकाशन श्रीकृष्ण ने किया लेकिन जो संतुष्टि अमृता प्रीतम की आत्मकथा 'रसीदी टिकट' और नरेंद्र कोहली की रामकथा 'अभ्युदय' छापकर मिली, वह अन्य किसी किताब से नहीं मिली। पराग प्रकाशन की लगभग पचास किताबों को विभिन्न सरकारों और संस्थाओ द्वारा पुरस्कृत किया गया।

अपने कुछ पारिवारिक कारणों से पराग प्रकाशन को बंद कर श्रीकृष्ण ने पिछले दिनों अभिरुचि प्रकाशन के नाम से नया प्रकाशन संस्थान शुरू किया है और एक से अच्छी एक, अनेक किताबें छापी हैं। उम्मीद है कि अपनी कर्मठता से वे अभिरुचि प्रकाशन को भी प्रतिष्ठा के शिखर पर पहुंचाने में सफल होंगे। शायद इसीलिए प्रख्यात कथाकार आबिद सुरती ने लिखा है : 'पलटकर देखता हूं तो यादों के गलियारों से उभरकर कई चेहरे सामने आते हैं। श्रीकृष्ण उनमें एक है। कर्मों के कहर से लोहा लेने का साहस मैंने उनसे पाया है तो मधुर मुस्कान का रहस्य फुजिको से जाना है। विवेक के गुण मैंने राजकपूर से हासिल किए हैं तो अपनी ही पहचान का सीधा और सरल नुस्खा 'विपश्यना' गुरु श्री सत्यनारायण गोयन्का का प्रसादी है।'

बाजार में बहुत से प्रकाशकों ने श्रीकृष्ण के प्रकाशन का पैसा मार लिया

कई एजेटो ने धोखा दिया ओर बेचने का गुर सीख न पाने से श्रीकृष्ण आर्थिक मामले मे पिट गए। वे पान, बीड़ी, सिगरेट या शराब, सबसे कोसों दूर रहते हैं और न्यूनतम समझौतों के साथ अपनी हस्ती अभी भी बचाए हुए हैं। प्रकाशकीय और लेखकीय राजनीति से एकदम दूर रहनेवाले श्रीकृष्ण मानते हैं कि देश ने बहुमुखी प्रगति की है, लेकिन भ्रष्टाचार की काली नदी ने सबके हाथ-पांव ओर चेहरे काले कर दिए हैं। जो भी कुर्सी पर बैठता है, देश और समाज को भूलकर सिर्फ अपना घर भरने लग जाता है।

निराशा के घटाटोप के बावजूद श्रीकृष्ण की कामना है कि युवकों को प्रकाशन के क्षेत्र में आना चाहिए और स्तरीय प्रकाशन करके हिंदी भाषा को आगे बढाना चाहिए। सब लोगो का सम्मान होता है, लेकिन प्रकाशकों को कोई नहीं पूछता। ऐसे में युवा प्रकाशक कुछ ऐसा काम करके दिखाएं, जिससे प्रकाशक बिरादरी का सम्मान बढ़े। मिल-जुलकर सब प्रकाशक चाहें तो क्या नहीं कर सकते। एकजुटता और भाईचारे से सब कुछ हासिल किया जा सकता हे धन-दौलत से लेकर मान-सम्मान तक। पुरानी पीढ़ी ने हिंदी प्रकाशन जगत को एक मजबूत आधार दे दिया है, नई पीढी के युवक चाहें तो इस पर भव्य महल खड़ा कर सकते हैं।

आपकी पहली प्रसिद्धि एक लेखक की है और दूसरी प्रकाशक की,लेकिन बाद में आपने लिखना छोड़ क्यों दिया, लेखन छूट जाने का अफसोस नहीं होता?

1957 में मेरी शादी हो गई तो जीविका के लिए नौकरी करनी पडी। नौकरिया प्रायः प्रकाशकों के यहां ही कीं, इसलिए दूसरों के लिखे को संपादित-संशोधित और सजा-संवार कर पुस्तकों के रूप मे प्रकाशित करने में इतना रम गया कि अपने लेखन को भूलता चला गया। मेरे लिए यह चाहे ठीक न हुआ, पर मुझे संतोष है कि मैंने हिंदी प्रकाशन जगत में नित नवीन प्रयोग किए, जिनका यत्र-तत्र-सर्वत्र प्रायः स्वागत किया गया। इसलिए मौलिक लेखन में बहुत आगे न जा पाने का उतना मलाल तो नहीं है, जितना यह कि प्रकाशन की दुनिया में जितनी आर्थिक प्रगति करनी चाहिए थी, अपने सीमित साधनों के कारण नहीं कर सका। प्रकाशन की मेरी तमाम सारी योजनाए धरी की धरी रह गईं। धन होता तो और बेहतर ढग से योजनाओं को कार्यान्वित कर सका होता। बीसवीं शताब्दी के हिंदी साहित्य को गौरवपूर्ण ढंग से छापने की मेरी वर्तमान पुस्तक श्रृंखला अर्थाभाव के कारण उस गति से आगे नहीं बढ़ पा रही, जिस गति से बढ़नी चाहिए थी। फिर भी, ऐसी अनेक और योजनाओं पर भी काम चल रहा है, पर धीमी गति से। और अब

अपनी सीमाओं मे सतुष्ट रहना मैंने सीख लिया हे।

पहली रचना कब, कहां और कैसे लिखी और वह कहां छपी, उसके छपने पर कैसा लगा, उसके बाद कहां-कहां छपे?

यह शायद 1948 की बात है, जब मैं पंद्रह साल का रहा होऊंगा। मेरठ के रामनगर मोहल्ले में हम लोग रहते थे, जहां सांस्कृतिक-सामाजिक कार्य करने के लिए 'बाल मंडल' बनाया गया था। मंडल से एक हस्तलिखित पत्रिका निकालते थे, जिससे एक माहौल बना। उस पत्रिका के लिए कुछ न कुछ लिखना होता था, पर अब वह सब पता नहीं कहां है। तभी मेरठ कालेज की पत्रिका मे एक रचना 'मेरठ जा रहा हूं' छपी। बाद में प्रगतिशील साहित्यकार परिषद मे आना-जाना शुरू हुआ और मैं उसका सदस्य बन गया।

मेरे पहले साहित्यिक गुरु आनंदप्रकाश जैन बने, जो 1950-51 में पत्र-पत्रिकाओ मे खूब छप रहे थे। उन्हीं दिनों मैंने एक कहानी 'नजर' लिखी, जिसे लेकर मैं उनके पास गया। उन्होंने उसमें कुछ सुधार किए और 'सरिता' में भेजने का सुझाव दिया तो रचना मैंने भेज दी और स्वीकृति-पत्र का इंतजार करने लगा। स्वीकृति-पत्र पाकर लगा कि जैसे मेरे पंख लग गए हो और जब फरवरी, 1952 की 'सरिता' में 'नजर' छपी तो लगा कि जैसे मेरे पांव धरती से अपने आप कुछ इच ऊपर उठ गए हैं, अब मैं बाकायदा लेखक बन गया था।

एक बार को 'नजर' क्या छपी, मै रात-दिन लिखने में रत रहने लगा और फिर तो कल्पना, ज्ञानोदय, धर्मयुग, साप्ताहिक हिंदुस्तान, सरस्वती, कादंबिनी माध्यम, नया समाज, नया जीवन, अजंता, प्रवाह, पराग, मनमोहन तथा सुप्रभात जैसी तब की प्रतिष्ठित और लोकप्रिय पत्र-पत्रिकाओं में धड़ाधड़ मेरी रचनाए छपने लगीं। 'कल्पना' के मार्च, 1954 के जिस अंक में मेरी कहानी 'भाभी' छपी थी, उस अंक के अन्य लेखकों में कमलेश्वर, मार्कंडेय, शिवप्रसाद सिंह तथा कर्तारसिंह दुग्गल जैसे अनेक दिग्गज शामिल थे।

कहकर श्रीकृष्ण वालपेंटिंग की तरह दीवारों पर टंगे राष्ट्रपतियों से प्राप्त ताम्रपत्रों को देखने लगे, जो किताबों के उत्तम प्रोडक्शन के लिए उन्हें मिले है। सपादन और प्रकाशन में नहीं आए होते और लेखन के जिस कर्म में जीवन के प्रारभ में प्रवृत्त हुए थे, उसी में रमे रहते तो न जाने कितनी सरकारों और अकादमियों के पुरस्कारों-सम्मानों के प्रतीक चिन्ह उनकी बैठक में सजे होते, जो उन्हें उनकी लिखी किताबों पर मिले होते, लेकिन जो नहीं है, उसका गम क्या पेट के कीड़ों द्वारा दिमाग पर किए गए हमले से बदहाल हुए श्रीकृष्ण कहते है और कोई गम नहीं करते, मेरी तरह। □

पाकिस्तानी फिल्मों के स्टार

शुजात हाशमी

एक बहुत बड़ी ट्रेजडी है 'टोबा टेकसिंह'

पाकिस्तानी फिल्मो के स्टार-कलाकार और हिंदी फीचर फिल्म 'टोबा टेकसिंह' के नायक शुजात हाशमी से मुलाकात का अवसर फिल्म की शूटिग के दौरान मिला। टोबा टेकसिंह! उर्दू का कौन-सा पाठक होगा, जो सआदत हसन मंटो की कहानी 'टोबा टेकसिंह' से वाकिफ न हो और हिंदी के भी अधिसख्य पाठकों के लिए 'टोबा टेकसिंह' अब प्रेमचन्द की 'कफन', 'सद्‌गति' या 'शतरंज के खिलाडी' जैसी चर्चित कहानी है और पंजाबी तहजीब तो जैसे मंटो की रचनाओं में घुट्टी की तरह घुली हुई है। मंटो जितने हिंदुस्तान के हैं, उससे कम पाकिस्तान के नहीं है तभी तो हिंदुस्तान की शक्ति सिद्धू जब मंटो की कहानी 'टोबा टेकसिंह' पर फिल्म बनाती हैं तो पाकिस्तान के स्टार-कलाकार शुजात हाशमी फिल्म की मुख्य भूमिका के लिए 'हां' कहने में एक मिनट का भी विलंब नहीं करते और यह काम वे धन के लिए नहीं, मंटो के प्रति अपने लगाव और प्यार के लिए करते हैं, सहर्ष। जो लोग पाकिस्तानी नाटकों, फिल्मों, टी.वी सीरियलों और रेडियो नाटकों से वाकिफ हैं, वे अच्छी तरह जानते हैं कि शुजात हाशमी पाकिस्तान के कितने बडे एक्टर हैं, भारत के अमिताभ, शाहरुख जैसे एक्टर। फिल्म 'टोबा टेकसिंह' मे सरदार बिशन सिंह की भूमिका में दर्शकों ने शुजात हाशमी के फन का कमाल तो देखा ही, लेकिन यह जानना कितना चौंकाऊ है कि शुजात हाशमी से पहले यह भूमिका ओमपुरी करनेवाले थे और उनसे भी पहले नसीरुद्दीन शाह, मगर कुछ कारणों से दोनों से ही बात टूट गई। संयोगवश इसी बीच शक्ति सिद्धू के कैमरामैन मित्र जूबी अमीर के आमत्रण पर शुजात हाशमी हिंदुस्तान आए। जूबी अमीर को शक्ति की समस्या का अनुमान था। सो, उन्हें सरदार बिशन सिंह के रोल के लिए कहा गया। उन्होंने तुरंत हामी भर ली और बहुत ही कम समय मे फिल्म पूरी कर ली गई। शुजात हाशमी ने इसके लिए कोई रकम नहीं मांगी,

बल्कि मटो से लगाव और दोस्तो की जरूरत के लिए यह काम उन्होने बिना पैसे के कर दिया और इतना अच्छा कर दिया कि निर्देशिका शक्ति सिद्धू का लगा कि नसीरुद्दीन शाह और ओमपुरी ने इस फिल्म में काम नहीं किया तो एक तरह से यह अच्छा ही हुआ। शुजात हाशमी ने जिस खूबी से सरदार बिशन सिंह का किरदार निभा दिया है, कोई भारतीय अभिनेता शायद ही निभा पाता। संजीव कुमार शायद कर पाते। मनोहर सिंह से भी हमने इस फिल्म मे काम करने के लिए कहा तो उन्होंने सरदार बिशन सिंह की भूमिका मांगी। मैंने उन्हें बताया कि यह भूमिका तो पाकिस्तानी एक्टर शुजात हाशमी कर रहे हैं। इस पर उन्होने चिढकर पूछा, "क्या हिंदुस्तानी एक्टर सब के सब मर गए थे?"

"हिंदुस्तानी एक्टर मुझसे जितनी रकम मांग रहे थे, और जितने दिन बाद की डेट्स दे रहे थे, उसमें वे तो नहीं, लेकिन मैं जरूर मर जाती। इस लिहाज से मेरे लिए तो वे सब के सब ऐसे ही हैं। मेरी किस्मत कि शुजात हाशमी आ गए और मेरा प्रोजेक्ट डूबने से बच गया।" शक्ति सिद्धू ने कहा था।

रावलपिंडी में जन्मे शुजात हाशमी गोर्डन कालेज, रावलपिंडी से एमए कर 1969 में अभिनय की दुनिया में आए तो फिर पलटकर उन्होंने नहीं देखा कि इस बीच वे कितना फासला तय कर आए हैं। अभिनय, सिर्फ अभिनय करते है और अपनी विधा के होलटाइमर हैं। खुद को उन्होने टुकडों-टुकड़ो मे बांटकर नहीं रखा हुआ है। जो काम करते है, मन लगाकर करते हैं और जैसे ही एक काम पूरा हुआ, उसकी अच्छाई-बुराई जानने की बजाय किसी नए काम में लग जाते है। रेडियो पाकिस्तान के लिए लगभग दो हजार और टीवी के लिए पांच सौ से अधिक नाटकों में अभिनय करनेवाले शुजात हाशमी लगभग सौ नाटक रंगमच पर भी कर चुके हैं, जिनमें से अमीर खुसरो, वारिस, आखीरे शब, अगर-मगर, एक हकीकत सौ अफसाने, इमानदीन गुहाबिया बहुचर्चित रहे है। टी.वी. फिल्म 'सफेद साया' से बहुचर्चित हुए इस अभिनेता की पहली चर्चित फीचर फिल्म 'सौराते जमई' के नाम से आई थी। अब तक सौ से अधिक फिल्मो में काम कर चुके हाशमी लाहौर में रहते हैं। 'टोबा टेकसिंह' फिल्म की शूटिंग पूरी होने के तुरत बाद उनसे हमारी मुलाकात हुई तो फिर मंटो, उनकी कहानी 'टोबा टेकसिंह' और खुद उनकी जाती जिंदगी के बारे में तमाम सारी बाते हुई। डिफेंस कालोनी दिल्ली स्थित उस कोठी की ऊपरी मंजिल पर शुजात हाशमी के साथ शक्ति सिद्धू के अलावा और भी अनेक लोग थे। लंबे-तड़ंगे और गोरे-चिट्टे शुजात कुर्ता-पजामा पहने एक आम भारतीय जैसे लग रहे थे और बातचीत भी जिस भाषा और तहजीब में कर रहे थे, वह खरी-खांटी लखनवी अदा लिये हुए थी।

हैदराबादी अदाज की खनक भी उसमें थी, शायद उर्दू की वजह से। और पाकिस्तानी गुरूर तो खैर उनमें झलक ही रहा था, क्योंकि वे आजाद पाकिस्तान की पैदाइश हैं और पुरानी पीढ़ी के पाकिस्तानियों की तरह भारत के बटवारे को लेकर उनमें कोई दर्द शेष नहीं है। मैंने चाहा कि 'टोबा टेकसिंह' का संदर्भ लेकर उनसे हिंदुस्तान और पाकिस्तान के सियासी और समाजी हालात पर कुछ गहरे उतरूं, क्योंकि ऊपरी तौर पर पागलों पर केंद्रित होते हुए भी मंटो की यह कहानी विभाजन का वीभत्स चेहरा भी उजागर करती है। यह कहानी जमीन से उखडे हुए आदमी के हालात जिस कदर बयान करती है, पढ़कर दिल दहल उठता है। कहानी मे समाजी और सियासी जुमलों का इस्तेमाल भी पर्याप्त है, लेकिन शुजात हाशमी ने किसी डरे हुए परिंदे की तरह बातचीत की शुरुआत में ही निवेदन कर दिया कि मैं महज एक एक्टर हूं, इसलिए हिंदुस्तान और पाकिस्तान की सियासी स्थिति पर चर्चा न करें तो बेहतर होगा। फिल्म 'टोबा टेकसिंह' की निर्देशिका शक्ति सिद्धू ने भी कहा कि हमने फिल्म में सियासत को किसी भी रूप में आने नहीं दिया है, हमने तो सिर्फ इसके मानवीय पहलुओं पर ही फोकस किया है।

"यानी कि कहानी में आपने हेर-फेर किया है।" मैंने शक्ति से पूछा तो वे बोलीं, "हां, लेकिन कहानी के साथ अन्याय न होने पाए, इसके लिए अनेक सिद्ध-प्रसिद्ध लोगों की मदद ली गई है।"

"मसलन." मेरी जिज्ञासा तेज हो गई और आवाज का टोन बदल गया क्योकि जैनेंद्र के 'त्यागपत्र' से लेकर वृन्दावनलाल वर्मा की 'मृगनयनी' तक साहित्यिक कृतियों से फिल्मी लोगों की गैर-वाजिब छेड़छाड़ का एक लबा सिलसिला रहा है, जो किसी भी अदब-पसंद व्यक्ति को उत्तेजित कर सकता है। मेरी जिज्ञासा को शात करने की गरज से शक्ति सिद्धू ने बड़े-बड़े नामों का ढेर मेरे सामने परोस दिया, "मसलन फिल्म मे परिचय (इंट्रोडक्शन) और वर्णन (नैरेशन) का काम खुशवंत सिंह ने किया है, संवाद डॉ. राही मासूम रजा के है कैफी आजमी के गीत को सुरेश वाडेकर ने अपनी आवाज दी है और संगीत वेदपाल का है। फिल्म की पटकथा विमल दत्त ने लिखी है।" सुनने के बावजूद जिज्ञासा शांत नहीं हुई तो मैंने उन्हें याद दिलाया कि मंटो ने 'टोबा टेकसिंह' मे लिखा है : "क्या पता कि जो लाहौर आज पाकिस्तान में है, कल हिंदुस्तान मे चला जाए या सारा हिंदुस्तान ही पाकिस्तान बन जाए और यह भी कौन सीने पर हाथ रखकर कह सकता है कि हिंदुस्तान और पाकिस्तान दोनों किसी दिन सिरे से ही गायब नहीं हो जाएंगे।" मंटो की इन पंक्तियों की रोशनी मे देखें तो लगता है कि भविष्य को मंटो पहले ही देख गए हैं। पूर्वी पाकिस्तान तो नक्शे से मिट

ही गया और आज वह बाग्लादेश है, कश्मीर भी कैसे हिंदुस्तान और पाकिस्तान के बीच सैंडविच बन गया है और यह नासूर इन दोनों राष्ट्रों में से किसी एक या दोनों की ही हस्ती मिटा सकता है। कहानी के अंत में सरदार बिशन सिंह पूछता है "टोबा टेकसिंह कहां है, जहां उसकी अपनी जमींदारी, अपना ठिकाना, अपना घर है?" कहानी में मास्टर तारा सिंह का जिक्र भी है। कहानी के अंत में सरदार बिशन सिंह हिंदुस्तान-पाकिस्तान के बीच की जमीन (नोमेंस लैंड) पर औंधे मुह पडा होता है। तो क्या यह सिक्खों के खालिस्तान का अनसुलझा मामला था जिसका संकेत इस कहानी में मंटो बहुत पहले दे गए हैं। यह कहानी हिंदुस्तान के विभाजन की व्यर्थता को भी सिद्ध करती है।

"नहीं-नहीं, इस फिल्म में ऐसा कुछ नहीं है, बल्कि ऐसी सियासी बातों की जगह हमने समाजी और मानवीय बातें जोड़ दी है, जिससे फिल्म मुकम्मल हो गई है।" सुनकर मन में आया कि कहूं कि इस सारे उलट-फेर में कहानी की हत्या तो हो ही गई होगी, लेकिन शुजात हाशमी मेरे सामने थे और मैं उनकी ओर मुखातिब हो गया तो वे बोले, "देखिए, इस तरह मंटो को हिंदुस्तान-पाकिस्तान और खालिस्तान के मसले में फांसकर छोटा मत कीजिए। मंटो ने जब ये जुमले लिखे थे तो देश एक अनिश्चय में था और आज भी क्या निश्चित है। यह एक अनिश्चित भविष्य का पूर्व संकेत है शायद। भविष्य हमेशा अनिश्चित रहता है। हिंदुस्तान-पाकिस्तान में ही क्या, संसार में सर्वत्र बदलाव हो रहे हैं। कुछ साल पहले तक क्या हम सोच भी सकते थे कि सोवियत संघ और यूगोस्लाविया इस तरह भी टूट सकते हैं। ईरान-इराक लडेंगे, कौन सोचता था। अमेरिका के हाथों इराक का जो हश्र हुआ, किसने सोचा था। आज सारा संसार आग के दहाने पर खडा है।"

मंटो को पाकिस्तान में किस रूप में देखा जाता है?

आपका मतलब मैं समझा नहीं।

मतलब, वहां उनकी एक्सेप्टेंस कितनी और किस रूप में है?

एक्सेप्टेंस के दो रूप होते हैं—एक तो अवाम का और दूसरा सरकार का। पाकिस्तान में पिछले दिनों मंटो के 'टोबा टेकसिंह' को खेला गया तो लोगो ने उसे बहुत पसंद किया।

टी. वी. पर...

टी. वी. घरेलू माध्यम है। टी. वी. पर मंटो की 'खोल दो' जैसी कहानी कैसे दिखाई जा सकती है? वैसे, पाकिस्तानी अवाम को मटो पसंद है।

इस हिंदुस्तानी फिल्म में मुख्य भूमिका पाकर आपको कैसा लगा?

बहुत अच्छा, यह मेरा सौभाग्य है कि मटो की इस बहुचर्चित कहानी का मुख्य रोल करके हिंदुस्तानी अवाम के सामने पहुंच रहा हूं।

आपको 'टोबा टेकसिंह' राजनीतिक कहानी क्यों नहीं लगती?

मैंने फिर कोंचा, मगर वे सियासी बातों से कतराकर ही बोले, ''नहीं, मुझे यह राजनीतिक कहानी नहीं लगती। हां, हर बड़ी रचना में सामाजिक-राजनीतिक बाते साथ-साथ चलती ही हैं। मेरी नजर में विभाजन के विरुद्ध लिखी गई कहानी यह नहीं है, इसमें दर्द है उस फूल का, जो अपनी साख से तोड़ दिया गया, इसमें दर्द है उस इंसान का, जिसे अपनी जमीन पर रहने नही दिया गया। इस दु:ख में जितनी चीजें सामने आती हैं, सब इस कहानी में हैं। यह एक बहुत बडी ट्रेजडी है। विडंबना यह है कि जो लोग पागल है, दरअसल वो पागल नहीं है। पागल वो हैं, जो जोरू-जमीन के लिए एक-दूसरे का गला काटते हैं। 'टोबा टेकसिंह'. कहानी हमें बताती है कि एक इसान के साथ क्या हुआ। उसके परिवार ने उसके साथ क्या किया। दु:ख में वह पागल हो गया। विभाजन की सूरत में वह न तो हिंदुस्तान जाना चाहता है, न पाकिस्तान, वह तो अपने 'टोबा टेकसिंह' जाना चाहता है, जहां उसका घर है, उसकी जमीन है, उसके लोग हैं।'' शुजात ने कहा। तभी अचानक कहीं से उनके लिए फोन आ गया तो माफी मांगते हुए शुजात उठ गए और उनके साथ हम भी। उन्हें अपने काम निबटाने थे और हमे अपने। □

एक प्रतिबद्ध संस्कृतिकर्मी

जवाहर चौधरी

तब मेरे ही घर रुकते थे राम विलास

उन दिनों कम्युनिस्टों को गद्दार कहा जाता था और कोई उनकी बात नहीं सुनता था। 1943-44 की बात है। दिल्ली के टाउन हाल के पासवाले पार्क में कम्युनिस्ट पार्टी की मीटिंग होनी थी। नेतृत्व कर रहे थे भालसिंह और सिंघवी। तभी लोगों का एक जत्था आया और मीटिंग करने वालों पर ईंट-पत्थर फेंके जाने लगे। उधर से सत्रह-अठारह साल का एक लड़का गुजर रहा था। यह दृश्य देखकर वह उछलकर मंच पर चढ़ गया और चाकू दिखाते हुए ईंट-पत्थर फेकने वालो से बोला, "अब किसी ने ईट-पत्थर फेंके तो चीरकर फेंक दूंगा।" लोग डर कर भाग गए। मीटिंग फिर चलने लगी, लेकिन थोड़ी ही देर बाद लोगो का एक बहुत बडा जत्था आया, जिसके ईट-पत्थर के आगे कम्युनिस्ट टिक नहीं सके और भाग खडे हुए। तब उनका गिरा हुआ झंडा उस युवक ने उठाया और दौडकर नेताओं को देते हुए कहा, "अपना झंडा तो लेते जाओ। इसकी तो रक्षा करो।"

इस घटना से कम्युनिष्ट नेता इस युवक से इतने प्रभावित हुए कि उसे अपनी पार्टी का कार्यकर्ता बना लिया। तब से मृत्युपर्यंत वह लड़का कम्युनिस्ट रहा, निखालिस कम्युनिस्ट, जो किसी ईश्वर को नहीं मानता था, किसी धर्म मे जिसका यकीन नहीं था, जो सही अर्थों में धर्मनिरपेक्ष था। मार्क्स, लेनिन, स्तालिन और एंगेल्स को अंत तक उतना ही महत्वपूर्ण मानता रहा, जितना 35 साल पहले मानता था। लेनिन महत्वपूर्ण हैं, लेकिन सोवियत संघ को महाशक्ति बनाने का श्रेय वह स्तालिन को ही देता था। रूस में और भारत मे कुछ लोग अब स्तालिन का नाम लेना पसंद नहीं करते, जिसे वह ठीक नहीं मानता था। वह मानता था कि 1942 तक स्तालिन ने सोवियत संघ को इतना शक्तिशाली बना दिया था कि वह जर्मनी से लड़ा और विजेता बनकर विश्व की एक निर्णायक शक्ति बन गया। सोवियत संघ के विघटन को वह साम्राज्यवादी शक्तियों की साजिश मानता था

और मानता था कि इसके बावजूद कम्युनिज्म दुनिया से कभी खत्म नहीं होगा।

जानते हैं, वह युवक कौन था, जो अपने अंतिम समय तक कट्टर कम्युनिस्ट बना रहा, इतना कट्टर कि बड़े से बड़े कम्युनिस्ट भी उसके सामने बौने साबित हो जाएं। वह युवक था–जवाहर, जिसे हम लोग जवाहर चौधरी के नाम से जानते थे। दस-बारह बरस दिल्ली में रहते हुए भी जिसने दिल्ली को नहीं देखा। पक्षाघात से पीड़ित होने के बाद जिसकी भौतिक दुनिया अंगद नगर में स्थित मकान तक सीमित होकर रह गई थी, लेकिन अपने भाव जगत के जरिये वे देश और दुनिया से लगातार संपर्क बनाए रहे, अखबारों को पढ़कर, किताबों को पढकर, मगर पत्रकारों, लेखकों और प्रकाशकों, सभी से वे निराश हो गए थे। उन्हें लगता था कि सबके सब चोर, बेईमान और बदमाश हो गए हैं। उम्मीद की किरणो के दर्शन उन्हें शेषन, चुनाव आयुक्त टी एन शेषन के सख्त फैसलो मे हुए थे और वे सोचते थे कि शेषन जैसे आदमी को तो भारत का प्रधानमंत्री होना चाहिए । वह उन्हें भारत का एक ईमानदार आदमी लगता था। किरण बेदी जैसे आई. ए. एस अफसर होने चाहिए। काश ! किरण बेदी उनकी बेटी होती ! चौधरी साहब सोचते थे। मृणाल पांडे जैसी ईमानदार पत्रकार चौधरी साहब की पहली पसद थी और थे भैरप्पा जैसे लेखक, जो अपने ईमान और मूल्यों से किसी भी तरह का समझौता नहीं करते। नेताओं में रामनिवास मिर्धा के लिए उनके मन मे आदर था और मित्रों में मोहन राकेश जैसा कोई दूसरा उन्हें नहीं मिला और राजेंद्र यादव से मैत्री को वे अपना अभिमान समझते थे, जिनके प्रति हमेशा कृतज्ञ रहे और कमलेश्वर की आत्मीयता उनकी धरोहर थी। बाकी किसी और का कोई खास प्रभाव उन पर नहीं था।

1953 में प्रगतिशील लेखक महासंघ का पहला अधिवेशन हुआ, जिसमे जवाहर चौधरी ने प्रमुख भूमिका निभाई। उससे पहले वे सोवियत संघ के दूतावास में नौकरी करते थे। 1949 में कम्युनिस्ट पार्टी के बहुत सारे लोगों को अडरग्राउंड होना पड़ा था। तब फारुकी, यज्ञदत्त शर्मा, शकील, सरला तथा यामीन आदि उनके ही घर रहा करते थे। 1948 में जवाहर चौधरी जब 'आदर्श नामक समाचार-पत्र का संपादन करते थे तो रामविलास शर्मा ने उन्हें सबसे कम उम्र का तेजस्वी संपादक घोषित किया था। उस अखबार पर देशबंधु गुप्ता ने पाच हजार का जुर्माना किया था, जिसके अदा न किये जाने पर अखबार बंद हो गया था। उन्ही दिनो अजीज हसन बकाई 'हुर्रियत' नामक उर्दू अखबार निकाला करते थे। 'आदर्श' को लेकर चले मुकदमे के दौरान उन्हें भी बुलाया गया था।

4 मार्च 1926 में दिल्ली में जन्मे जवाहर चौधरी ने 22 नवंबर 1999 मे

जब अतिम सास ली तो उनके सामने स्तालिन की तस्वीर थी शोकाकुल परिवार को सांत्वना देने के लिए विष्णु प्रभाकर, कमलेश्वर, राजेंद्र यादव, बृजमोहन, शरदेंदु, भगवान सिंह, रामकिशोर द्विवेदी, आनंद गुप्त तथा महेश दर्पण आदि अनेक लेखक-संपादक उपस्थित थे। जवाहर चौधरी कविताए लिखते थे। लेख लिखते थे। नाटकों में काम किया। संपादक और संगठनकर्ता भी रहे। प्रकाशको के यहां नौकरी की और फिर प्रकाशक भी बने। इस तरह अपने जीवन में वे एक सपूर्ण प्रतिबद्ध संस्कृतिकर्मी सिद्ध हुए। 1949 में इलाहाबाद में हुए प्रगतिशील लेखक संघ के संम्मेलन में जवाहर चौधरी, नरोत्तम नागर, वीरेन्द्र त्रिपाठी, ब्रजमोहन शर्मा, उदय शंकर भट्ट, चतुरसेन शास्त्री, बलराज साहनी, हबीब तनवीर, नागार्जुन, मोहन सहगल, शैलेन्द्र, दीना पाठक, अमर शेख, अण्णा भाऊ साठे, अचला सचदेव तथा गावन्कर आदि के साथ शामिल हुए थे। पक्षाघात के शिकार जवाहर चौधरी मार्च, 1994 की उस दोपहर मूड में आकर बोलते चले जा रहे थे। ओमप्रकाश शर्मा उनके पत्र 'आदर्श' में 'नीम का शरबत' नाम से कालम लिखा करते थे और एक समय वह भी था, जब डॉ. रामविलास शर्मा चौधरी साहब के घर ही रुका करते थे।

सोवियत दूतावास की नौकरी छूटने पर मुनीश नारायण सक्सेना ने उन्हे राजकमल प्रकाशन में ओमप्रकाश के पास भेजा। मुश्किल से बीस रोज काम किया और रामविलास शर्मा, मोहन राकेश आदि से व्यक्तिगत सबंध होने के कारण किसी बात पर झगड़ा हो गया तो चौधरी साहब ने राजकमल छोड़ दिया। कुछ समय गगा पुस्तक माला में नन्द दुलारे भार्गव के साथ काम किया, जहा निरालाजी से भेंट हुई थी। राजेंद्र यादव ने भारतीय ज्ञानपीठ में नौकरी दिलवा दी जिसे उन्होंने इस शर्त के साथ स्वीकार किया था कि ज्ञानपीठ दिल्ली आ जाए। तब दरियागंज में बाटा की दूकान के ऊपर भारतीय ज्ञानपीठ का दफ्तर खुला था। कुछ समय आत्माराम एंड संस में रामलाल पुरी के सहायक बनकर रहे। तब 300 रुपये प्रति माह मिला करते थे। वही एकमात्र प्रकाशक थे, जिनकी चौधरी साहब इज्जत करते थे। वे भी उन्हें बहुत सम्मान दिया करते। 65 में अक्षर प्रकाशन में आ गए और फिर दोस्ती को ज्यादा महत्व देते हुए उसे भी छोड़कर 'शब्दकार' की स्थापना की। बाकी तो लोग सब कुछ जानते ही हैं, लेकिन एक बात और ... कि लेखक कभी भी लेखक का दोस्त नहीं हो सकता। दोस्ती तभी तक रहती है, जब तक कोई किसी के लेखन में मददगार है। यह स्वार्थ हटा नहीं कि दोस्ती खत्म। मोहन राकेश, राजेंद्र यादव और कमलेश्वर में कितनी दोस्ती थी लेकिन आज . उपेंद्रनाथ अश्क को रवींद्र कालिया गालियां देते रहते है

जबकि अश्क तब से लिख रहे हैं, जब कालिया पैदा भी नहीं हुए थे। ये जो इलाहाबाद वाले है, बड़े संकुचित दृष्टिकोण वाले होते हैं। कभी एक दूसरे का भला नहीं कर सकते, उल्टे गला काट लें तो भले ही काट लें। दो-दो प्रधानमंत्री देने हाईकोर्ट, माध्यमिक शिक्षा परिषद, हिंदी साहित्य सम्मेलन और आनंद भवन के वहां होने का घमंड पाले इलाहाबादी लेखक घटिया से घटिया हरकतें करते रहते हैं।

एक बात और ...किसी ने एक लम्हे की भी सच्ची मोहब्बत दी तो उसे जीवन भर याद रखो। इस संदर्भ में मै राजेंद्र यादव का ऋणी हूं। मन्नू भंडारी ने हमेशा मुझे भाई जैसा प्यार और आदर दिया, जिसे मैं कभी भूल नहीं सकता। एक बात और.

चौधरी साहब की इस अदा पर कौन न मर जाए ए गालिब, कि एक बात कहते थे और कहते ही चले जाते थे, मगर उनकी वह 'एक बात' कभी पूरी नहीं होती थी, जैसे कि वे कहते थे कि इस एक जिंदगी में मैंने चार जिंदगियां जी लीं। अब मुझे और क्या चाहिए?

लेकिन हमें तो चाहिए थी चौधरी साहब, आपसे 'एक बात और...' □

'महाभोज' की सर्जक

मन्नू भंडारी

संयम जरूरी होता है बड़ी रचना के लिए

मध्य प्रदेश के भानपुरा में 3 अप्रैल, 1930 में जन्मी मन्नू भंडारी हिंदी से एम.ए. कर कोलकाता के एक स्कूल में पढ़ाने लगीं। फिर प्रख्यात कथाकार राजेंद्र यादव से प्रेम विवाह किया और दिल्ली आ गईं। दिल्ली विश्वविद्यालय के मिरांडा हाउस मे अर्से तक प्राध्यापिका रहीं। 'आपका बंटी', 'महाभोज' आपके बहुचर्चित उपन्यास है तो 'मैं हार गई', 'यही सच है', 'एक प्लेट सैलाब' आदि चर्चित कहानी संग्रह। अनेक कृतियों पर फिल्में बनीं, जिनमें 'यही सच है' कहानी पर बनी फिल्म 'रजनीगंधा' दर्शकों द्वारा खूब सराही गई।

आज के अग्रज लेखक कभी न कभी तो एकदम नए भी रहे होंगे और जब उनकी पहली रचना छपी होगी तो किसी भी नए लेखक की तरह वे भी खुशी से झूम उठे होंगे। लेखकों के पहले प्यार, पहली रचना, पहली किताब और पहला पुरस्कार पाने के समय की खुशी को जानने के लिए मैं प्राय उतावला रहा हू, क्योकि लेखक के लिए शायद यही सच्ची खुशियां होती हैं। इस सदर्भ में 1983 मे मन्नूजी से एक लघुवार्ता हुई थी, लघुकथा की तर्ज पर।

आपकी पहली रचना कब, कैसे और किस पत्रिका में प्रकाशित हुई? उन दिनों आप क्या कर रही थीं? अग्रज लेखकों का व्यवहार कैसा रहा?

मेरी पहली कहानी 'मौत' 1955 में मोहनसिंह सेंगर ने कोलकता से छपनेवाली पत्रिका 'नया समाज' में छापी थी। पत्रिका सामान्य थी, छपती कम थी इसलिए इस कहानी का कोई नोटिस हिंदी साहित्य ने नहीं लिया। उन दिनो मै एम.ए. कर चुकी थी और एक स्कूल में पढ़ा रही थी। फिर 1956 में एक और कहानी 'मैं हार गई' लिखकर डाल दी। सुधीर कोठारी हमारे घर आया करते थे। उन्होंने उसे इलाहाबाद से छपनेवाली पत्रिका 'कहानी' के तत्कालीन संपादक श्यामू संन्यासी को भेजा। तभी श्यामू उस पत्रिका से अलग हो गए और संपादन

का भार संभाला भैरवप्रसाद गुप्त ने। उनका पत्र आया कि वे इसे छाप रहे हैं। तब तक मैं न तो 'कहानी' पत्रिका की विशिष्टता से परिचित थी, न ही श्यामू सन्यासी या भैरवप्रसाद गुप्त से। यह कहानी छपी और सराही गई तो फिर जोश इतना बढ़ गया कि कई कहानियां और लिख डालीं और भैरवप्रसाद गुप्त को भेज दी जिन्हें उन्होंने छापा, पर 'अभिनेता' कहानी पढ़कर चेताया भी कि कला का ग्राफ ऊपर जाना चाहिए। किसी बात से इलाहाबाद जाना हुआ तो भारतभूषण अग्रवाल वगैरह ने कहानियों की तारीफ की। इस तरह मै अपनी प्रारभिक कहानियो से ही जम गई। जमने के लिए कोई खास संघर्ष मुझे नहीं करना पड़ा।

नए लेखकों को कोई सुझाव देना चाहेंगी?

नए लेखकों में कलात्मक संयम नहीं दिखता। वे मुझे बड़ी जल्दी में दिखते है। जल्दी-जल्दी किसी तरह स्थापित हो जाना चाहते हैं, प्रसिद्धि का शिखर छू लेना चाहते हैं। यह बुरा नहीं है, पर रचनात्मक और कलात्मक संयम के बिना बड़ी रचनाएं नहीं लिखी जा सकती, मैं ऐसा मानती हूं और चाहती हूं कि नए लेखक रचनात्मक और कलात्मक संयम का अभ्यास करें ताकि बड़ी रचनाओं का सृजन कर सकें, अन्यथा रचनाए तो बड़ी तादाद में सामने आ जाएंगी, लेकिन कोई बड़ा लेखक उभरकर नहीं आ सकेगा।

कहकर मन्नूजी चुप हो गईं और फिर कुछ देर बाद उठ गईं, इस अदा में कि फिर नही बैठेगी। और सचमुच, मन्नूजी फिर नहीं ही बैठीं। चाय पिलाई और बोलीं, "अभी इतना ही। अब तुम जाओ। बाकी फिर कभी।" लेकिन वह 'कभी' मुझे 'अभी' तक नसीब नहीं हुआ। □

सचेतन कहानी के उन्नायक

महीप सिंह

पुराने लेखक नयों को भी पढ़ रहे हैं अब

उत्तर प्रदेश से उभरे लेखको में से एक हैं सुप्रसिद्ध कथाकार महीप सिंह। 15 अगस्त, 1930 मे उन्नाव जिले में पैदा हुए इस कथाकार ने डॉक्ट्रेट किया। दिल्ली के खालसा कॉलेज मे प्राध्यापकी की और 'संचेतना' का संपादन भी। भारत सरकार, उत्तर प्रदेश सरकार, हिंदी अकादमी, दिल्ली तथा पंजाब सरकार से सम्मानित-पुरस्कृत। अनेक कहानी संग्रह और उपन्यास प्रकाशित। दिल्ली आने पर उनसे कई मुलाकातें हुई। 1983 में उनके प्रारंभिक लेखन की चर्चा छिड़ने पर उन्होने बताया था कि उन दिनों नागपुर का अखबार 'युगधर्म' साप्ताहिक हुआ करता था, 1948 मे। उम्र रही होगी यही कोई अठारह वर्ष, शिक्षाकाल चल रहा था। युग के सामाजिक वातावरण की अपेक्षा देशभक्ति और देश के प्राचीन गौरव से अभिभूत होकर उन्होंने एक कहानी 'आदर्श इच्छा' लिखी, जो 'युगधर्म' मे छप गई। इसे स्कूली लेखन की पहली कहानी कहा जा सकता है। इसके बाद यथार्थ से जुड़कर कहानियां लिखने का दूसरा दौर 1956 में शुरू हुआ और 'सरिता' में 'मैडम' कहानी छपी। फिर 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' की 'प्रेमचंद कहानी प्रतियोगिता' में इनकी कहानी को प्रथम पुरस्कार मिला। उन दिनों इलाहाबाद साहित्य का केंद्र हुआ करता था। जब पहली कहानी 'युगधर्म' में छपी, तब वे कानपुर में थे। 'सरिता', 'साप्ताहिक हिदुस्तान' में कहानिया छपीं तो बंबई में थे। कानपुर में उन दिनों कोई बड़ा लेखक था नहीं और बंबई ठहरा अपरिचितो-अजनबियो का शहर। सो, कहानियों पर मित्रों-परिचितों की सराहना तो उन्हें खूब मिली, पर किसी बड़े लेखक की कोई प्रतिक्रिया प्रारंभिक कहानियों पर नहीं मिली। उस जमाने में नए लेखक को अग्रज पढ़ते ही नहीं थे, पढ़ते थे तो सिर्फ दोष ही दोष देखते थे, जबकि आज के पुराने लेखक नयों को भी पढ़ रहे हैं। तब की अपेक्षा अब नए और पुराने लेखकों के बीच सद्भाव कहीं ज्यादा है। □

हिंदी कविता के उत्तर कबीर

केदारनाथ सिंह

लेखक शब्दों पर विश्वास करना सीखें

कविता अपना क्षेत्र नहीं है तो कवियों से उस तरह की अंतरगता भी कभी स्थापित नहीं हो सकी, पर बिरादरी तो एक ही है और बिरादरी से भला कोई कब तक और कहां तक बचा रह सकता है। अरसे बाद केदारजी का दूसरा कविता संग्रह 'जमीन पक रही है' प्रकाशित हुआ था। संयोग से उसी प्रकाशक ने मेरा पहला कहानी संग्रह 'कलम हुए हाथ' भी उन्हीं दिनों छापा था। वहीं से केदारजी ने मेरी किताब लेकर पढ़ी और शिमला की एक गोष्ठी में मित्रों से उन कहानियों की तारीफ की। मित्रों ने बताया था और फिर एक दिन प्रकाशक, हरीशचंद शर्मा के घर केदारजी से मुलाकात हुई और पहली ही मुलाकात में मेरी कहानियों की ग्रामीण संवदेना पर कुछ शब्द उन्होंने कहे थे। केदारजी की आत्मीयता ने मुझे मोह लिया था, कितने निश्छल और आत्मीय लगे थे वे। वह शायद उनकी ग्रामीण संवेदना ही है, जो बातचीत, भाषा और व्यवहार में कितनी तो अपनी-अपनी जैसी लगती है। हम लोगों ने शिमला से 'शिखर' निकाली, उनसे कविताए मांगी तो उन्होंने सहर्ष अपनी कविताए हमें दीं। बलिया जनपद के चकिया गांव में 1934 में जन्मे केदारनाथ सिंह के 'जमीन पक रही है', 'अकाल मे सारस', 'यहां से देखो' तथा 'उत्तर कबीर' जैसे कविता संग्रह चर्चित रहे हैं, जिसके लिए उन्हें कुमारन आशान कविता पुरस्कार के अलावा साहित्य अकादमी पुरस्कार से भी नवाजा गया। हिंदी अकादमी के सम्मान के अलावा दयावती मोदी कवि शेखर सम्मान भी उन्हें मिला है।

आपकी पहली रचना कब, कैसे और कहां छपी? तब आपकी उम्र क्या थी? उन दिनों आप क्या करते थे?

स्मृतियों को बहुत कुरेदने पर जो कुछ याद कर पाता हूं, वह बहुत साफ

नही है, पर इतना स्पष्ट तौर पर याद आ रहा है कि बनारस के जिस कॉलेज मे पढता था, उसकी वार्षिक पत्रिका में मेरी पहली रचना छपी, 1948 में, जब मै पंद्रह वर्षीय छात्र था, नवी क्लास का, लेकिन प्रकाशन का पहला रोमांच तब हुआ, जब मेरा गीत बनारस से छपनेवाली पत्रिका 'समाज' में छपा, जिसके संपादकों में एक थे त्रिलोचन शास्त्री। त्रिलोचनजी ने मेरी पहली रचना तो छापी ही, बाद में भी निरतर साहित्यिक परामर्शदाता और गुरु का काम करते रहे। उन दिनों मैने अपना एक उपनाम भी रख छोडा था, जिसे त्रिलोचनजी के कहने पर छोड़ दिया। गीत से मुक्त छद की ओर आने की प्रेरणा भी उन्ही से मिली। लगभग उन्ही दिनो बनारस में शंभूनाथ सिंह और नामवर सिंह से मेरा परिचय हुआ था, जो एक नए साहित्यिक माहौल के निर्माण में सक्रिय साझेदार थे।

उन दिनों का माहौल नए लेखन के संदर्भ में कैसा था? नए लेखकों के साथ वरिष्ठ लेखक कैसा व्यवहार करते थे?

आज नवलेखन के संदर्भ में परिस्थितियां ठीक वही नहीं हैं। उस समय तक साहित्य मे आने से पहले एक बुनियादी साहित्यिक अनुशासन से गुजरना जरूरी था और वरिष्ठ लेखक इस संदर्भ में नए लेखकों की सहायता करते थे। आज ऐसा नहीं लगता। खासतौर से कविता के क्षेत्र में देखें तो काव्य शास्त्र या छद की बुनियादी जानकारी के विना भी एक नया कवि कोरी स्लेट पर लिखना शुरू कर सकता है। उस समय ऐसा नहीं था। तब परंपरा के भीतर एक पूर्वापर सबध बनता था। उन दिनों उसके प्रति एक खास तरह की जागरूकता थी, आज मुझे ऐसा नहीं लगता।

नए लेखकों को कोई सलाह देना चाहेंगे?

जहां तक सलाह की बात है, इस उम्र में भी अपने को नए लेखकों के साथ मानता हू। इसलिए उन्हें अलग से कोई सलाह देने या खतरो से आगाह करने का सवाल ही नहीं उठता, क्योंकि व्यापक धरातल पर उनके खतरे हमारे खतरे भी हैं। फिर भी, नए लेखकों से कहना चाहूगा कि शब्द पर विश्वास करना सीखे। शब्द पर विश्वास करना एक लेखक का पहला और शायद अन्तिम धर्म होता है।

आधुनिकता और गंवई संवदेना में तालमेल हो सकता है क्या?

क्यों नहीं, आधुनिक भाव, भाषा और मुहावरे में गंवई संवेदना को व्यक्त करने में मुझे कोई दिक्कत पेश नहीं आती। इसके विपरीत मुझे तो ऐसा लगता है कि आज की गंवई जिंदगी में जो जटिलता आ गई है, उसे व्यक्त करने के लिए आधुनिक शिल्प ज्यादा कारगर हो सकता है। □

कामतानाथ

तब पाठ्यक्रम में हिंदी होती ही नहीं थी

22 सिंतबर, 1935 में लखनऊ में जन्मे कामतानाथ को ट्रेड यूनियन के सिलसिले मे जेल हो गई थी। उन्हीं दिनों की जीवंत यादगार है उनका पहला उपन्यास 'एक और हिंदुस्तान'। 'सुबह होने तक', 'समुद्र तट पर खुलनेवाली खिडकी', 'तुम्हारे नाम' तथा 'काल कथा' उनके अन्य उपन्यास और 'छुट्टियां', 'तीसरी सास', 'सब ठीक हो जाएगा', 'शिकस्त' तथा 'रिश्ते-नाते' कथा सग्रह हैं। रूसी भाषा में हिदी की प्रतिनिधि कहानियों के संकलन 'दुनिया बहुत बडी है' में उनकी कहानी 'छुट्टियां' शामिल की गई थी। कानपुर में उन दिनों (1976) कामतानाथ से अक्सर भेंटें हो जाया करती थीं, लेकिन एक दिन उनसे भेंटवार्ता करने को कहा गया तो उनके घर पहुंच गया। लाल रंग के पर्दे को दरवाजे से परे कर उनके ड्राइग रूम में दाखिल हुआ तो वे वहां से नदारद थे। कुछ पल वहीं खडा रहा और फिर सुनाई पड़ा, ''इधर ही आ जाओ बलराम।'' वे कहां से आवाज दे रहे है, मुझे मालूम था और बिना किसी हिचकिचाहट के अंदर वाले कमरे में पहुच गया। कुशल-क्षेम के बाद मैंने पूछ लिया।

मित्रों के बीच चर्चा है कि किसी फिल्म डायरेक्टर से कांट्रेक्ट कर चुके हैं और जल्दी ही रिजर्व बैंक की नौकरी छोड़कर बांबे जाने वाले है। डायरेक्टर से आपने कुछ एडवांस भी ले लिया है?

नहीं यार, ये सब अफवाहें हैं। ऐसा कांट्रेक्ट मैंने किसी से नहीं किया है। हा, विनय शुक्ला 'एक और हिंदुस्तान' पर फिल्म बनाना चाहते थे, पर फिल्म वित्त निगम से पैसा मंजूर नहीं हुआ। बांबे टीवी से 'अत्येष्टि' पर फिल्म बनने की खबर जरूर कहीं छपी थी। एकाध प्रकाशक ने जरूर उपन्यास के लिए थोड़ा पैसा एडवांस दे रखा है ताकि नया उपन्यास किसी और को न दे दूं।

रिजर्व बैंक की नौकरी से पहले आपने बेकारी भी झेली?

तब इतनी बेकारी नही थी। फिर भी, कुछ दिन बेकार रहा, पर वह शायद

बेकारी नहीं थी। नवंबर, 1960 में रिजर्व बैंक में नौकरी लगने से पहले मैंने तीन महीने तक बिलग्राम इंटर कॉलेज में अध्यापकी की थी।

सुना है, आपने पाठ्यक्रम में हिंदी कभी नहीं पढ़ी?

पढने का सवाल ही नहीं था। उर्दू थी, फारसी थी और फिर आगे मैने अग्रेजी में एम.ए. किया। हिंदी उन दिनों पाठ्यक्रम में थी ही नहीं। हाई स्कूल के दिनो में मैने लिखना भी अग्रेजी में ही शुरू किया था।

छपना कब शुरू हुए?

छपना तो बहुत बाद में शुरू हुआ। छपने की बात सोची ही नहीं थी। यो समझ लीजिए कि सोचता ही नहीं था कि मैं भी कभी छप सकता हूं।

फिर कैसे छपे?

मेरे एक मित्र थे गिरधारीलाल पाहवा, उन्होंने ही मेरी कहानी टाइप करवाई और 'स्वतंत्र भारत' में छपने को भेज दी और वह कहानी 'मेहमान' 1961 मे स्वतंत्र भारत' में छप गई और तभी से मैंने गंभीरता से कहानी लिखना शुरू कर दिया। फिर 'कहानी' पत्रिका में एक कहानी 'स्वर्गवास' छप गई। उसके बाद 'सारिका' के दिसबर, 1961 के अंक में 'देवी का आगमन' छपी। इसके बाद उस समय की अच्छी पत्रिकाओं 'माया', 'रेखा' और 'आदर्श' आदि में मेरी कहानिया छपने लगीं।

उपन्यास 'समुद्र तट पर खुलनेवाली खिड़की' कैसे और क्यों लिखा?

अपने एक मित्र के साथ पुरी गया था। वहां की तमाम बातें मन को कचोट गई। तभी एक दिन घर के सब लोग कुछ दिन के लिए बाहर चले गए। घर पर मै अकेला रह गया। घर में ताला कोई था नहीं। सो, मै घर छोड़कर कही जा भी नहीं सकता था। जा सकता था तो सिर्फ चौराहे तक, पान-वान खाने। फिर तो मैं बैठ गया कागज-कलम लेकर और तीन दिन में इस उपन्यास को पूरा कर डाला। बाद मे थोड़ी-बहुत काट-पीट की और फिर वह छप गया।

कुछ लोग मान्यता न मिलने पर कुंठाग्रस्त होकर स्थापितों को गालिया देना शुरू कर देते हैं?

दरअसल वे लोग बिना किसी आइडियोलॉजी के उल्टा-सीधा, ऊलजलूल लिखते रहते हैं और चाहते हैं कि प्रेमचंद या गोर्की मान लिये जाएं, जोकि होता नहीं है और वे कुंठाग्रस्त होकर भटक जाते हैं।

कहते हुए कामताजी ने आई हुई चाय सामने कर दी तो हमारी वार्ता जहां की तहां रुक गई। सोचा था कि किसी दिन इत्मीनान से और बाते करूंगा, लेकिन वे बातें फिर नहीं हो सकीं, अब तक...... □